Sarraf Foundation Chennai an

ALOCHINA HINDI

Kul Rangri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
२५
वि ३७४१
अनु - २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Ha

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ACC N
49432
49433
179556

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

R
८४
दि ३७ आ
सं-22

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
GULZAR BOOKS

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Stock Verification-2

स्टाक सत्यापीकरण १९८४-१९८५

Stock Verification-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

CHECKED 1973

आलोचना

079556

079556

और साहित्य	सम्पादकीय
विता : प्रयोग की समस्या	डॉ० शम्भूनाथ सिंह
विकास-बोध के चार आयाम	राजेन्द्रप्रसाद सिंह
काव्यशास्त्र का मूल और औचित्य	डॉ० सूर्यकान्त
साहित्य-सृजन और आलोचना-सिद्धान्त	डॉ० रमेश कुन्तलमेघ
नया उपन्यास	डॉ० रामरतन भटनागर
कवि और सामाजिक दायित्व	डॉ० प्रेमशंकर, मालार विन्दम् चतुर्वेदी

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ६ अंक २ पूर्णाङ्क २२ अप्रैल, १९५७

वार्षिक मूल्य १५) एक अंक का ४)

अनुक्रमणी

● सम्पादकीय

—समाज और साहित्य १

● निबन्ध

—नई कविता : प्रयोग की समस्या

डॉ० शम्भूनाथ सिंह ९

—नवीन विकास-बोध के चार आयाम

राजेन्द्रप्रसाद सिंह २५

—काव्य-शास्त्र का मूल और औचित्य

डॉ० सूर्यकान्त ३७

—साहित्य-सृजन और आलोचना-सिद्धान्त

डॉ० रमेश कुन्तलमेघ ५५

—नया उपन्यास

डॉ० रामरतन भटनागर ६२

अध्ययन : भारतीय लेखक

—नागार्जुन : जीवन और कृतित्व

प्रो० बेचन एम० ए० .... ७६

● प्रस्तुत प्रश्न

—कवि और सामाजिक दायित्व

मालार विन्दम् चतुर्वेदी ८४

डॉ० प्रेमशंकर ८८

● मूल्यांकन

—'बौद्ध-धर्म दर्शन' और 'शैव मत'

डॉ० राजबली पाण्डे ९८

—सूफी मत एवं सूफी साहित्य का अध्ययन

परशुराम चतुर्वेदी १०३

—जयवर्धन

डॉ० रामरतन भटनागर ११२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५०७, ५३२

आलोचना

प्रस्तुत मंगाया पुस्तक
पुस्तक सं. R
मासत
तिथि दि ३७आ
अ २२

सम्पादकीय

समाज और साहित्य

समाज और साहित्य-जैसे विषय पर लिखने की आवश्यकता इसलिए आती है कि आये दिन साहित्य के स्वरूप और उसके आदर्श को लेकर अनेक प्रकार के अधूरे और अटपटे विचार प्रकट किये जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यकार के 'स्वातन्त्र्य' का ज़ोर-शोर से एलान किया जाता है, मानो उस स्वातन्त्र्य पर कोई बड़ा संकट आ पड़ा है या आने वाला है। जहाँ तक अपने देश की गतिविधि है, लेखकों के स्वातन्त्र्य पर न तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध है और न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आशंका है। यदि यह कहा जाय कि अपने देश में न सही, दूसरे कुछ देशों में लेखक के स्वातन्त्र्य की समस्या महत्त्व रखती है, और इसलिए हम यहाँ अभी से सतर्क रहना चाहते हैं; तो यह बात भी अधिक प्रासंगिक नहीं है। हम देखते हैं कि स्वातन्त्र्य की नई पुकार साहित्य की सीमा में कुछ ऐसे तथ्यों को रखने के लिए की जा रही है जो अतिशय असामाजिक होने के कारण बहुजन-समाज में स्वीकृत नहीं हैं। स्वीकृत न होने पर भी यदि वे तथ्य उपयोगी या आवश्यक प्रमाणित किये जा सकें, तो भी एक बात है। परन्तु जिस दिशा से यह स्वातन्त्र्य की आवाज उठी है, वहाँ आवश्यकता और उपयोग, जैसे तथ्यों का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ तो जो कुछ चाहें उसे कहने और लिखने के स्वातन्त्र्य की ही माँग है। प्रत्येक स्वातन्त्र्य के साथ उतनी ही मात्रा में दायित्व की भावना रहा करती है। पर यह नया स्वातन्त्र्य दायित्व की भावना से नितान्त अछूता है। हम मानते हैं कि प्रत्येक लेखक समाज और साहित्य के सम्बन्ध में खरे, विरोधी और व्यंग्यात्मक विचार भी रख सकता है और उन्हें व्यक्त करने का अधिकार भी रखता है। पर इस स्थिति में समाज की बुराइयों, वैषम्यों और अन्यायों का वस्तुचित्र लेखक के सामने रहना ही चाहिए, जिन्हें वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता और सामर्थ्य द्वारा साहित्य में व्यक्त करे। पर जिस स्थिति में सामाजिक वस्तु का—चाहे वह भली हो या बुरी—नितान्त अभाव हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लेखक सामाजिक जीवन से निरा निरपेक्ष होकर कुण्ठावश आत्मकेन्द्रित हो जाय और उन कुण्ठित भावनाओं और उद्गारों का समाज में प्रदर्शन करने लगे, तब किसी भी समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति ऐसे लेखक के इस अनुचित और अनैतिक कार्य पर आक्षेप कर सकते हैं। जिस प्रकार लेखक अपने लिए स्वातन्त्र्य चाहता है, उसी प्रकार समाज भी अपने लिए उक्त स्वातन्त्र्य से रक्षा पाने की माँग कर सकता है; और ऐसी माँग को कोई भी न्याय अस्वीकार नहीं करेगा।

ऊपर हमने लेखक के स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी जिस नई हलचल की चर्चा की है, उससे मिलती-जुलती दूसरी प्रकार की हलचलें भी आज के साहित्य-क्षेत्र में पाई जाती हैं। आस्था और अनास्था, रूढ़ि और मौलिकता अथवा नवीन और प्राचीन-जैसे शब्दों को लेकर भी कुछ इसी प्रकार की चर्चाएँ चल रही हैं। इन चर्चाओं में सबसे विलक्षण बात यह देखी जाती है कि इनमें वस्तुगत परिस्थितियों का कहीं उल्लेख नहीं किया जाता। केवल कुछ शब्दों का सहारा लेकर बहुत-कुछ बेपहचानी और बेमानी वस्तुओं का विज्ञापन किया जाता है, जिनसे यह भी पता नहीं लग पाता कि आखिर ये लेखक चाहते क्या हैं? यदि किसी वस्तु की माँग की जाती है तो उसका स्वरूप स्पष्ट शब्दों में अंकित करना चाहिए; पर कठिनाई यह है कि ये लेखक इस बात का पता नहीं देते कि वे चाहते क्या हैं। कभी-कभी तो हम यह भी नहीं समझ पाते कि वे कह क्या रहे हैं। दूसरे शब्दों में नई कृतियाँ और नये वक्तव्य न केवल अपने आपको अचीन्हा बनाते हैं, बल्कि शब्दों और अर्थों का भी अटपटा उपयोग करते हैं।

आस्था और अनास्था के प्रश्न को ही लीजिए। आस्था का सम्बन्ध किसी वस्तु से ही हो सकता है, इसी प्रकार अनास्था भी किसी वस्तु के ही प्रति हो सकती है। जहाँ तक आस्था और अनास्था का सम्बन्ध वस्तु के साथ रहा करता है, हम उसे भली भाँति समझ और पहचान सकते हैं। पर इसके आगे चलकर आस्था और अनास्था केवल एक प्रवृत्ति या मनोभावना के रूप में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में आस्था के औचित्य अथवा अनास्था के अनौचित्य को जानने और समझने का कोई साधन नहीं रह जाता। कुछ नए लेखक प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि वे आस्थावान हैं, आशा को छोड़ नहीं बैठे हैं। जब तक उनका यह आस्था और अनास्था-सम्बन्धी विवेचन केवल कथन की सीमा पर रहता है और वस्तु-तथ्य के उल्लेख द्वारा उसे वास्तविकता नहीं दी जाती, तब तक किसी कवि या लेखक के आस्थावान या अनास्था-वान होने का प्रश्न कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। सारी स्थिति को देखने पर मूलवर्ती तथ्य यह दिखाई देता है कि जो लेखक वस्तुतः असामाजिक और व्यक्तिमुखी होते जा रहे हैं, वे ही अधिकतर लेखक के स्वातन्त्र्य और उसकी आस्था-जैसे प्रश्नों को उठाया करते हैं और इस प्रकार वे 'कथन में कुछ और और कार्य में कुछ और' का आभास देकर अपनी स्थिति को और भी संदिग्ध बना लेते हैं। सारा प्रश्न लेखक के व्यक्तित्व, उसके विचार, उसकी कार्य-प्रणाली और क्रिया-कलाप का रह जाता है। जब तक आज के नवीन लेखक सामाजिक जीवन में ओत-प्रोत न होकर केवल दूर से ही साहित्यिक कर्त्तव्य की पूर्ति करते रहेंगे, तब तक उनकी रचनाएँ एक आन्तरिक असंगति से ग्रस्त रहेंगी और उनकी कृतियाँ रक्तहीन शरीर की भाँति किसी के काम न आ सकेंगी।

इस लेख के सन्दर्भ में यहाँ हमें विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट करने के उद्देश्य से 'साहित्य' और 'समाज' दोनों शब्दों की व्याख्या करनी है। साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दिशा में ले जाने का प्रबल सामर्थ्य रखती हैं। यों, सामयिक साहित्य अनेक उद्देश्यों से लिखा जाता है। बहुत-सी वस्तुएँ केवल मनोरंजन या सामान्य जानकारी की भूमि पर रहा करती हैं। उनसे भी अधिक वस्तुएँ समाज में पाई जाने वाली हल्की भावनाओं की तृप्ति करती हैं। परन्तु जिस साहित्य की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, वह समाज की सर्वाधिक सजग और शक्तिशाली चेतना को प्रभावित करने वाला होता है। जो लेखक इस प्रकार के साहित्य के सृजन का लक्ष्य नहीं रखते, उनसे इस लेख का सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जो लेखक सामाजिक जीवन की सर्वश्रेष्ठ चेतना को गहराई में स्पर्श करके उसे प्रभावित करने का ध्येय रखते हैं, उनसे इस लेख का सम्बन्ध है। जिस प्रकार साहित्य की अनेक भूमियाँ और दिशा-विभाग हैं, उसी प्रकार समाज और सामाजिक जीवन के भी अनेक भावस्तर हैं। यहाँ हम समाज के उस अतिशय महत्त्वपूर्ण और गम्भीर भावस्तर की चर्चा कर रहे हैं जो राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का सारभूत अंश है। समाज के सामान्य जीवन के प्रसंग अथवा गतिविधियाँ अपना स्थान रखती हैं, परन्तु जिसमें सामाजिक जीवन को बनाने या बिगाड़ने की तीव्र शक्ति निहित है, हमारा प्रयोजन उसी विशिष्ट सामाजिक वस्तुसत्ता से है। हम इस निबन्ध में साहित्य के सर्वोच्च और सबसे अधिक शक्तिशाली तथा सारवान अंश का सम्बन्ध समाज के तदनुरूप मूल्यवान और शक्तिशाली अंश से देखना चाहते हैं। साहित्य के सर्वोत्तम अंश के कुछ उपकरण ऐसे हैं जो सदैव उसमें रहते हैं, किन्तु कुछ अंश ऐसे भी हैं जो गत्यात्मक हैं और समय-समय पर आविर्भूत और संचरित होते हैं। इस प्रकार समाज और सामाजिक जीवन के श्रेष्ठ आदर्श स्थायी भी हैं और परिवर्तनशील भी। कुछ आदर्शों के सम्बन्ध में हमें कभी द्विविधा नहीं होती और कुछ आदर्श नये सामाजिक परिवेशों में नया रूप और आकार ग्रहण करके आते-जाते रहते हैं। साहित्य के इस स्थायी और गतिमान रूप के साथ समाज के भी स्थायी और गतिमान आदर्शों को मिलाकर देखने पर ही साहित्य और समाज-सम्बन्धी विवेचन सार्थक होगा।

इस अन्तिम बात को हम एक उदाहरण लेकर स्पष्ट करना चाहते हैं। हिन्दी-साहित्य जब द्विवेदी-युग को पार करके नये युग में प्रविष्ट हुआ, तब साहित्य और समाज के रूपों और आदर्शों में नये परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे। द्विवेदी-युग के साहित्यिक और सामाजिक आदर्श उपयोगितावादी और सुधारवादी रहे हैं, स्वभावतः इन आदर्शों में सामाजिक पक्ष की प्रमुखता रही है। उसके पश्चात् आने वाले युग में क्रान्तिकारी व्यक्तिगत भावना और वैयक्तिक आदर्श का उत्कर्ष देखा गया। यदि केवल इतने आधार पर कोई यह कहने लगे कि द्विवेदी-युग का काव्य सामाजिक चेतना से सम्पन्न है, जब कि परवर्ती काव्य व्यक्तिमुखी और आत्मगत है, तो ऐसा कहना वास्तविकता से बहुत दूर होगा। इस कथन में द्विवेदी-युग के सामाजिक आदर्शों और परवर्ती युग की वैयक्तिक भावना-भूमि की तुलना किसी सम्यक् धरातल पर नहीं की जा रही। यदि कोई समीक्षक इन सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों की भिन्नता देखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहने लगे कि गुप्त जी का काव्य सामाजिक होने के कारण अधिक उदात्त है और प्रसाद का काव्य उनकी वैयक्तिक चेतना से सम्पन्न होने के कारण वैसा नहीं है, तो इस विवेचन में न तो साहित्यिक आदर्श की स्थापना हो सकेगी और न सामाजिक जीवन की वास्तविकता ही समझी जा सकेगी। स्पष्ट है कि यहाँ हम साहित्य और जीवन के स्थायी और गतिशील रूपों एवं सम्बन्धों को समझने में असमर्थ हैं। यह ऊपरी विवेचना भ्रान्तिमूलक होगी। साहित्यिक और सामाजिक तथ्य की गहराई में जाने पर यह स्पष्ट होगा कि प्रसाद के काव्य में सामाजिक जीवन के अधिक मूल्यवान और गम्भीर तत्त्वों का आकलन हुआ है; इसलिए उनका काव्य न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। समीक्षक का कार्य यह है कि वह साहित्य और समाज के इन स्थिर और गतिशील सम्बन्धों के आकलन द्वारा किसी रचना का मूल्य निर्धारित करे।

पूछा जा सकता है कि साहित्य और समाज के बीच में वे स्थिर और गत्यात्मक सम्बन्ध क्या हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गई, और उन सम्बन्धों की गहराई से क्या आशय है तथा उस गहराई की पहचान क्या होगी? प्रसाद के 'कामायनी' काव्य को सम्मुख रखकर ही हम इस प्रश्न का उत्तर देंगे। 'कामायनी' में नारी और पुरुष की संघर्षमयी जीवन-कथा कही गई है, जिसमें सुख और दुःख की चरम स्थितियाँ आती हैं और काव्य उन स्थितियों से परिचालित होकर दोनों दिशाओं में दूर तक पींगें भरता है। यह काव्य की भावात्मक स्थिति है जो सुख और दुःख की गहराइयों में जाने के कारण अतिशय उदात्त हो उठी है। परन्तु सुख और दुःख के ये गहरे झोंके हम जिस काव्य में अनुभव करते हैं, वह एक सुन्दर हिंडोले की भाँति एक मजबूत डाल में एक मजबूत रस्सी से बँधा हुआ है। वह मजबूत रस्सी बौद्धिक या दार्शनिक चेतना की रस्सी है, जिसमें बँधे होने के कारण यह काव्य इतने गहरे और ऊँचे झोंके दे पाया है। और यह दार्शनिक चेतना की रस्सी जिस मजबूत डाल से बँधी हुई है, वह नैतिक संवेदना की डाल है। प्रसाद के 'कामायनी' काव्य की नैतिक भूमिका कितनी सुदृढ़ है, यह इतने से ही जान सकते हैं कि इस काव्य की नायिका 'कामायनी' नैतिक तत्त्व की ही प्रतिनिधि है। ऊपर के इस संक्षिप्त विश्लेषण से हम यह समझ सकते हैं कि श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रातिभ तत्त्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्त्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्त्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनों तत्त्व गहरे अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्त्वों के दुहरे रूपों से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगढ़ चेतना में इन तीनों तत्त्वों का समावेश रहता है।

समाज और साहित्य के इस अनिवार्य सम्बन्ध को समझने के लिए यदि हम इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करें तो देखेंगे कि प्राचीन साहित्य युग-विशेष के सर्व-श्रेष्ठ सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधि रहा है। कला की सृष्टि ही सामाजिक जीवन के सौन्दर्य से प्रभावित होकर हुई है। प्राचीन कवि और कलाकार असाधारण महत्त्व के व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होकर अपनी रचना में प्रवृत्त हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'होमर' के काव्य को ग्रीक-समाज काव्य-ग्रन्थ तो मानता ही था, उसे धर्म-ग्रन्थ और नीति और आचार का आदर्श भी मानता रहा है। ग्रीक-समाज अपने सम्पूर्ण जीवनादर्श 'इलियड' महाकाव्य में प्राप्त कर सका था। इसी प्रकार वाल्मीकि के काव्य में भारतीय समाज के सम्पूर्ण आदर्श निहित हुए हैं। हम मानते हैं कि उस समाज में और आज के समाज में भिन्नता है; फिर भी वाल्मीकि के काव्य को पढ़कर आज भी हमें उन मूल्यवान सामाजिक आदर्शों का बोध होता है जिन्हें हम अपनी चिरन्तन सम्पत्ति मानते हैं। वाल्मीकि के काव्य में तत्कालीन समाज की छाया के साथ मानव-जीवन के कतिपय स्थायी आदर्शों का प्रभावशाली आलेख भी है। यही साहित्य की युग-सापेक्षता और युग-निरपेक्षता है। समाज बदलता है, सामाजिक आदर्श बदलते हैं परन्तु कतिपय मूलभूत जीवन-तथ्यों में परिवर्तन नहीं आता। इन्हीं मूलभूत-जीवन-तथ्यों को हम मानवतावाद अथवा मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की स्थायी देन कह सकते हैं। काव्य श्रेष्ठत्व का प्रमुख उपादान उसमें निहित यही मानवतावाद है। भारतीय आचार्यों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य और साहित्य को 'रसात्मक' कहा है। 'रस' शब्द से भी उनका आशय उसी मौलिक और मूल्यवान मानव-भावना से है, जिसकी श्रेष्ठ काव्यों में सृष्टि होती है। जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस-शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है।

साहित्य की विविध ऐतिहासिक सरणियों को पार करते हुए जब हम वर्तमान समय पर पहुँचते हैं तब अपने चारों ओर नित्य नई साहित्यिक कृतियों और सामाजिक जीवन की नाना गतिविधियों को देखते हैं। इस निरन्तर बढ़ती हुई विविधता और अनेकरूपता से सहमकर हम कभी-कभी असमंजस में पड़ सकते हैं। परन्तु यदि हम अपनी ऐतिहासिक चेतना का प्रयोग करें तो देखेंगे कि इस असंख्य और अशेष विविधता में एक अन्तर्निहित एकता भी होनी चाहिए। वह एकता, जो समाज में मानवतावादी अनुभूति की एकता है तथा जो साहित्य में रस की एकता है। आज की साहित्यिक और सामाजिक अनिश्चयात्मकता में हमें अपनी ऐतिहासिक चेतना का प्रयोग करना ही होगा। आज साहित्यिक और सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के वाद और विचारधाराएँ प्रचलित हो रही हैं। ज्ञान के विस्तार के साथ नाना वादों का उत्पन्न होना स्वाभाविक भी है। विविध सामाजिक दर्शन अपनी स्वतन्त्र स्थापना पर बल देते हैं। विविध विज्ञान अपने आविष्कारों का आग्रह रखते हैं। ऐसी स्थिति में हमें सामाजिक जीवन के उन मूलभूत तथ्यों को समझने का प्रयत्न करना होगा जो आज के साहित्य पर प्रभाव डाल रहे हैं। तभी हम यह जान सकेंगे कि आज के साहित्य और आज के समाज में किस प्रकार का सम्बन्ध है।

राजनीतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करते ही हमारे देश में कई ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं, जिन्होंने कुछ समय के लिए राष्ट्रीय विकास को स्थगित और अवरुद्ध कर दिया। उनमें से एक विस्थापितों की समस्या थी। दूसरी दुर्घटना इससे भी कहीं अधिक महान् थी, राष्ट्रपिता गांधी जी के निधन की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्थापितों का प्रश्न तो समय पाकर हल हो गया—यद्यपि अब भी उसके अवशेष मिटे नहीं हैं; परन्तु गांधीजी के निधन से हमारे राष्ट्र का जीवन ही अन्धकार में पड़ गया। उनका व्यक्तित्व हमारे राष्ट्रीय चारित्र्य का प्रतीक था। उनकी प्रेरणा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को आन्दोलित करती थी। उनके न रहने पर सबसे बड़ी क्षति जो हमें उठानी पड़ी, राष्ट्रीय नैतिक-चेतना के ह्रास की है। कोई ऐसा आलोक-केन्द्र नहीं रह गया था जो हमें नैतिक दिशा-निर्देश कर सकता। राज-सत्ता और जन-समाज के बीच सम्बन्ध-सूत्र शिथिल होने लगे। राज-सत्ता अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित होती गई, सरकारी विभागों की संख्या बढ़ती रही और सरकारी माध्यम से ही जन-समाज से सम्पर्क स्थापित किया जाने लगा। तीसरी क्षति यह हुई कि देश के लिए अत्यावश्यक राष्ट्रीय ऐक्य का भाव क्षीण होने लगा; एक वर्ग की चेतना दूसरे वर्ग या वर्गों की चेतना से विच्छिन्न होने लगी।

हम यह नहीं कहते कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति की वही संघर्षात्मक पद्धति चलती रहती और शासन-सत्ता और जन-समाज के बीच मतभेद और अविश्वास का वातावरण बना रहता, बल्कि इसके विपरीत हम यह कह रहे हैं कि राज-सत्ता और जनता के बीच इस समय अधिक गहरे और आत्मीय सम्बन्धों की आवश्यकता थी। इन आत्मीय सम्बन्धों के अभाव में वर्तमान शासन की अनेक प्रगतिशील नीतियाँ भी आज उचित रीति से ग्रहण नहीं की जा रहीं। उदाहरण के लिए, अर्थनीति के क्षेत्र में आत्मनिर्भर राज्य का आदर्श अपनाकर शासन द्वारा समाज में आर्थिक समानता लाने की दिशा में जो उद्योग किये गए हैं उनका जैसा स्वागत होना चाहिए था, नहीं हुआ। हम देखते हैं कि समाज के किसी वर्ग में इस अर्थनीति के प्रति सन्तोष नहीं है। लोग नये आर्थिक साँचे के अनुरूप अपने को ढाल रहे हैं, नये 'यथार्थ' की अधिक अभिज्ञता उन्हें है, पर इस परिवर्तन के प्रति सार्वजनिक प्रतिक्रिया असन्तोष से रिक्त नहीं है। इसी प्रकार शासन द्वारा संचालित प्रथम और द्वितीय पंचवार्षिक योजनाएँ भी समाज में नये उत्साह की सृष्टि करने में उतनी सफल नहीं हुईं, जितना अपेक्षित था। हिन्दी के नये साहित्य में इन विशाल कार्यक्रमों को लेकर उचित परिमाण में, और उचित प्रतिक्रियाओं से समन्वित सृष्टियाँ नहीं हो रहीं। कुल मिलाकर हम अपने राष्ट्रीय परिवेश की उपेक्षा ही कर रहे हैं।

ऊपर के सामाजिक परिपार्श्व में हम यह देख सकते हैं कि समाज में किस प्रकार की विचार-धाराएँ प्रचलित हैं और साहित्य में स्थान पा रही हैं?—एक शब्द में आज की विचार-धारा यथार्थवादी कही जाती है; परन्तु इस विचार-धारा की कोई निर्धारित दिशा या गति नहीं है। हिन्दी-साहित्य में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण समाज के यथातथ्य चित्रण और सामाजिक स्थिति के व्यंग्यात्मक प्रदर्शन में दिखाई देता है। लेखक जिन चरित्रों को चित्रित करते हैं उनमें सामाजिक सहानुभूति की कमी या अभाव रहता है। उनका जीवन व्यक्तिनिष्ठ और अभावग्रस्त प्रदर्शित किया जाता है। उनमें किसी प्रकार की नैतिक शक्ति, कर्तव्यशीलता और उदारता का परिचय देना यथार्थवाद की व्यंग्यात्मक शैली के लिए वर्जित है। उपन्यासों और नाटकों के इस यथातथ्यवाद के अनुरूप अथवा उससे भी आगे बढ़कर कविता में नकारात्मक प्रतिक्रियाओं की भरमार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारात्मक प्रतिक्रिया से हमारा आशय समाज और सामाजिक जीवन के प्रति लेखक की अनास्था से है। ऐसी काव्य-रचनाओं में समाज को अत्याचारी और अपराधी तथा व्यक्ति को नृशंस अपराधों से उत्पीड़ित चित्रित किया जाता है। सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की सद्वृत्ति नहीं है और न किसी सद्वृत्ति की सम्भावना है, यह अनेकानेक रचनाओं की वक्तव्य-वस्तु है।

इससे भिन्न एक दूसरे प्रकार का यथार्थवाद, जिसे प्रकृतिवाद भी कहते हैं, नये साहित्य में प्रचलित है। यह प्रकृतिवाद यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से स्वच्छंदतावादी काव्य-शैली के विरोध में संयमित और तटस्थ चित्रण के दृष्टिकोण को अपनाकर चला था परन्तु इस प्रकृतिवाद की परिणति 'नदी के द्वीप'-जैसी रचनाओं में हुई है, जिसकी वैचारिक भूमि अतिशय व्यक्तिवादी है और जिसके शृंगारिक चित्रण किसी भी स्वच्छंदतावादी (हिन्दी में छायावादी) लेखक की कल्पना के बाहर हैं। कला में संयम, तटस्थता और वैज्ञानिकता का दावा करने वाले प्रकृतिवादी नितान्त वैयक्तिक भावभूमि पर उतर आयँगे और अपने शृंगारिक चित्रणों से हिन्दी-साहित्य की समस्त शालीन परम्परा को मात दे देंगे, यह अपने-आपमें ही एक अनोखा अनुभव है।

नये लेखकों का एक समुदाय, जो सामाजिक यथार्थवाद अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुआ, अपने साहित्य-सृजन में उपर्युक्त दोनों वर्गों की अपेक्षा उदार और सामाजिक चेतनासम्पन्न है। इस वर्ग के लेखकों में यदि कोई कमी रही है तो यही कि विचार की दृष्टि से इनकी कृतियों में एक सुनिश्चित मतवाद का ही अनुसरण किया गया है। कला की दृष्टि से ये कृतियाँ प्रचारात्मक और उपदेशात्मक अधिक हो गई हैं, जिसका अर्थ यह है कि लेखक अपने प्रत्यक्ष और व्यापक अनुभवों की अपेक्षा पुस्तकीय ज्ञान और मतवाद से अधिक परिचालित हुए हैं। परन्तु हम देखते हैं कि यह मतवादी दृष्टिकोण क्रमशः सामाजिक जीवन के वास्तविक अनुभवों द्वारा परिष्कृत होता जा रहा है। यथार्थवाद की एक मूलभूत कमी, जो इसमें अब भी शेष है वह है समाज की नैतिक सत्ता का अनादर। यथार्थवाद के आग्रह से पग-पग पर स्त्री और पुरुष को थोड़े प्रलोभनों में डिगते और नैतिक दृष्टि से अपदस्थ होते दिखाना समाज और संस्कृति के प्रति सम्मानित या उपयोगी दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपनी पिछले महत्त्वपूर्ण वक्तव्य में कहा है कि कोई भी भौतिकवादी दर्शन नैतिक जीवन-चर्या के लिए उचित या सम्यक् आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ है। उनकी यह बात इन यथार्थवादी लेखकों के चित्रणों से प्रमाणित हो जाती है।

एक और यथार्थवाद, जो मनोविज्ञान और मानसिक विश्लेषण के तत्त्व-ज्ञान पर आश्रित है, हिन्दी-साहित्य में प्रचलित हो रहा है। इस तत्त्व-ज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता यह देखी जाती है कि यह अपने-आपको सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की भूमिका पर रखता है और मानव-व्यवहार को समझने के लिए किसी अन्य मानवीय विद्या की आवश्यकता नहीं मानता। नये मनोविज्ञान-शास्त्र के कारण विश्वविद्यालयों तक में दर्शन और नीति-शास्त्र की शाखाएँ उपेक्षित होने लगी हैं। इस नये शास्त्र की सर्वसम्पूर्णता के थोथे दावे ने हिन्दी-साहित्य के कुछ नये लेखकों और समीक्षकों को दिग्मूढ़ बना दिया है। इस तत्त्व-ज्ञान की दूसरी विशेषता मानव की आदि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जात पाशव वृत्तियों को मानवीय व्यक्तित्व के मूल में स्थापित करना है। व्यक्ति का नैतिक और सामाजिक पक्ष केवल एक छद्मवेश है। ऐसे तत्त्व-ज्ञान को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मान लेने पर सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति की सारी सम्भवनाएँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि सामाजिक कर्तव्य के प्रेरक तत्त्व उपेक्षित होने लगते हैं। यह तथाकथित तत्त्व-ज्ञान बहुत अंशों में नियतिवादी भी है, क्योंकि मानव-व्यक्तित्व की स्वतंत्रता या स्वाधीन सत्ता इसमें स्वीकृत नहीं है।

नये साहित्य में प्रचलित इन यथार्थवादी विचार-प्रवाहों का मूल उत्स पश्चिम में है, किन्तु पश्चिमी विचारक यथार्थवाद की इन असंगतियों से परिचित होकर उनसे छुटकारा पाते जा रहे हैं। हमारे कहने का यह आशय कदापि नहीं कि हिन्दी-साहित्य की यह नई धारा हमारी अपनी सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थिति का परिणाम नहीं है, यह केवल पश्चिम का अनुकरण है। पर हमारे कहने का यह आशय अवश्य है कि पश्चिम के चिन्तक सतर्क होकर इन विचार-सरणियों का नये सिरे से निरीक्षण कर रहे हैं, जब कि हम अब भी उन्हें अन्तिम वाक्य मानने की मनःस्थिति में हैं। यदि हम साहित्य-विषयक यूरोप के नोबेल पुरस्कार को पश्चिमी साहित्यिक चेतना का श्रेष्ठ मानदण्ड मानें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की उपेक्षा करने वाले तथा-कथित श्रेष्ठ कलाकार भी इस पुरस्कार से वंचित रह गए हैं। थामस हार्डी-जैसे उच्च-कोटि के अंग्रेज औपन्यासिक भी अपनी दुःख-वादी जीवन-दृष्टि के कारण नोबेल पुरस्कार न पा सके। पिछले वर्षों में साहित्य-विषयक इस पुरस्कार के पाने वालों की सूची देखने पर यह धारणा बनती है कि किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन या कला-पद्धति का पीछा पकड़ने वाले साहित्यिकों की अपेक्षा स्वतन्त्र जीवन-अनुभव और उत्कट जीवन-आस्था से समन्वित साहित्य-स्रष्टा—जिन्होंने अपनी कृतियों में मानव की नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक चेतना को एक-साथ सम्मान दिया है—अधिक सम्मानित हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में भी, ऊपर उल्लेख किये गए सामाजिक परिपार्श्व के रहते हुए, कुछ श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं और की जा रही हैं। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक गतिविधि और वातावरण सदैव संतुलित और प्रेरणाप्रद ही हो। अनेक बार समाज की हीनताएँ भी लेखकों में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करती और श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण में हेतु बनती हैं। आवश्यक इतना ही है कि कलाकार या साहित्यिक की दृष्टि युग की सामाजिक हीनताओं से आक्रान्त और स्खलित न हो गई हो। ऐसे ही अस्खलित-चेता कवि और लेखक स्वप्नदृष्टा कहलाते हैं और अन्धकार में प्रकाश के ज्योतिवाही होते हैं। हमारे साहित्य में ऐसे संकल्पवान लेखकों की कमी नहीं है जो विपरीत सामाजिक परिस्थितियों में नये आलोक की योजना कर रहे हैं। ये लेखक सामाजिक हीनताओं से हार माने हुए नहीं हैं और न इन्होंने आस्था, विश्वास और संघर्ष के क्षेत्र को छोड़कर पलायन की वृत्ति अपनाई है। उनका व्यक्तित्व और उनकी जीवन-दृष्टि सन्तुलित है। ऐसे ही आस्थावान और सन्तुलित जीवन-दृष्टि वाले लेखकों के हाथों में हमारा साहित्य और सामाजिक जीवन सुरक्षित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉ० शम्भूनाथसिंह

नई कविता : प्रयोग की समस्या

'नई कविता' नाम के पीछे एक इतिहास है। सन् १९४३ में जब एक नये प्रकार और नये ढंग की कविताएँ 'अज्ञेय' के सम्पादकत्व में 'तारसप्तक' में प्रकाशित हुईं तो उनके रूप-शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोगों को देखकर तथा 'तारसप्तक' के सम्पादकीय तथा कवियों के वक्तव्यों में 'प्रयोग' शब्द के बार-बार व्यवहार को देखकर हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने इस नई काव्य-धारा का नाम ही 'प्रयोगवाद' रख दिया। इन कवियों में नवीन प्रयोग की प्रवृत्ति अवश्य बड़ी तीव्र थी। इधर कुछ दिनों से इन कवियों ने अपनी कविताओं के साथ 'प्रयोगवादी' विशेषण न लगाकर उन्हें नई कविता कहना प्रारम्भ किया है। इस प्रकार 'नई कविता' या नई कही जाने वाली कविता प्रयोगवाद की ही विरासत है।

प्रयोग वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपने पूर्व की समस्त ग्राह्य परम्परा को स्वीकार करता हुआ भी पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं से अपनी कविता को भिन्न रखता, उसमें नवीनता का पुट देता है। वस्तुतः कोई भी महान् कवि पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न नहीं होता। परम्परा कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार उसमें भी अन्तर्विरोध होता है। उसके भीतर दो तत्त्व होते हैं, एक विकासमान और दूसरा ह्रासशील। परम्परा के इसी ह्रासशील पक्ष का नाम रूढ़ि है। प्रतिक्रियावादी इन्हीं मृत और ह्रासशील रूढ़ियों की रक्षा के लिए परम्परा की दुहाई देते और हर प्रकार की नवीनता का विरोध करते हैं। परम्परा का विकासमान तत्त्व वह है जो परिवर्तित युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप तथा विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण अपने रूप में परिवर्तन करता चलता है। उसका यह रूपान्तर ही उसमें नवीनता का आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः कला या काव्य में नवीनता द्वारा आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही प्रयोग किये जाते हैं। इस प्रकार प्रयोग साधन हैं, साध्य नहीं।

प्रयोग और प्रयोगशील शब्दों का व्यवहार यूरोप में बड़े ही व्यापक अर्थ में; किन्तु कभी-कभी अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में भी, किया जाता है। व्यापक अर्थ में उन सभी प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्नों को, चाहे वे भाव, विचार और अनुभूति के क्षेत्र में नवीनता, ताज़गी, व्यापकता और गहराई लाने के लिए किये जायँ अथवा रूप-शिल्प की परम्परागत पद्धति का परिवर्तन करके नवीन पद्धति चलाने के लिए किए जायँ, प्रयोग कहा जाता है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार केवल रूप-शिल्प में निरुद्देश्य और अनावश्यक नवीनता उत्पन्न करने वाले प्रयत्नों के लिए होता है। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध प्रयोगशील उपन्यासकार फ़िलिप टायनबी ने लिखा है कि यूरोप के कुछ स्थानों में ऐसी पुस्तकें, जिनमें वाक्य सीधे नहीं बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहस-पूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकार की जाती हैं, चाहे उनका वस्तु-तत्त्व बहुप्रयुक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।[१] ये दूसरे प्रकार के प्रयोग निरुद्देश्य होते हैं, उन्हें प्रयोग के लिए प्रयोग कह सकते हैं। यदि यह सिद्धान्त सही है कि कला में वस्तु-तत्त्व और रूप-तत्त्व (भाव और कला पक्ष) अविच्छिन्न और अविभाज्य होते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु-तत्त्व के आग्रह के कारण ही कलात्मक प्रयोग किये जाते हैं। वस्तु-तत्त्व की नवीनता के कारण जब परम्परागत रूप-शिल्प अभिव्यक्ति का समर्थ और सफल माध्यम नहीं रह जाता तो उसे छोड़कर नवीन रूपाकार की योजना करनी पड़ती है। स्पष्ट ही साहित्यिक फ़ैशन के कारण नहीं, बल्कि अपनी आन्तरिक बाध्यता के कारण लेखक इस प्रकार के प्रयोग करता है। जिस प्रयोग के मूल में ऐसी कोई बाध्यता न हो उसे फ़ैशन या सफल प्रयोग का अनुकरण अवश्य मानना चाहिए। ऐसे प्रयोग केवल पाठकों को चौंकाकर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए होते हैं और वे साहित्य के केवल बाह्य रूप से ही सम्बन्ध रखते हैं, उसकी आत्मा से नहीं।

यदि सच पूछा जाय तो साहित्य में सदा से ही निरन्तर प्रयोग होते आए हैं, (यहाँ प्रयोग शब्द का व्यवहार मैं उपर्युक्त व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ।) इतना अवश्य है कि आज के युग में जिस मात्रा में प्रयोग हो रहे हैं और उनके स्वरूप में जितनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो रहा है, उतना और वैसा आज से (मेरा तात्पर्य बीसवीं शताब्दी से है) पहले कभी नहीं होता था। एक दृष्टि से साहित्य का इतिहास ही स्थिर रीतियों (conventions) और स्वच्छन्दता के संघर्ष का इतिहास है। साहित्य बारी-बारी से इन्हीं दोनों पथों पर, अग्रसर होकर विकसित होता आया है। पहला रास्ता निर्माण-कर्ताओं का और दूसरा साहसी विद्रोहियों और पथ के अन्वेषकों का होता है। ये दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। कुछ लोगों में प्रथम प्रवृत्ति प्रबल होती है और कुछ में द्वितीय। यदि इन दोनों प्रवृत्तियों का द्वन्द्व निरन्तर न होता रहता तो साहित्य का विकास ही न होता, और साहित्य अत्यन्त एकरस वस्तु बनकर रह जाता। स्वच्छन्दतावाद परम्परागत रीतियों के विरुद्ध विद्रोह करता है, पर इस विद्रोह की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं; ध्वंसात्मक और निर्माणात्मक। स्वच्छन्दतावादी

१. "A book which is printed upside down or in a particular print can still be aclaimed in some parts of Europe as a bold and interesting experiment, even if its matter is the most hackneyed imitation....."
Philip Toynbee—"Experiment—And the future of the Novel"—London Magazine—May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वंसात्मक इसलिए होता है कि वह प्राचीन मृत रीतियों से ऊब गया रहता है। साथ ही वह निर्माणात्मक भी होता है, क्योंकि उसमें नये रास्तों की खोज करके साहित्य को जीवन्त और सशक्त बनाने की प्रबल कामना होती है। परम्परागत काव्य-रीतियों के विरुद्ध विद्रोह इसलिए किया जाता है कि उनके कारण स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति, जो नवीनता की खोज करती है, बन्धनों में बँधी रहती है। अतः स्वच्छन्दतावादी के लिए प्राचीन काव्य-रूढ़ि, मृत छन्द और तुक, मृत शब्द-योजना, मृत विचार वस्तु आदि को तोड़ना या मोड़ना आवश्यक हो जाता है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आलोचक जान लिविंगस्टन लोवेस के अनुसार जब काव्य-रूढ़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं तो उस समय कवियों के सामने तीन रास्ते होते हैं—(१) या तो वे उन रूढ़ियों को अपनाकर ग्रामोफोन की तरह उन्हें दुहराते जाते हैं, (२) या अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उस मृत और खोखले रूपाकार में नई शक्ति और नया जीवन भर-कर उसका स्वरूप ही परिवर्तित कर देते हैं, (३) अथवा वे विद्रोह करके 'पुराने सिक्कों' को बिलकुल अस्वीकार कर देते और 'नये सिक्कों' का निर्माण स्वयं करने लगते हैं। किन्तु कला के क्षेत्र में क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है। रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके जो नई पद्धतियाँ निर्मित होती हैं वे स्वयं कालान्तर में रूढ़ि बनकर नई पद्धतियों के मार्ग में बाधा देने वाली हो जाती हैं; पहले की स्वतन्त्रता अब संकीर्णता का रूप धारण कर लेती है और नये विद्रोही उसे 'परम्परा का अत्याचार' कहने लगते हैं।[1] इस तरह क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया से साहित्य प्रत्येक युग में अपना अभिनवीकरण करता चलता है। अंग्रेज़ी के एक नये आलोचक डॉ० एच० वी० रुथ ने अंग्रेज़ी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के बाद होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखकर काव्य के मूल में निहित आश्चर्य-तत्त्व को आवश्यक बताया है। उनके अनुसार **"कला को सदैव नवीन स्वरूप देते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव आश्चर्य-तत्त्व पर निर्भर करता है। एक बार जब कलात्मक अभिव्यक्ति की पद्धति की ताज़गी या नवीनता समाप्त हो जाती है तो पाठक या सहृदय उससे विमुख होकर अपने दैनिक कार्यों में लग जाता है। कला या साहित्य में वह एक नई दृष्टि खोजता है पर ऐसी बासी अभिव्यक्तियों में उसे केवल स्थूल रूप का ही दर्शन होता है। इसलिए किसी महान् पुस्तक में नवीनता द्वारा चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि पाठक प्रारम्भ में ही आगे पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय और उसे विश्वास हो जाय कि अनुभूतियाँ व्यापक और गम्भीर छवियों के निर्माण तथा कारयित्री प्रतिभा की क्रीड़ा की**

---

१. "Poets may set the conventions going with the detachment of a photograph, and even absent themselves, to all intents and purposes, entirely. Or, they may exercise creative energy, as we have seen, upon dead forms, empty shells, and bring about a metamorphosis, Or, finally, they may rise up in revolt, repudiate the old coinage altogether, and more or less definitely set themselves to minting new."
John Livingston Lowes—Convention and Revolt in Poetry—third edition—page 92.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री-मात्र हैं।"[1]

उपर्युक्त कथन की सत्यता के प्रमाण अंग्रेजी और हिन्दी-साहित्य, विशेषकर काव्य के इतिहास से खोजे जा सकते हैं। अंग्रेजी कविता में पूर्ववर्ती रूढ़ियों से विद्रोह करके नवीनता लाने के लिए तीन बार आन्दोलन के रूप में सशक्त प्रयत्न हुए। १६६२ ई० में रायल सोसाइटी की स्थापना के समय उसके उद्देश्यों की जो घोषणा हुई उसमें पूर्ववर्ती कविता की शैली की स्फीति, अवान्तर कथन आदि पद्धतियों को छोड़कर स्वाभाविक, सरल और संक्षिप्त अभिव्यक्ति तथा जनता की भाषा के प्रयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यह अंग्रेजी के रीति-युग (Age of form) का प्रारम्भिक काल था, जब कि मध्यकालीन स्वच्छन्दतावादी कविता अपनी नवीनता और ताजगी खो चुकी थी। यह नवीन रीतिवादी या अभिजात (Classical) कविता भी जब सौ वर्ष बाद रूढ़िबद्ध हो गई तो १८ वीं शताब्दी के अन्त में आधुनिक युगीन पूँजीवादी स्वच्छन्दतावाद ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। सर्वप्रथम वड्र्सवर्थ और कालरिज के लीरिकल बैलेड्स द्वारा यह विद्रोह अभिव्यक्त हुआ। इसके दूसरे संस्करण की भूमिका में, जिसे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का घोषणा-पत्र कह सकते हैं, वर्डसवर्थ ने लिखा था कि **"इन कविताओं को पढ़कर परम्परागत काव्य की अलंकृत भाषा और शब्दावली के अभ्यस्त पाठक आश्चर्य और अटपटेपन का अनुभव करेंगे। वे इसमें अपनी मान्यता के अनुरूप कविता खोजने का प्रयत्न करेंगे और उसे न पाने पर कहेंगे कि आखिर इन रचनाओं को कविता क्यों कहा जाय?"** वड्सवर्थ ने भी उस भूमिका में यही घोषणा की थी कि इन कविताओं में साधारण जीवन से घटनाओं और परिस्थितियों का चुनाव करके उन्हें यथासम्भव जनता की स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त किया गया है, इसी कारण इनमें वह शब्दावली नहीं मिलेगी जिसे अब तक साधारणतया काव्यात्मक पदावली कहा जाता रहा है। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा ने रीतिवादी काव्य-प्रवृत्ति को समाप्त अवश्य कर दिया, किन्तु विक्टोरिया के काल में उसकी भी अपनी रूढियाँ बन गईं, उसकी नवीनता और ताजगी भी समाप्त हो गई। उस युग के स्वच्छन्दतावादी कवियों के मुहावरे, अभिव्यक्ति की शैली, कल्पना, छन्द-योजना आदि सभी धीरे-धीरे अपना जादू खोते गए और तब १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हापकिन्स ने सर्वप्रथम उन रूढियों के विरुद्ध विद्रोह किया। आगे चलकर बिम्बवादी (Imagist) आन्दोलन ने और उससे भी आगे बढ़कर इलियट, एजरा पाउण्ड, आडेन, डाइलन टामस आदि प्रयोगशील कवियों ने गतानुगतिक काव्य-रूढ़ियों को बिलकुल छोड़कर नवीन रूप-शिल्प का सहारा लिया। इन नये कवियों का

१. "Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits. He looks for a vision and sees only phenomena. So a great book must always come with a shock of novelty, convincing the enquirer that he is only at the beginning of things, and that experiences are only materials to play with and reconstruct into a deeper or wider perception."
Dr.H.V. Routh—'English Literature and Ideas in the Twentieth Century', Page 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी यही नारा था कि काव्य की भाषा बोल-चाल की भाषा होनी चाहिए और पूर्ववर्ती कवियों के घिसे-पिटे और खोखले शब्दों का व्यवहार नहीं होना चाहिए, साथ ही नये युग की जटिल समस्याओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, नये प्रतीकों, नये उपमानों और नये छन्दों के माध्यम से होनी चाहिए। इस नई प्रयोगशील काव्य-धारा में अनेक प्रकार की उपधाराएँ या प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो बीसवीं शताब्दी के विभिन्न दशकों में बारी-बारी से आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त होती रही हैं। पर वे मुख्यतया दो विभागों में रखी जा सकती है, १९३० तक की कविता में नव-रीतिवादी (Neo-classical) प्रवृत्ति प्रबल थी और उसके बाद पुनः नव स्वच्छन्दतावादी (Neo-Romantic) प्रवृत्ति प्रबल हो गई। किन्तु उन सबके बारे में विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

हिन्दी-कविता के इतिहास में भी रूढियों और उनके विरुद्ध विद्रोह का यही क्रम दिखाई पड़ता है। समूचा सन्त-काव्य सामन्ती लौकिक-काव्य की ऐहिक प्रवृत्तियों और स्थूल शास्त्रीय रीतियों के विरुद्ध विद्रोह का काव्य है। यह विद्रोह केवल काव्यगत विद्रोह नहीं है बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक विद्रोह की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस काव्य की भी विशेषता यही है कि उसमें जनता की भाषा में व्यक्ति की आध्यात्मिक प्यास को वाणी दी गई है। भक्ति-काल (पूर्वमध्यकाल) में यह विद्रोही स्वर बहुत प्रबल रहा। सूर, तुलसी, मीरा आदि ने काव्य को वह पूर्णता दे दी जो अंग्रेजी में शेक्सपियर और मिल्टन ने दी थी, पर उसका यह विपरीत परिणाम भी हुआ कि परवर्ती कवियों के लिए उस दिशा में उनसे आगे जाना कठिन हो गया। साथ ही आध्यात्मिक अथवा धार्मिक कविता ने जो नया मार्ग निर्मित किया था, वह लौकिक भावना वाले कवियों के अधिक काम का नहीं था। अतः रीतिकाल में लौकिकता की प्रवृत्ति धार्मिक काव्य-प्रवृत्ति को पीछे हटाकर फिर प्रबल हो गई। भक्ति-काल में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बलवती थी और रीतिकालीन काव्य में शास्त्रीय रीतिबद्धता की। इस तरह पूरे मध्यकाल में स्वच्छन्दता और रीतिबद्धता का यह संघर्ष दिखाई पड़ता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रहीं। अंग्रेजी काव्य की तरह यहाँ की एक प्रवृत्ति ने दूसरी प्रवृत्ति को पूर्णतया समाप्त नहीं कर दिया। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनः जागरण के आन्दोलनों के साथ रीतिकालीन काव्य-रूढियों के विरुद्ध फिर विद्रोह हुआ, जिसका संक्रमण-कालीन स्वरूप द्विवेदीयुगीन कविता की भाषा, छन्द-योजना और विषय-वस्तु के चुनाव में दिखाई पड़ता है।

परन्तु रीतिवाद (Formalism) के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद के विद्रोह का वास्तविक और तीव्र रूप तो १९१८ के बाद की छायावादी कविता में ही दिखाई पड़ता है। जैसे अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता का घोषणा-पत्र लिरिकल बैलेड्स की भूमिका है, उसी तरह हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त के पल्लव की भूमिका को छायावादी आन्दोलन का घोषणा-पत्र मानना चाहिए। उसमें पन्त ने रीतिकालीन छन्द-योजना, अन्त्यानुप्रास-पद्धति, घिसी-पिटी अप्रस्तुत योजना, कृत्रिम भाषा और सीमित भाव-क्षेत्र की विस्तार के साथ कटु आलोचना की है और इस तरह पूर्ववर्ती काव्य-रूढियों से मुक्ति का मार्ग-निर्देश किया है। छायावाद ने रीति-कालीन काव्य-रूढियों से विद्रोह तो किया किन्तु आगे चलकर उसके रूप-शिल्प की भी अपनी विशेष-रूढियाँ स्थिर हो गईं। अतः सन् १९३५ के बाद छायावाद के विरुद्ध भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह का स्वर उठने लगा, जो आगे चलकर नई कविता के आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब ब्रजभाषा और रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए खड़ी बोली में युगानुरूप विषयों पर कवित्त-सवैया को छोड़कर संस्कृत के वर्ण-वृत्तों या अन्य मात्रिक छन्दों में काव्य-रचना करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया तो यह उस काल के लिए बिलकुल नया प्रयोग था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने हरिऔध की समासबहुला, तत्सम पदावली वाली भाषा को द्विवेदीयुगीन प्रयोग मानते हुए लिखा है : **"खड़ी बोली के कवियों के लिए वह वस्तु नये प्रयोग के रूप में ही आई। इन्हें (खड़ी बोली के कवियों को) सांस्कृतिक शब्दावली के अनभ्यस्त चयन का नया कार्य करना पड़ा।"**[1] 'हरिऔध' ने ठेठ हिन्दी और मुहावरेदार भाषा में भी पद्य-रचनाएँ कीं और उन्हें भी प्रयोग के रूप में ही लेना चाहिए। यहाँ इतना ही कहना है कि तत्कालीन परिस्थितियों में द्विवेदीयुगीन कवियों ने ये प्रयत्न काव्य को रूढ़ि-मुक्त करने के लिए ही किये। उन्हें पूर्ण सफलता भले ही न मिली हो, किन्तु आगे चलकर छायावाद युग के कवियों ने उनके प्रयोगों से लाभ अवश्य उठाया। रीतिकालीन काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की यह प्रक्रिया द्विवेदी-युग में ही नहीं समाप्त हो गई, वह उसके बाद भी चलती रही। कारण यह था कि रीतिकालीन कविता की रूढ़ियों को तो द्विवेदी-युग की कविता ने छोड़ दिया किन्तु उसकी विशेषताओं—कोमल कान्त पदावली, व्यंजकता, सरसता और कसावट को अपने भीतर नहीं ला सकी। अतः विद्रोह की परम्परा आगे बढ़ी और 'पल्लव' की भूमिका में पन्त ने महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह ही रीतिकालीन कविता की रूढ़ियों की कटु आलोचना करते हुए लिखा : **"भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुर वृत्ति, अनुप्रास और तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुकों को एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बांध ही दिया! आंख की उपमा खंजन, मृग, कुञ्ज, मीन इत्यादि, होठों की? किसलय, प्रवाल, लाख, इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि।"** इस विद्रोही प्रवृत्ति के कारण कवियों ने जो नये प्रयोग किये उसीका यह परिणाम हुआ कि हिन्दी-कविता रीति-मुक्त होकर और द्विवेदीकालीन अपरिपक्वता, नीरसता और भावशून्यता से उबरकर संगीतात्मक, भावानुरूप और अर्थप्रवण शब्दों से युक्त, काव्य-वैभव से परिपूर्ण, कल्पनाशील और शक्तिमती बन सकी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी छायावाद की इस विद्रोहजन्य प्रयोगशील प्रवृत्ति की महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है : **'छायावादी काव्य को भाषा-सम्बन्धी प्रौढ़ प्रयोग और नये शब्द-चयन के साथ नवीन सामाजिक योजना के सबसे अधिक उपहार 'निराला' जी के काव्य से ही मिले हैं।.....इन सुन्दरतम काव्य-प्रयोगों के मूल में एक अभिनव रहस्य-भावना, एक विश्वजनीन दार्शनिकता और एक परिष्कृत सौन्दर्य-**

१. प्रयोगवादी रचनाएँ, आधुनिक साहित्य पृष्ठ, २७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना काम कर रही थी। बिना उस मूलवर्ती आधार के रचनाओं में यह चमत्कार और ये कलात्मक विशेषताएँ न आ सकतीं।"[1] वाजपेयी जी का यह कथन बहुत ही सारगर्भित है और प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उसकी विशेष रूप से व्याख्या करने की आवश्यकता है। किन्तु उस पर हम बाद में विचार करेंगे। अभी तो यही कहना अभीष्ट है कि छायावाद ने मृत काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके काव्य का नवीन मार्ग निर्मित किया, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।

आज की प्रयोगवादी या नई कविता का उदय ऐसी ही द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों में हुआ। 'तार-सप्तक' का प्रकाशन तो बाद में हुआ, वस्तुतः सुमित्रानन्दन पन्त के 'रूपाभ' में सबसे पहले ऐसी कविताएँ प्रकाशित हुईं। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय नई शैली की जो कविताएँ प्रारम्भ हुईं उनके मूल में भी छायावादी आदर्शवाद और कल्पनाशीलता की प्रतिक्रिया तथा यथार्थवाद की प्रेरणा ही प्रधान थी। साथ ही उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख छायावादी कविता की, अतिशय भावुकता, व्यक्तिवादिता, दुःख और निराशा की प्रवृत्ति तथा उसके घिसे-पिटे रूप-शिल्प के विरुद्ध नये कवियों के मन में जो विद्रोह जाग्रत हुआ, वह भी नई कविता के प्रारम्भ का कारण बना। यहाँ 'नई कविता' शब्द का व्यवहार मैं अपनी ओर से कर रहा हूँ, उस समय उसका यह नाम प्रचलित नहीं था। प्रगतिवाद का आन्दोलन अवश्य प्रारम्भ हो गया था, पर सभी प्रगतिवादी कवि नई कविता के कवि नहीं थे। 'तारसप्तक' के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि नई कविता की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं, समाजवादी यथार्थवाद की और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की। और कुछ कवि ऐसे भी थे, जो इन दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य चाहते थे। इन सभी नये कवियों में पूर्ववर्ती कविता को वस्तु-तत्त्व और रूप शिल्प, दोनों के प्रति विद्रोह की भावना थी। 'तारसप्तक' के सभी कवियों ने अपने वक्तव्यों में यह विद्रोह की भावना व्यक्ति की है। बदले हुए युग की नई परिस्थितियों की माँग थी कि कविता के स्वरूप में परिवर्तन होना चाहिए। वाजपेयीजी ने अपने 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि **"श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ काव्य-युग भी अपने समय पर विकसित होते हैं और उस समय के बीत जाने पर नई काव्य-शैलियाँ प्रवर्तित होती हैं। इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि छायावादी काव्य-धारा इतनी शीघ्र समाप्त क्यों हो गई।"** इस तरह वाजपेयीजी का यह स्पष्ट मत है कि छायावाद श्रेष्ठ काव्य होते हुए भी अपना जीवन जी चुका था और उसके बाद नई काव्य-धारा का उदय अवश्यम्भावी था। उद्दाम विद्रोह और बिलकुल नये प्रयोगों का काव्य होते हुए भी छायावाद जब अवरोह की ओर अग्रसर हुआ, उसकी नवीनता और ताज़गी समाप्त हो गई और उसकी अनुभूतियाँ, अभिव्यंजनाएँ और भाषा सब बासी और रूढ़िबद्ध हो गईं तो फिर नये विद्रोह और तज्जन्य नये प्रयोगों का प्रारम्भ हुआ। निष्कर्ष यह कि हिन्दी-कविता में रूढ़ियों से विद्रोह और नये प्रयोग की जो परम्परा पहले से चली आ रही थी, नई कविता ने भी उसे आगे बढ़ाया और इस तरह काव्य के नित्य नवीकरण के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि विद्रोह की प्रवृत्ति यदि स्वाभाविक और सोद्देश्य होगी तभी कोई कवि नित्य काव्य के नवीनीकरण की ओर अग्रसर हो सकेगा। यदि उसका

१. **'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ३४।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह प्रतिक्रियाजन्य या बौद्धिक फैशन के रूप में ऊपर से ओढ़ा हुआ है तो उसकी कविता की नवीनता भी उसके विद्रोह के शान्त होते ही समाप्त हो जायगी। साथ ही विद्रोह की सचाई ही वह कसौटी है जिससे यह पता चल सकता है कि कोई कवि वास्तविक रूप में नये प्रयोगों के माध्यम से काव्य का अभिनवीकरण कर रहा है या फैशन के रूप में दूसरों के प्रयोगों का अनुकरण कर रहा है। सच्चा विद्रोही कवि तो वह होता है जो दूसरों के तो दूर, अपने ही प्रयोगों की पुनरावृत्ति या अनुकृति नहीं करता। 'अज्ञेय' ने 'तारसप्तक' की भूमिका में इसी प्रवृत्ति को राहों का अन्वेषण कहा है और यह भी लिखा है कि **जो प्रयोग करता है उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।** वस्तुतः मोह के कारण ही रूढ़ियों का निर्माण या संरक्षण होता है। छायावादी कवियों में सबसे अधिक विद्रोही व्यक्तित्व 'निराला' का रहा है और यही कारण है कि 'निराला' ने सबसे अधिक प्रयोग किये और अपनी कविता के वस्तु-तत्त्व और शिल्प में निरन्तर नवीनता लाते रहे। यह प्रवृत्ति निराला के बाद प्रसाद और उसके बाद पन्त में दिखाई पड़ती है। अन्य छायावादी कवियों में यह प्रवृत्ति बिलकुल नहीं थी। परवर्ती छायावादी कविता के ह्रासोन्मुख होने का यही कारण था कि उसमें अनुकरण और पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति ही प्रधान हो उठी थी।

पहले कहा जा चुका है कि जब कवि के मन में नवीन कथ्य को, जो उसका अनुभूत सत्य होता है, अभिव्यक्त करने की व्याकुलता उत्पन्न होती है, और पूर्ववर्ती काव्य-पद्धति उस अनुभूत सत्य को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है तो कवि अभिव्यक्ति के नये माध्यमों—नई भाषा, नये शिल्प—की खोज करता है। इस तरह काव्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में नये प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु बाह्य रूप में किये गए प्रयोगों पर ही पाठकों की दृष्टि पहले जाती है, इस कारण सामान्यतः अभिव्यंजना की नवीन पद्धतियों को ही प्रयोगशीलता मान लिया जाता है। इन नवीन पद्धतियों में से जो व्यापक रूप से स्वीकृत कर ली जाती हैं, उन्हें ही सफल प्रयोग माना जाता है और बाद में तो लोग उनके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें प्रयोग के रूप में देखते ही नहीं हैं। किन्तु पद्धति-सम्बन्धी कुछ प्रयोग ऐसे भी होते हैं जिनका अनुकरण करना सरल नहीं होता। ऐसे प्रयोगकर्ता कवियों को ही सामान्यतः असली प्रयोगशील कवि माना जाता है। पर अधिकतर ऐसे प्रयोग असफल प्रयोग या केवल प्रयोग के लिए प्रयोग ही होते हैं। ऐसे प्रयोगकर्ता विरले ही होते हैं, जिनके प्रयोग अत्यन्त विचित्र, दुरूह और अनुकरणीय भी हों, पर जो अपने कथ्य की महानता तथा आत्माभिव्यक्ति की सचाई के कारण महान् कवि या लेखक माने जाते हों। अंग्रेजी में टी० एस० इलियट पहले प्रकार का प्रयोगशील कवि है जिसकी अभिव्यंजना-पद्धति को वहाँ के परवर्ती कवियों ने बहुत-कुछ स्वीकृत कर लिया; पर एजरा पाउण्ड और कमिंग्ज के प्रयोग आगे नहीं चले। जेम्स-ज्वायस के उपन्यासों के प्रयोगों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखाई पड़ती है। पर इसके कारण इन प्रयोगशील लेखकों का महत्त्व कम नहीं माना जाता। इसी प्रकार हिन्दी में छायावादी कवियों में 'निराला' और 'प्रसाद' ने मुक्त-छन्द-सम्बन्धी जो प्रयोग किये वे तो बाद में स्वीकृत कर लिये गए, पर 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा', 'सरोज-स्मृति' और 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविताओं में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किये गए हैं उनका अनुकरण कोई कवि नहीं कर सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु अभिव्यञ्जना-पद्धति-सम्बन्धी प्रयोग को सफल प्रयोग तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि कथ्य या अनुभूत सत्य में ऐसी नवीनता न हो जिसकी बाध्यता के कारण कवि को वह नई पद्धति अपनानी पड़ी हो। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का वक्तव्य पहले उद्धृत किया जा चुका है जिसमें उन्होंने किसी रचना में चमत्कार और कलात्मक विशेषता लाने के लिए किये गए प्रयोगों के मूल में कथ्य-सम्बन्धी मौलिक तत्त्वों का होना अनिवार्य बताया है। जिन प्रयोगों के पीछे वे तत्त्व नहीं होते वे फैशन के रूप में भौंडे अनुकरण-मात्र होते हैं। फिलिप टॉयनबी ने अपने 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' शीर्षक निबन्ध में लिखा है: **"सचाई यह है कि उपन्यास के क्षेत्र में अब तक किये गए पद्धति-सम्बन्धी प्रयोगों का विश्लेषण करना व्यर्थ ही होगा यदि हम उनके माध्यम से उनके मूल में निहित उन तत्त्वों पर विचार नहीं करते, जो उन पद्धति-सम्बन्धी प्रयोगों से कई गुना अधिक महत्त्व के होते हैं।.....यह तो सर्वविदित है कि अभिव्यंजना-पद्धति और उसके पीछे काम करने वाले तत्त्व अविच्छेद्य हैं, किन्तु यदि हम आलोचक हैं तो इस अविच्छेद्यता की जानकारी के बावजूद हमें दोनों में अन्तर अवश्य करना चाहिए। मेरे विचार से वह अन्तर यह है कि किसी गम्भीर लेखक के दिमाग में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कोई काम कैसे किया जाय, यह प्रश्न उतने महत्त्व का नहीं है जितना यह है कि क्या किया जाय और क्यों किया जाय?"**[1] यदि लेखक अपने कार्य के उत्तरदायित्व और उद्देश्य के महत्त्व को भली भाँति जानता है तो उसकी अभिव्यञ्जना-पद्धति की नवीनता या प्रयोगशीलता भी सार्थक और सफल होगी और यदि उसका उद्देश्य सस्ती लोक-रुचि का अनुसरण करके यश और धन पैदा करना अथवा केवल चौंकाकर या पूर्व परम्परा का अनादर करके नाम कमाना (बदनाम होकर ही सही !) है तो उसका कार्य अनुत्तरदायित्वपूर्ण माना जायगा, चाहे उसकी अभिव्यञ्जना-पद्धति रूढ़िबद्ध हो अथवा प्रयोगशील। इस तरह, प्रयोगों के पीछे काम करने वाले उद्देश्य और प्रयोग-कर्त्ता का उत्तरदायित्व-निर्वाह ही वह कसौटी है जिस पर उसके प्रयोगों की परीक्षा की जा सकती है।

सभी प्रयोगशील लेखक यह कहते हैं कि उनके प्रयोगों का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है। किन्तु जो लेखक प्रयोगशील नहीं हैं, वे भी तो अपनी रचना का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति ही बताते हैं। यदि पुरानी पद्धतियों से भी आत्माभिव्यक्ति हो जाती है, तो फिर नये प्रयोगों की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में अपने वक्तव्य

---

१. "For the truth is that an examination even of past method is of no general interest unless it is used as a means of discussing the infinitely more important elements which lie behind method .....we know all about the inseperability of method from those other elements which lie behind it, but if we are critics we had better beware of knowing too much about it. It is our job to make these distinctions even if we try to obliterate them afterwards, and simple distinction which I would make is that the 'how to do something' must de subordinate in the serious writer's mind to the 'wha to do' and the 'why to do'.—'London Magazine', May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस प्रकार दिया है : **"कवि क्रमशः यह अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको भेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि यह उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"** हिन्दी में नई प्रयोगशील कविता के पुरस्कर्ता अज्ञेय हैं, किन्तु उनके इस वक्तव्य ने नई कविता को लाभ नहीं, हानि ही पहुँचाई है। सच्चे प्रयोगकर्ता कवि का यह उद्देश्य नहीं होता कि जिन क्षेत्रों में अब तक प्रयोग न हुए हों, उनका अन्वेषण होना चाहिए। यह तो शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में किये जाने वाले प्रयोगों अथवा शोध-कार्यों का उद्देश्य होता है। उलझी हुई संवेदना की सृष्टि वाली बात भी उतनी ही भ्रामक है। सच्चा कवि अपने प्रयोगों द्वारा उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि नहीं करता, बल्कि जगत् की जटिलताओं और उलझी हुई संवेदनाओं के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश उत्पन्न करता है। टी० एस० इलियट की 'वेस्टलैण्ड' और 'हॉलो मैन' शीर्षक कविताएँ इसका प्रमाण हैं। ऊपर अज्ञेय ने भाषा-सम्बन्धी जिन प्रयोगों की बात कही है, वे अंग्रेज़ी के उपन्यासकार जेम्स ज्वायस में सबसे अधिक मिलते हैं, पर जेम्स ज्वायस भी उद्देश्यहीन अथवा अन्वेषण के लिए अन्वेषण करने वाला लेखक नहीं है। वस्तुतः काव्य में प्रयोग या अन्वेषण का यह अर्थ होता है कि कवि ने कुछ ऐसे सत्यों को आयत्त किया है, जिन्हें वह परम्परागत पद्धति या भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर सकता, इसलिए वह नये माध्यमों का सहारा लेता है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के सम्पादकीय या अपने वक्तव्य में इस उपलब्ध सत्य की, जो प्रयोगों के मूल में निहित होता है, कहीं चर्चा नहीं की है। इसके विपरीत उन्होंने तो प्रयोगशीलता को ही कसौटी मान लिया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वे प्रयोग के लिए प्रयोग को ही अपना साध्य मानते हैं।

दूसरे सप्तक की भूमिका में उन्होंने अपने को कुछ सुधारने का प्रयास करते हुए लिखा है : **"तो प्रयोग अपने-आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है; दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है।"** इस वक्तव्य में ध्यान देने की बात यह है कि इसमें 'तारसप्तक' से आगे बढ़कर केवल शिल्प के प्रयोग (राह का अन्वेषण) की ही नहीं, वस्तु के प्रयोग की बात भी कही गई है। पर यहाँ भी अज्ञेय का आग्रह वस्तु के भीतर निहित कवि के अनुभूत सत्य पर उतना नहीं है, जितना वस्तु में किये जाने वाले प्रयोग पर है। वस्तु और शिल्प दोनों में किये जाने वाले प्रयोगों के पीछे मौलिक दृष्टि और उसके द्वारा उपलब्ध नये सत्य की प्रेरणा काम करती है, इसकी ओर अज्ञेय जी का ध्यान नहीं गया है। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि प्रयोगों द्वारा ही कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है। प्रयोग द्वारा उपलब्ध सत्य को औरों तक पहुँचाने में सुविधा होती है, यह तो ठीक है; पर उनसे कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, यह बात तो उलटी-सी है। जब नये प्रयोगों द्वारा नये सत्यों का सम्प्रेषण होता है, तो फिर कवि के अपने सत्य को जानने की बात कहाँ से उठती है? बिना सत्य को पहले जाने वह प्रयोग करेगा ही किसलिए? यदि अज्ञेय जी के उक्त कथन का तात्पर्य यह हो कि कवि का वस्तु-सम्बन्धी नये क्षेत्रों और नई दिशाओं में पहुँचने का प्रयत्न करना भी प्रयोग ही है, तो बात दूसरी है। पर वस्तु-सम्बन्धी नई दिशाओं में पहुँचने और नये सत्यों की उपलब्धि करने के बाद ही कवि अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी नये प्रयोग करता है। इसलिए यह कथन भ्रामक है कि प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है।

कोई लेखक प्रयोग क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर फिलिप टायनबी ने अपने निबन्ध 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' में इस प्रकार दिया है : **"आज का उपन्यासकार प्रयोग इसलिए करता है कि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सत्यों को आयत्त किया है, जिनकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी ने नहीं की है। यह उत्तर प्रथम दृष्टि में बहुत ही सतही प्रतीत होगा, क्योंकि कहा जा सकता है कि हर युग के गम्भीर उपन्यासकार का यही उद्देश्य रहता आया है और इस उत्तर में कोई नई बात नहीं है। किन्तु मेरे उत्तर में अपेक्षाकृत नवीनता यह है कि उसमें 'हमारी वर्तमान स्थिति' पर विशेष जोर दिया गया है। हमारे युग के पक्ष या विपक्ष में चाहे जो-कुछ कहा जाय, किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह उन युगों में से नहीं है, जिनसे हम सम्मानपूर्वक या स्वाभाविक रूप में अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं।"**[1] जो बात यहाँ उपन्यास के सम्बन्ध में कही गई है, वही कविता पर भी लागू होती है। कविता में भी प्रयोग की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि एक विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में कवि कुछ ऐसे सत्यों की उपलब्धि करता है, जिन्हें पूर्ववर्ती युगों के कवि अपने युग की सीमाओं के कारण नहीं कर सके थे। उन पूर्ववर्ती कवियों ने अपने उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति जिन साधनों—छन्द, भाषा, अप्रस्तुत योजना आदि—द्वारा की थी, वे नये युग की बदली हुई परिस्थितियों में उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए असमर्थ या अधूरे प्रतीत होने लगते हैं। युग-परिवर्तन के साथ जीवन के भौतिक उपकरणों में तो परिवर्तन होता ही है, वे भौतिक परिवर्तन मनुष्य के मन, उसके रागात्मक सम्बन्ध और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि को भी बदल देते हैं। अतः पुरानी रीति-नीतियों और सम्बन्धों से बँधा रहना उसके लिए सम्भव नहीं रह जाता। ऐसी परिस्थिति में परिवर्तित जीवन-दृष्टि वाले कवि की अनुभूतियाँ और सौन्दर्य-बोधात्मक संवेदनाएँ पूर्ववर्ती

१. "And the answer must surely be that it is because he believes that he has uuderstood something about our present condition which has not been expressed by any body else. The answer may seem a flat one at first, it might be said that this was always the intention of the serious novelist and that there is nothing new in it. But what is, I beleive comparatively new in the answere I have given is the insistence on the words 'our present condition'. Whatever may be said in favour or against our own time, it is clearly not one of those periods from which we can respectably or naturally dissociate ourselves."

Experiment and the Future of Novel London Magazine—May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगों के कवियों की अनुभूतियों और संवेदनाओं से भिन्न होती हैं। परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में चेतना की सीमाएँ भी विस्तृत हो जाती हैं, ज्ञान-विज्ञान के असीम क्षेत्र सामने आये हुए रहते हैं, जिनके कारण पुराने नैतिक मूल्य विघटित या निरर्थक हो जाते हैं और उनकी जगह नये मूल्य निर्मित होते या निर्माण के क्रम में रहते हैं। इस स्थिति में कवि का यह दायित्व होता है कि वह युगानुरूप अपनी चेतना का विस्तार करे और नये जीवन-मूल्यों को पहचानकर, उन्हें आत्मसात् करके, इस प्रकार उनकी अभिव्यक्ति करे कि उसका कथ्य दूसरों तक अपने वास्तविक रूप में सम्प्रेषित हो सके। इस तरह अपने कथ्य या अनुभूत सत्य को सहज प्रेषणीय बनाने के लिए ही कवि अभिव्यक्ति के साधनों में प्रयोग करता है। अतः कवि द्वारा उपलब्ध, युग-सापेक्ष्य सत्य ही वह मूल तत्त्व है, जो प्रयोग को सम्भव और सफल बनाता है।

प्रयोग के उद्देश्य के सम्बन्ध में अज्ञेय के विचारों के कुछ और विश्लेषण की आवश्यकता है। कवि के अनुभूत सत्य के बारे में 'तारसप्तक' और 'दूसरे सप्तक' में उन्होंने जो-कुछ लिखा है उसमें परस्पर-विरोध दिखाई पड़ता है। 'तारसप्तक' में उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है : **"जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय—यह पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है–इत्यादि।"** इस वक्तव्य में लेखक का ध्यान केवल अभिव्यञ्जना पर ही केन्द्रित है। यदि अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी प्रयोग ही नये कवि की पहली समस्या हो तो उससे किसी महान् सत्य की उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः मूल समस्या युग-सापेक्ष्य सत्य की उपलब्धि की है। वह सत्य यदि छोटा, घटिया, असामाजिक और अधोन्मुखी है तो प्रथमतः तो वह सत्य ही नहीं है, दूसरे उसकी अभिव्यक्ति के लिए किये गए प्रयोग, चाहे वे कितने भी नवीन और चमत्कारपूर्ण क्यों न हों, किसी काम के नहीं माने जायँगे। दूसरे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय के विचार बदल गए हैं और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अनुभूत सत्य की महत्ता पर ज़ोर देते हुए लिखा है—**"केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन चाहे उसमें जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। ·····इस प्रकार प्रयोग का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हो, दूसरों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का।"** इस तरह दूसरे सप्तक में उन्होंने स्वीकार कर लिया है कि कवि के उपलब्ध सत्यों का जितना महत्त्व है उतना काव्य के शिल्प या टेकनिक में किये गए प्रयोगों का नहीं।

किन्तु उस सत्य की महत्ता स्वीकार करते हुए भी अज्ञेय ने दूसरे सप्तक में उसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया है। वह अनुभूत सत्य कवि के समकालीन युग-जीवन से किस प्रकार सम्बन्धित होता है, इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। कविता, यदि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची कविता है तो, युग की चेतना से विच्छिन्न नहीं रह सकती। इसका कारण यह है कि कवि सामान्य लोगों से अधिक संवेदनशील होने के कारण अपने परिवेश के साथ निकटतम सम्पर्क बनाये रखकर उसकी क्रियाशीलता से निरन्तर स्पन्दित होता रहता है। एफ़० आर० लीविस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"कवि अपने समय में अपने समाज का सर्वाधिक सचेत व्यक्ति होता है। किसी विशेष युग की मानवीय अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता कुछ थोड़े-से व्यक्तियों में ही होती है और कोई महत्त्वपूर्ण कवि महत्त्वपूर्ण इसीलिए होता है कि वह भी उन्हीं थोड़े-से व्यक्तियों में से होता है (और साथ ही उसमें उन अनुभूतियों को औरों तक प्रेषित करने की क्षमता भी होती है।) निश्चय ही उसकी अनुभूति की क्षमता और अभिव्यक्ति की शक्ति, ये दोनों अविच्छेद्य होती हैं। यदि किसी युग की कविता और उस युग की बौद्धिक चेतना में परस्पर कोई सम्पर्क न रह जाय, तो उस युग की कविता भी महत्त्वहीन हो जायगी और वह युग भी सूक्ष्मतर कलात्मक ज्ञान से वंचित रह जायगा।"**[1] अतः यह निर्विवाद है कि नई कविता की नवीनता इस युग की बौद्धिक चेतना के सम्पर्क और उसके प्रभाव के कारण ही है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है: **"आधुनिक युग का साधारण मनुष्य यौन-वर्जनाओं का पुञ्ज है। उसके जीवन का एक पक्ष है, उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा; जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विकसित नहीं हुई; और दूसरा पक्ष है स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति, जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।...और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह और व्यक्ति-समूह का, वर्ग और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है।"**

अज्ञेयजी के उपर्युक्त वक्तव्य पर आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह सही है कि आधुनिक युग के मानव को फ्रायड और मार्क्स की विचार-धाराओं ने बहुत अधिक प्रभावित किया है और अंग्रेज़ी के बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के कवियों पर इन दोनों दर्शनों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। किन्तु आधुनिक विश्व इनसे भी अधिक विज्ञान के विविध आविष्कारों—ध्वंसात्मक

१. "Poetry matters because of the kind of poet who is more alive than other people, more alive in his own age. He is, as it were, at the most conscious point of the race in his time..... The potentialities of human experience in any age are realized only by a tiny minority, and the important poet is important because he belongs to this (and has also, of course, the power of communication). Indeed, his capacity for experiencing and his power of communicating are indistinguishable. But if the poetry and intelligence of the age lose touch with each other poetry will cease to matter much and the age will be lacking in finer awareness."
F. R. Leavis, 'New Bearings in English Literature', Page 13-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निर्माणात्मक दोनों—से प्रभावित हुआ है। विज्ञान ने मनुष्य को एक ओर तो प्रकृति तथा धर्म के बन्धनों से मुक्त किया है, किन्तु दूसरी ओर पूँजीवाद को जन्म देकर तथा भयंकर युद्धों को सम्भव बनाकर दुःख और निराशा के अन्धकार में ढकेल दिया है। मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्सवाद मनुष्य की उसी वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं; किन्तु उसकी चेतना इन्हीं दोनों तक सीमित नहीं है। जहाँ यान्त्रिक भौतिकता ने मनुष्य को ईश्वर की ओर से विमुख करके स्थूल भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर किया है वहीं सूक्ष्मतम वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप मनुष्य सृष्टि के अभेद्य और अज्ञेय सत्यों को भी जानने और जड़ के भीतर भी चेतना का पुनः दर्शन करने लगा है। युद्धजन्य महानाश के परिणाम-स्वरूप यूरोप में एक ओर यदि अस्तित्ववाद-जैसे घोर निराशवादी और नियतिवादी दर्शन का विकास हुआ है तो दूसरी ओर मानवतावाद पर आधारित नवीन कैथालिसिज्म का भी ज़ोर बढ़ रहा है। अणु बम और उद्जन बम वाले इस युग में मानव एक-दूसरे से जितना अधिक सम्बद्ध हो गया है, उतना इसके पहले कभी नहीं था; और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी प्रकार की पसन्दगी और नापसन्दगी के बावजूद आज समाज से जितना अधिक बँध गया है उतना इसके पहले कभी नहीं बँधा था। ऐसे युग में किसी भी नियतिवादी, निराशावादी, व्यक्तिवादी अथवा पलायनवादी दर्शन को विशेष महत्त्व मिलेगा, ऐसी सम्भावना नहीं है। मनुष्य को उसके समग्र रूप में देखना और उसे विश्व इकाई का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानना ही आज का वैज्ञानिक जीवन-दर्शन है। इस नवीन सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाकर चलने से ही नई कविता युग-चेतना की सच्ची अभिव्यक्ति कर सकती है। फ्रायड के जिस दमित वासना वाले सिद्धान्त का उल्लेख अज्ञेय ने किया है वह मनोविश्लेषण-शास्त्र के क्षेत्र में ही अब अमान्य और खण्डित हो गया है। उसी तरह वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की जगह अब शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्तों को अधिक मान्यता मिलने लगी है। गांधीवादी दर्शन ने भी विश्व-चेतना को बहुत अधिक प्रभावित किया है। अतः नई कविता के कवि का यह कर्तव्य है कि वह इन नित्य परिवर्तनशील सिद्धान्तों और जीवन-मूल्यों के साथ-साथ अपनी चेतना का विस्तार करता चले और इसी विस्तृत युग-चेतना की पट-भूमि में अपने अनुभूत-सत्यों की अभिव्यक्ति करे। अज्ञेय ने आधुनिक युग के साधारण मनुष्य को यौन-वर्जनाओं का पुञ्ज कहकर आधुनिक मनुष्य की चेतना की परिधि को बहुत सीमित कर दिया है। सम्भवतः आज का कोई भी सचेत और प्रतिभाशाली कवि अपने भाव और विचार के क्षेत्र को इतना छोटा करना पसन्द नहीं करेगा। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने मनुष्य के मन और व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित जो नवीन ज्ञान दिया है, काव्य के रूप-शिल्प में उसका उपयोग किया जाय तो आधुनिक युग के उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति में कवि को सुविधा ही होगी; किन्तु यदि कोई कवि मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों को आदर्श या अपने कथ्य का प्रमुख अंग बना लेता है तो उसकी काव्यात्मक ईमानदारी में सन्देह किया जा सकता है। यही बात मार्क्सवादी सिद्धान्तों को स्थूल रूप में और कट्टरता के साथ अपनाकर काव्य-रचना करने वालों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रयोग को आज का कवि भी कवि-कर्म का आवश्यक अंग मानता है; क्योंकि उसने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079556

तथ्य को समझ लिया है कि आज की नित्य परिवर्तनशील वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य के रूप-शिल्प में भी सतत परिवर्तन या प्रयोग करते रहने की आवश्यकता है और आत्माभिव्यक्ति का अर्थ पुनरुक्ति या अपने को दुहराना नहीं है। आत्म-सचेतनता वह शक्ति है जो कवि को उसकी पिछली कृतियों से ही सन्तुष्ट नहीं रहने देती, बल्कि आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रहती है। टी०एस० इलियट ने अपनी एक बहुत बाद की कविता 'फोर क्वार्ट्टेट्स' में निरन्तर प्रयोग करने की इस प्रवृत्ति के मूल में निहित अपनी आत्म-सचेतनता के बारे में लिखा है : **"जब मैं यहाँ अपने मार्ग के मध्य में पहुँच गया हूँ तो ऐसा लगता है, इस मार्ग में बीस वर्ष मैंने व्यर्थ ही खोये हैं। इस अवधि में मैं शब्दों का प्रयोग करना सीखने का प्रयत्न करता रहा हूँ। मेरा प्रत्येक प्रयत्न एक नया प्रारम्भ होता रहा है तथा एक भिन्न प्रकार की असफलता में उसकी परिणति होती रही है। इसका कारण यह है कि ऐसे प्रयत्नों द्वारा हम केवल शब्दों में अधिकाधिक अर्थ भरना सीखते हैं और यह नहीं देखते कि हम जो बातें कह रहे हैं वे पहले ही कही जा चुकी हैं अथवा जो अभिव्यंजना-पद्धति अपना रहे हैं, वह भी पहले ही प्रयुक्त हो चुकी है। और इसी कारण मेरा प्रत्येक प्रयास एक नया प्रारम्भ-अव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए एक नया अभियान होता रहा है। मेरे अभियान के साधन भी अपरिमार्जित रहे जिससे उसकी परिणति सदैव असंक्षिप्त भावों और अननुशासित संवेदनाओं की राशि के रूप में ही होती रही है। मैं यह देखता रहा हूँ कि जिस लक्ष्य तक मुझे अपनी शक्ति और विनम्रता से पहुँचना है उस तक लोग एक-दो या कई बार पहले ही पहुँच चुके हैं, किन्तु ऐसे लोगों से हमारी कोई होड़ नहीं है। हमारा अभियान तो उस वस्तु की पुनः प्राप्ति के लिए है जो बार-बार खोकर पाई, और पाकर खोई जा चुकी है।"**[1]

इस वक्तव्य से यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच इलियट ने जीवन-भर कोई नई बात नहीं कही। एक दृष्टि से देखा जाय तो कला या साहित्य में बिलकुल नई बात

1. "So here I am in the middle way having had twenty years
Twenty years largly wasted.....
Trying to learn to use words, and every attempt
Is a wholly new start, and a different kind of failure
Because one has only learnt to get the better of words
For the thing one no longer has to say, or the way in which
One is no longer disposed to say it. And so each venture
Is as new begining, a raid on the inarticulate
With shabby equipment always deteriorating.
In the general mess of imprecision of feeling,
Undesciplined squads of emotion. And what there is to conquere
By strength and submission, has already been discovered
Once or twice or several times by men whom one cannot hope
To emulate-but there is no Competition—
There is only the fight to recover what has been lost
And found and lost again and again."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कोई होती ही नहीं। कलाकार की मौलिकता उसकी कृति की ऐसी विचित्रता में नहीं होती जो सहृदय के लिए अपरिचित या अज्ञात हो, बल्कि पुरानी या परिचित वस्तु के इस ढंग से प्रस्तुत करने में होती है जिससे वह बिलकुल नई प्रतीत हो। मनुष्य का स्वभाव है कि वह पुरानी और अति परिचित वस्तुओं से थक या ऊब जाता है जिससे उनकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता या जान-बूझकर वह उनकी ओर से अपना ध्यान हटा लेता है। किन्तु साथ ही वह बिलकुल विचित्र और अपरिचित वस्तुओं से भी अपना रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाता। भले ही थोड़ी देर के लिए उनसे आश्चर्य-चकित होकर अपना मनोरंजन कर ले। अतः प्रकृतिस्थ (Normal) मनुष्य परिचित और अपरिचित, ज्ञात और अज्ञात अथवा प्राचीन और बिलकुल नवीन के सामञ्जस्य में ही रस लेते हैं और कवि की मौलिकता या नवीनता इसीमें है कि वह परिचित को अपरिचित तथा अपरिचित को परिचित रूप देकर उपस्थित करें। जान लिविंगस्टन लोवेस ने इस सम्बन्ध में बहुत ठीक लिखा है कि हम लोग नवीन वस्तु के लिए उत्सुक तो अवश्य रहते हैं, किन्तु हमारा जोर इस बात पर भी रहता है कि जो परिचित है, जो बिलकुल अपना है, उससे भी उस वस्तु का सम्बन्ध अवश्य बना रहे; हम पुराने को तो चाहते हैं, पर चाहते हैं कि वह किसी-न-किसी रूप में नया प्रतीत हो।[1] इलियट ने अपने पूरे काव्य में यही किया है; क्योंकि वह परम्परा-विच्छिन्नता को उचित नहीं मानता और युग-सत्य की अभिव्यक्ति करते हुए भी काव्य के युगातिक्रमण पर जोर देता है।[2] किन्तु साथ ही वह निरन्तर प्रयोग करने में भी विश्वास रखता है। उसका उपर्युक्त वक्तव्य इस बात का संकेत करता है कि सच्चे कवि में बिलकुल नई बात कहने की व्याकुलता अवश्य रहती है, किन्तु वह शाश्वत सत्यों को ही नये, युगीन सन्दर्भ में रखकर नये प्रयोगों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। काव्य के अभिनवीकरण का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं होता।

---

१. "We are keen for the new but we insist that it establish some connection with what is friendly and our own; we want the old but we want it to seem somehow new."—'Convention and Revolt in Poetry', Page 63.

२. "It is part of the business of the critic to preserve tradition where a tradition exists. It is part of his business to see literature steadily and to see it whole; and this is eminently to see it not as consecrated by time, but to see it beyond time; to see the best work of our time and the best work of twenty five hundred years ago with the same eye." 'The Sacred Wood', Introduction, Page 15-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजेन्द्रप्रसाद सिंह

नवीन विकास-बोध के चार आयाम

सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के प्रथम और प्रायः द्वितीय चरण तक इतिहास-दर्शन की विचार-धारा में चक्रवादी और रेखावादी कूलों के कई नाम निश्चित हुए, उनकी कितनी ही विशिष्टताएँ निरूपित हुईं, पर मानवीय विकास का प्रवाह उन्नीसवीं शताब्दी के बाद सम्पूर्णता की समन्वित (Integral) दृष्टि से ही ग्रहण किया गया और उसकी मूल प्रेरणा-शक्ति को ही विकास-बोध का केन्द्र तथा उसकी स्वभाव-सीमा और दायित्व-रेखा को विकास परिधि माना गया है। इस अर्थ से मानवीय विकास-बोध की आधुनिक प्रगति के अन्तर्गत बीसवीं शती के विचारकों में, जिनके अनुसार जो केन्द्रीय और परिधीय तत्त्व सिद्ध हो सकते हैं, उनका संकेत यों किया जा सकता है। मानवीय विकास में केन्द्र और परिधि क्रमशः—विलियम जेम्स के अनुसार 'उपयोग और समन्वय', फ्रायड के अनुसार 'वैयक्तिक अवचेतन और समंजस मनोठगन', बर्गसाँ के अनुसार अन्तर्बोध (Intuition) और कालावधि (Duration) तथा वाइटहेड के अनुसार प्रक्रिया (Process) और सर्वांग संघटन (Organism) है, जिनके बीच व्यक्ति, समाज और इतिहास का विकास हुआ है।

विभिन्न दृष्टिकोणों से मानवीय विकास की सम्पूर्णता का बोध प्रस्तुत करने वाले इन विचारकों ने विकास की प्रगति को एक समन्वित महा शक्ति के रूप में स्वीकार किया, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति और समाज का ही एका नहीं, समस्त काल-खण्डों का और विश्व-विधान का भी एका निरूपित हुआ। समाज-दर्शन, मनःशास्त्र और समस्त विज्ञानों की नवीन शोधों से प्रमाणित हुआ कि मार्क्स और नीत्से के अतिवादी मध्यान्तर-काल की स्थापनाएँ एकांगी थीं; जिनसे आगे बढ़कर स्वीकार करना चाहिए कि 'भाव' को उदारतापूर्ण 'उपयोग' में लाकर 'सत्य' बनाने के लिए—श्रेष्ठ बनाने के लिए अभिलाषा और आदर्श का समन्वय हो, वैयक्तिक अवचेतन की विकृतियों के द्वारा फलीभूत समाज की प्रतिक्रियात्मक विषमता दूर करने के लिए व्यक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण मनोगठन हो, अन्तर्बोध के द्वारा परिष्कृत होकर तार्किक जीवन, प्रवृत्तियों का उचित सन्तुलन करे—परिवर्तनों के बीच अपने सातत्य (Continuity in change) को व्यापकता के रूप में पहुँचाने और विश्व-व्यापी प्रक्रिया में अपने को गुम्फित समझकर प्रत्येक व्यक्ति या इकाई, अपने पृथकत्व का संकीर्ण भाव त्याग दे और 'सर्वांग संघटन' (Organism) के प्रति सहज ही समर्पित होकर व्याप्ति को सार्थक करे। मानवीय विकास-बोध के इस नवीन धरातल ने आधुनिक सभ्यता के नवीन युग की पृष्ठ-भूमि बनाई है, जिस पर आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा और उसके नये विश्वासों का संघटन हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा उसके नवीन विश्वासों और उपलब्धियों के द्वारा निरूपित हो रही है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण का आरम्भ होते ही वह 'विश्लेषण का युग' समाप्त होने लगा, जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इतिहास, समाज और व्यक्ति के अन्तःसूत्रों की जाँच और खोज करने लगा था और जिसकी धारा में प्रगति लाने वाले विचारकों ने 'सर्वांग संघटन' के पहलुओं का विभाजन करके उनमें प्रत्येक का विलग अध्ययन किया, प्रत्येक की विशेषताओं का वर्गीकरण, सम्बन्धों का निरूपण और आधारों का अन्वेषण किया और सभ्यता-संस्कृति का विस्तृत विश्लेषण करके व्यक्ति और समाज के नवीन मूल्यों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महत्त्व निर्दिष्ट किया। अवश्य ही, 'विश्लेषण का युग' समाप्ति की ओर अग्रसर होने के क्रम में ही, अपनी परिणति भी प्रकट करने लगा, और उसकी सर्वतोमुखी उपलब्धियों से मानव-सभ्यता के नये विकास की दिशा आभासित होने लगी, उसके नवीन केन्द्रस्थ विश्वास और परिधिगत मूल्यों के आयाम परिलक्षित होने लगे। विगत युगों के दाय, आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से संचालित यह वर्तमान बीसवीं शताब्दी का 'संक्रमण-काल' है। प्रस्तुत 'संक्रमण-काल' आधुनिक सभ्यता के वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों में व्याप्त है, जिनमें प्रत्येक के अन्तर्गत वे सम्बन्धित दाय, परिणति और विकास-प्रेरणाएँ जीवन्त हैं। इस तथ्य का एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से आरम्भ होने वाले प्रस्तुत 'संक्रमण-काल' (Transit Period) का वैज्ञानिक आयाम आइन्सटीन से सर्वाधिक प्रभावित है। आइन्स्टीन की मान्यताएँ मूलतः अभूतपूर्व हैं और उनके प्रभाव भी सभ्यता के सभी पहलुओं पर छा गए हैं, साथ ही उनके आधार पर मानवीय विकास का भविष्य विराट् दीखता है।

यों तो वाइटहेड ने ही स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्येक यथार्थ इकाई (Actual entity) एक आंगिक प्रक्रिया (Organic Process) के रूप में ही ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि वह सूक्ष्म जगत् में उसी विश्व-व्यापी स्थिति को दुहराती है, जो विराट् जगत् में होती है;[1] और सारा विश्व ऐसी प्रक्रियाओं का सम्मिलित अभियान है, जिसके अनुसार वाइटहेड के संकेत से ही विश्व-व्यापी 'सापेक्षता' काल-व्यापी 'निरवच्छिन्नता' आदि का आभास मिल रहा था; किन्तु आधुनिक दर्शन के जिस दायित्व को स्पष्ट करते हुए उसने दर्शन और विज्ञान की पृथक् विश्वानुभूतियों का ऐक्य प्रस्तावित किया, उसकी पूर्ति आइन्स्टीन ने की।

आइन्स्टीन (१८७९-१९५५) के प्रसिद्ध 'सापेक्षतावाद' का परिचय देते हुए बर्ट्रण्ड रसल ने लिखा है—**"सापेक्षतावाद के सिद्धान्त में दार्शनिकों के लिए महत्त्वपूर्ण बात है 'देश' और 'काल' के बदले मात्र 'दिक्काल' की स्थापना। सामान्य ज्ञान से प्रतीत होता है कि व्यक्त जगत् 'वस्तुओं' से बना है, जो 'काल' की एक निश्चित 'अवधि' में उपस्थित और 'देश' (Space) में गतिशील रहती हैं। दर्शन और प्रकृति-विज्ञान ने 'वस्तु' की धारणा को 'भौतिक पदार्थ' की धारणा में बदल दिया और 'भौतिक पदार्थ' की बाबत विचार हुआ कि वह कुछ ऐसे तत्त्वांशों (Particles) से बना होता है, जिनमें प्रत्येक अत्यन्त लघु और सम्पूर्ण काल के प्रवाह में क्रियाशील है। आइन्स्टीन नें 'तत्त्वांशों' के बदले 'संयोगों' (Events) की**

१. वाइटहेड, 'प्रोसेस एण्ड रियैलिटी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति दी और प्रत्येक 'संयोग' का प्रत्येक 'संयोग' से एक पारस्परिक सम्बन्ध माना, जिसे उसने अवकाश (Interval) कहा, जिसका विभिन्न प्रकार से, काल-तत्त्व (Time element) और 'देश-तत्त्व' में विश्लेषण किया जा सकता है।"[1]....."इस प्रकार 'भौतिक पदार्थ' किसी सर्वोपरि विश्व-पदार्थ का अंश नहीं है, वरन् 'संयोगों' के पुञ्ज का सहज संकलन है।"[2] आइन्स्टीन के 'सापेक्षतावाद' से ज्ञात होता है कि अनुस्यूत तत्त्व 'दिक्काल' (Space-Time) की रूप रेखा पर 'भौतिक पदार्थ' या 'संयोग' अपना प्रभाव अंकित कर देता है और इसीलिए देश, काल और पदार्थ परस्पर स्वतन्त्र नहीं, सन्निकट सम्बन्ध हैं; इसीलिए कोई अस्तित्व, मात्र गतिहीन (Static) या गतिशील (Dinamic) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह दृष्टिकोण के गतिहीन या गतिशील आधार पर निर्भर है। अन्य सापेक्षतावादियों के अनुसार भी प्रत्येक परिवर्तन और गति 'सापेक्ष' होती है और फलतः उसके मूल्य (Values) समीक्षा-दृष्टि के परिवर्तन से बदल जाते हैं। सिद्ध होता है कि निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) कुछ भी नहीं है, सत्य सापेक्ष होता है और द्रष्टा के दृष्टिकोणाधार पर निर्भर रहता है। आइन्स्टीन गणित से सिद्ध करता है कि विस्तार को वस्तु के बदले संयोगों के सम्बन्ध में मापा जा सकता है, जिनमें देश और काल अविच्छिन्न हैं।

आइन्स्टीन के 'चार आयाम'-सम्बन्धी सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि 'दिक्काल' और उससे सम्बद्ध 'संयोग' के चार आयाम (Four Dimensions) होते हैं, जिनमें तीन तो 'दिक्' (Space) के आयाम हैं—लम्बाई, चौड़ाई और सघनता, पर एक 'काल' का भी आयाम है, जो ऋजु (Straight) तो है, पर किसी दिशा में नहीं, अपनी ही व्याप्ति में है। अतः 'काल' स्वयं ही चौथा आयाम (Fourth Dimension) कहा जा सकता है।[3]

आइन्स्टीन ने दो संयोगों के बीच 'अवकाश' के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है कि द्रष्टा जिस दिक्काल के धरातल से निरीक्षण करे, सापेक्ष सत्य में रहने वाले 'अवकाश' का अनुपात समान ही पायगा, यद्यपि उसके 'निरीक्षण' (Observation) के तत्त्व भिन्न आयामों के दीख सकते हैं।[4] उसने 'चार आयामों' के स्पष्टीकरण में भी एक स्थापना की कि 'काल' का आयाम ऋजु है, अतः वह 'देश' (Space) के विस्तार में गति की भिन्नता प्रकट करता है, क्योंकि 'प्रकाश की गति' 'देश' के विस्तार में 'काल' की गति से तीव्रतर हो जाती है और 'देश' की रचना तात्त्विक (Finite) होकर भी सीमाहीन है। आइन्स्टीन को इस विचार का आधार रिम्मैन के रेखागणित से मिला।[5] आइन्स्टीन ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय किया कि चतुरायाम-संधरण (Four-Dimensional Continuum) में, दिक्काल के अन्तर्गत लीन सर्वव्यापकता और निर्बाधता की वक्रिमा के फलस्वरूप 'मध्याकर्षण' (Gravitation) प्रतीत होता है। रिम्मैन के रेखागणित और अपने प्रारम्भिक सिद्धान्तों से बाहर की एक मुख्य वस्तु का भी विश्लेषण आइन्स्टीन ने किया, जिसे 'विद्युत् चुम्बकीय शक्तियाँ' (Electro-

१. बर्ट्रन्ड रसल, 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी।'
२. वही।
३. आइन्स्टीन, 'द वर्ल्ड एज़ आइ सी इट'।
४. बर्नेट हैम, 'नो दाईसेल्फ'।
५. जे० डब्लू० एन० सलिवां, 'द लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

magnetic Forces) कहते हैं। इन शक्तियों के सम्बन्ध में और आइन्स्टीन के अन्य सिद्धान्तों को पल्लवित करने में भी मैक्सवेल, एडिंगटन आदि ने कार्य किये हैं। आइन्स्टीन के सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता रही कि विज्ञान और कला तथा संस्कृति के अन्य अंगों की प्रेरणाएँ एक हो चलीं, जिसके मूल में आइन्स्टीन ने द्रष्टा की उस रचनात्मक उत्कण्ठा को स्थान दिया, जो धैर्य और श्रम के माध्यम से अनवरत, प्रकृति-विधान की मौलिक समरसता (Pre-established harmony) का उद्घाटन करने को गतिशील रही है। अतः आइन्स्टीन के विचार-पृष्ठ पर विज्ञान का रसात्मक मर्म भी खुल पड़ा।

आइन्स्टीन ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया था कि दिक्काल (Space-Time) का विकुञ्चन (Kink) ही विश्व है और देश तात्त्विक होकर भी सीमाहीन है,—इस सिद्धान्त में एडिंगटन (Eddington) ने महत्त्वपूर्ण प्रगति को योग दिया। एडिंगटन (१८८२-१९४४) ने सिद्ध किया कि विश्व एक तीव्रतम विराट् वेग से वर्द्धमान (Expanding) हो रहा है और नीहारिकाओं के संस्थान भी एक-दूसरे से छूटते हुए अनन्त की ओर चले जा रहे हैं, जो गणित और दूरवीक्षण की प्रणालियों से स्पष्ट हो जाता है; पर इस मत से भेद भी प्रकट किये गए हैं और एडिंगटन की इस घोषणा से कि विश्व में जैसे-जैसे गतिशीलता तीव्र और संस्थानों की दूरगामी स्थिति छोटी हो रही है, विश्व का अन्त सन्निकट आ रहा है और वह अन्त सभी तत्त्वों की एकरूपता में प्रकट होगा, जब वस्तु और तेज में कोई अन्तर न रह जायगा।[1] एडिंगटन ने भी वस्तु और तेज में अन्तर न मानकर मन और शरीर में या अन्य द्विविध संयोगों में एकात्मता पाई है और मात्र संयोजन की आनुपातिक गति से एक और अनेक का आन्तरिक भेद स्वीकार किया है। एडिंगटन ने यथार्थ, तथ्य, उत्पत्ति-कारण, वैज्ञानिकता और रहस्यवाद आदि का पुनर्मूल्यन किया है और जेम्स जीन्स ने विज्ञान के घनिष्ठ सम्पर्क में आये हुए दर्शन की नवीन समस्याओं की विवेचना का प्लैंक की क्वान्टम थ्योरी, भौतिक-तत्त्व, मनस्तत्त्व, मुक्त आकांक्षा, डिटरमिनिज्म, इनडिटरमिनिज्म—सभी का मूल्यांकन किया है। जेम्स जीन्स (१८७७–१९४६) का सर्वाधिक महत्त्व है रैडिएशन, रेडियो-एक्टिविटी, आणविक मानदण्ड, और क्वान्टम थ्योरी से 'स्टेलर डिनामिक्स' के सिद्धान्तों की स्थापना में; जिनके सहयोग से एडिंगटन कह सका कि विज्ञान की उपलब्धियाँ अब मानव-अस्तित्व की ऐसी व्याख्या करती हैं, जिनमें एक प्रकार का अतिजागरूक वैज्ञानिक रहस्यवाद है।[2]

बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमण काल का दार्शनिक आयाम बहुत अंशों में वैज्ञानिक आयाम की ही व्याप्ति है; क्योंकि एडिंगटन ने स्वीकार किया है कि पिछले बीस वर्षों में वैज्ञानिकों के लिए धर्म भी आवश्यक मार्ग हो चला है, यह वैज्ञानिक चिन्तन की दार्शनिक धारा के उस अभियान का फल है, जो आइन्स्टीन, हेन्सबर्ग, बोहर आदि के निर्देशन में सापेक्षतावाद और क्वान्टम सिद्धान्त तक पहुँच गया है। इस आधार पर आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा में विज्ञान की पहली मंजिल सन्निकट आ गई है, जिस पर मन, अस्तित्व, पदार्थ और संयोग का समन्वित, एकात्म और एक समग्र ज्ञान मिल सकेगा, जब उनके पारस्परिक अन्तर गलत सिद्ध होंगे। तब क्वान्टम सिद्धान्त के अनुसार किसी परमाणु

१. अलबर्ट स्टेनली एडिंगटन, 'द नेचर ऑफ द फिजिकल वर्ल्ड'।
२. सर जेम्स जीन्स, 'फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक अवधि तक संचरित अवस्था के सहसा परिवर्तित होकर नई और बिलकुल भिन्न अवस्था को जगह देने की धारणा का सही परीक्षण हो सकेगा, और प्रायः अवस्था के परिवर्तनों में अक्षुण्ण सातत्य (Continuity) की प्रतिष्ठा से मानव-शक्ति के अक्षय अभियान का मार्ग खुल सकेगा, जिसे रोकने को निरपेक्ष सत्य की सीमा-रेखा कभी मार्ग की असीमता को झुठला न सकेगी। तब वह सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणवत्ता भी जीवन में उदित हो सकेगी जिसके प्रभाव से विज्ञान, मात्र रचनात्मक होकर मानव-श्रेय का माध्यम बन सकेगा। उस मानवीय श्रेय का वैज्ञानिक लक्षण होगा वाइटहेड के शब्दों में—"**तत्त्वांशों की धारणा सर्वांग-संघटन की धारणा से पूर्ण होकर विराट् प्रक्रिया का अन्तर्दर्शन करेगी जो द्वित्व के भ्रम का निराकरण कर देगा।**"[1] विज्ञान के प्रति इस महत् आशा और उसकी प्रतिक्रियाओं से ही आधुनिक सभ्यता के नवीन विकास का दार्शनिक आयाम प्रभावित है, जिसके प्रमाण में वर्ट्रण्ड रसल की मान्यताओं का संकेत और सान्त्याना तथा सार्त्र की विचार-धाराओं का उल्लेख हो सकता है। भारतीय विचारकों में विवेकानन्द और अरविन्द की चर्चा भी योग्य है।

विश्व-युद्धों के पहले रसल की आरम्भिक धारणा थी कि मनुष्य के विश्वासों के मूल में कोई मिथ्या विचार हो और मनुष्य यह जानकर भी उसे धारण करने को मजबूर हो, तो संसार का मिट जाना ही अधिक ठीक है, क्योंकि चिन्तन का धर्म तो इतना ही रहा है कि वह अपनी प्रखर ज्वाला में संसार की मिथ्यात्व से भरी गन्दगी को जला दे।[2] रसल के मन में तर्क-संगत वास्तविकता की ऐसी तेज लगन थी कि वह मात्र गणित-मूलक तर्क शास्त्र का व्याख्याता बना रहा। गणित की अधुनिक दिशा में सर्वमान्य तथ्यों को झुठलाकर प्रतिकूल और पहेली जैसे तथ्यों की स्थापना उसे रुचिकर थी। गणित के मौलिक और शाश्वत यथार्थ की तरह ही वह दर्शन की स्थापनाओं को भी मौलिक और शाश्वत की स्थिति में देखना चाहता था। रसल ने कहा कि अन्तर्विरोधों से भरे इस संसार में कोई परमात्मा कहाँ होगा,—कोई उपहास करने वाला हो सकता है, वह भी व्यंग्यपूर्ण कल्पनाओं का ही फल होगा। आंगिक जीवन 'प्रोटो जोन' से विकसित होकर 'दार्शनिक' मनुष्य तक पहुँचा है; पर यह विकास सामूहिक नहीं है, सामूहिक ह्रास के कारण ही यह श्रेणीगत विकास हुआ है। युद्धों के पहले उसने घोषणा की कि मनुष्य उन अदृश्य वैधानिक शक्तियों की पूजा नहीं करता रहेगा; जो उसे अन्धविवशता में हीन सिद्ध करतीं और उसकी सारी सृष्टि को नश्वरता के गर्त्त में ढकेल देती हैं; मनुष्य अपने अन्तर की रचनात्मक शक्तियों पर ही आस्था रखेगा; जो उसे विफलता का सामना करके संघर्ष करने की प्रेरणा देती हैं और कुछ शताब्दियों के लिए तो संस्कृति और कला के गौरव से उसे उन्नत किये रहती हैं।[3] पर विश्व-युद्धों के बाद रसल ने राजनीतिक विचारों में वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध और सरकारों की स्वार्थपरता के बदले सहयोग-संचालन का समर्थन करना शुरू किया। स्वातन्त्र्य को उसने व्यक्तित्व-निर्माण की मौलिक आवश्यकता माना तथा शिक्षा को मस्तिष्क की वैज्ञानिक स्थिति का स्रोत। समूह के

१. वाइटहेड, 'ऐडवेंचर ऑफ आइडिआज़'।
२. विल ड्यूरंट, 'द स्टोरी ऑफ फिलॉसफी'।
३. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए सहनशीलता और सहयोग तथा व्यक्ति के लिए अपना पुनर्निर्माण ही धर्म मानकर रसल ने कहा—**"हमारे विद्यालय 'आदर्श व्यवस्था' (Utopia) के उद्घाटन का सूत्रपात कर सकते हैं।"** यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अमरीकी दार्शनिक 'सान्त्याना' ने सांसारिक विषमताओं और कुरूपताओं से पलायन करके 'सर्वश्रेष्ठ' के चिन्तन में उलझते हुए जीवन काट देने का जो श्रेय मानव-जाति के लिए प्रकट किया,[1] वह आत्मानुभूति के गौरव का वहन करके भी भावुकता के कारण व्यर्थ सिद्ध हुआ और रसल का दृष्टिकोण वास्तविकता के कारण सफल। अतः रसल व्यक्तित्व का समर्थक था और सान्त्याना अस्तित्व का।

आधुनिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय 'अस्तित्ववाद' है, जिसके तेजस्वी प्रतिनिधि की हैसियत से जाँ-पाल-सार्त्र ने अपने विचार स्थापित किये हैं कि मनुष्य का अस्तित्व मौलिक और उसका नियमन आत्मकृत है, क्योंकि ईश्वर मिथ्या और अस्तित्वहीन है, जब मानवीय उत्तरदायित्व का निर्वाह मनुष्य पर ही निर्भर है, जिसके फलस्वरूप आदमी अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति तथा प्रवृत्ति से कोई कार्य या दृष्टिकोण चुन लेता है। सार्त्र के अनुसार मानवीय आकांक्षा की स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्ति का सामूहिक उत्तरदायित्व, कि वह अपनी कांक्षा के चुनाव में स्वतन्त्र होकर सामान्य मानवीय औचित्य और मूल्यों की व्यापकता का निर्वाह करे—आत्मबद्ध असामाजिक न हो। वैयक्तिक दायित्व से अधिक गहरा मानवीय दायित्व ही सार्त्र की विचार-धारा से सार्थक है। किसी प्रकार की गति में, व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों की परम्परा और उसकी सर्व-संगत दिशा, उसके सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व की मर्यादा सिद्ध करती है।[2] जीवन-प्रक्रिया के द्वारा ही प्रमाणित होकर व्यक्ति का सामूहिक अस्तित्व दृष्टिकोण की स्वाधीनता सिद्ध करता है कि वह किन अन्तर्द्वन्द्वों का, किन संघर्षों का अनुभव उठा सका है। मनुष्य अपने व्यापक दायित्व की सम्पूर्णता में क्रियाशील आत्मनिष्ठ अस्तित्व है। इस विचार के अन्य समर्थकों में—पूर्व-परम्परा के क्रम से—हेडगर, जैस्पर्स, किर्कगार्ड, काफ्का, मार्सल आदि हैं।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं में विवेकानन्द ने भारतीय दर्शनों की परम्परा का मर्म समझकर वेदान्त के 'अध्यात्मवाद' को तो माना, पर मानव को अपने दायित्व का अधिकारी भी माना, क्योंकि मोह-नाश या निरन्तर परिष्कार के पथ पर उन्होंने सभी ज्ञान-विज्ञान को द्वन्द्वग्रस्त समझकर आन्तरिक विश्वास के परिष्कृत रूप—'प्रेम' को ही सम्बल के रूप में स्वीकार किया, जो व्यापक प्रवृत्तियों का प्रेरक है और मानव ही नहीं, समस्त जड़-जंगम विश्व के अस्तित्व का संचालक है।[3] आधुनिकतम तत्त्वज्ञ अरविन्द की स्थापनाएँ अत्यधिक अतिमानवीय हैं, जिनके अनुसार प्रकृति मानव की मनोवस्थाओं के द्वन्द्वात्मक धर्म को 'अतिक्रान्त' (Transcendent) करने के लिए स्वयं 'योग-साधना' कर रही है; और यदि मानव-व्यक्तियों का समूह सजग रूप से भी इस साधना में योग दे तो शताब्दियों का विकास, वर्षों में हो चले, और जड़, प्राण एवं मन में अतिमानस की स्थिति (Supramental Manifestation) चरितार्थ हो, क्योंकि आदिम विकास के पहले ऐसे ही प्रकृतिकृत परिवर्त्तन के फलस्वरूप जड़

१. जॉर्ज सान्त्याना, 'रीज़न इन साइन्स'।
२. जाँ-पाल-सार्त्र, 'एक्ज़िस्टेंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमैनिज़्म'।
३. स्वा० विवेकानन्द, 'प्राच्य और पाश्चात्य'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चेतन और क्रमशः पशु-प्राण में मानव-बुद्धि का समावेश हुआ। ब्रह्म तो प्रकृति से आविष्ट है, जिसके निवर्त्तन-विवर्त्तन के क्रम से मनुष्य चिन्मय होकर शाश्वत आनन्द से पूर्ण 'दिव्य-जीवन' में परिणति प्राप्त करेगा।[1]

बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमण-काल का सामाजिक आयाम भी बहुलांश में पूर्ववर्णित दार्शनिक आयाम से निरूपित है। ऐसा इसलिए कि दर्शन की प्रगति उस सीमा तक आ चुकी है, जहाँ नैतिक चिन्तन से उसका संगम हो रहा है और नैतिक चिन्तन सभ्यता के सामाजिक आयाम का स्वरूप है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के लिए सर्व-सम्मत औचित्य की खोज रहती है। व्यक्ति की क्रियाशीलता ही समाज की क्रियाशीलता बनकर धर्म, व्यापार, कांक्षा और निःश्रेयस् में प्रगति कर रही है, साथ ही मनुष्य की अनुभूति में सिद्ध होने वाले प्रत्येक सत्य के प्रति मानवीय दायित्व है कि उसे व्यापक औचित्य की दृष्टि से उदारतापूर्ण उपयोग में प्रयुक्त करे; जिसके फलस्वरूप सत्य और सर्वोचित में अन्तर न रहे। विलियम जेम्स के 'प्रैगमेटिज्म' के अनन्तर यह विचार-धारा बढ़ती ही गई।[2]

जॉन डेवी (१८५०-१९५२) की केन्द्रीय समस्या है उन सम्बन्धों की खोज, जो प्रकृति-विज्ञानों की प्रगति से परिवर्त्तित विश्वासों के प्रचलन और मूल्यगत विश्वासों के प्रचलन के बीच व्याप्त हैं। जॉन डेवी के विचार हैं कि विज्ञान ने प्रयोग और स्थापना की परम्परा से ज्ञान और क्रिया के बीच की दूरी को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है, फलतः सिद्धान्तों के लिए सर्वमुखी मानवीय अनुभव का क्षेत्र खुल पड़ा है, जिसमें एक समन्वित समग्रता है। व्यावहारिक यथार्थ और प्रयोगात्मक मार्गों के उपयोग से समग्रता की अनुभूति सम्भव है। उचित और अनुचित के निर्णय में व्यवहार के आधार पर प्रयोगात्मक चिन्तन हो, तभी वर्तमान परिस्थिति की माँग पूरी होगी[3]। उपयोग के आधार पर मूल्यों का निरूपण उचित तो है, पर उपयोग के क्षेत्रों का परिष्कार पहली आवश्यकता है, जिसका तात्पर्य है आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण। रसात्मक आनन्द, बौद्धिक स्वीकृति और नैतिक समर्थन के योग्य एक विकसित सामान्य सुरुचि का प्रसार ही अनुभवमयी सभ्यता की दिशा है। अपेक्षित मूल्यों का उपयोग उस माध्यम (Instrument) के रूप में हो सकता है, जो अपेक्षणीय का अन्वेषण करे। जो सन्तोष (Fulfilment) न दे, वह 'मूल्य' नहीं हो सकता पर सन्तोषप्रद स्थिति को 'मूल्य' बनने के लिए अनुभवों के परिशोधन से गुजरना पड़ता है। यही सामाजिक 'मूल्य' का प्रमाण है।[4]

महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) ने भारतीय चिन्ता-धारा और आधुनिक समस्याओं के बीच आत्मकेन्द्रित समन्वय का दृष्टिकोण रखते हुए स्पष्ट किया है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति सच्ची है, अतः हर एक को अपनी आत्मा की आवाज का हुक्म मानना चाहिए, पर यह आवाज सुषुप्त या स्पष्ट रहती है, जब तक आदमी सत्य की खोज में आत्मकष्ट सहन नहीं करता, जिसके फलस्वरूप सन्तुलन और शुद्धि की प्रक्रिया चल पड़ती है। इसी

१. श्री अरविन्द, 'द लाइफ डिवाइन'।
२. विल ड्यूएंट, 'द स्टोरी ऑफ फिलॉसफी'।
३. जॉन डेवी, 'ह्यूमन नेचर एण्ड कण्डक्ट'।
४. जॉन डेवी, 'रिकन्स्ट्रक्शन इन फिलॉसफी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया में मनुष्य सबसे प्रेम करना सीखता है, क्योंकि वह अभय हो जाता है; और प्रेम की ही शक्ति से दुनिया टिकी है और टिकती है। गांधी ने जोर दिया है कि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। जो एक के लिए सत्य है, दूसरे के लिए असत्य प्रतीत हो सकता है, पर जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ सभी सत्य एक पेड़ के भिन्न पत्तों के समान संयुक्त और समग्र सिद्ध होते हैं।[1] विचार, वाणी और कर्म में सत्य का होना ही सत्य और उसका ज्ञान है—जिस कसौटी के उपयोग से उचित और अनुचित का निर्णय हो सकता है, ईमानदारी से काम करने में ही हमारी मुक्ति और सभी आवश्यक जरूरतों की पूर्ति भारी है, ऐसा विश्वास गांधी की युगान्तरकारी संश्लिष्ट घोषणा है। यही व्यक्ति के माध्यम से समूह का श्रेय है। रवीन्द्रनाथ (१८६१-१९४१) ने भी इस दृष्टिकोण से सहमत होकर प्रक्रियागत मनुष्य के किसी भी व्यक्ति के लिए परिणत श्रेय का उद्घाटन किया है : **"मनुष्य के दुःख के ऊपर की बात यह है—मनुष्य अपने चैतन्य को असीम की ओर प्रसारित करता है, ज्ञान में, प्रेम में, कर्म में वह वृहत्तर ऐक्य को आयत्त करता चला आ रहा है, अपनी समस्त महत् कीर्ति में उनका निकटतर सामीप्य पाने के लिए उसने अपनी व्यग्र बाहुएँ बढ़ाई हैं, जिन्हें 'ते सर्वगं सर्पतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवा विशन्ति।' मनुष्य हो, जन्म लाभकर क्या आराम चाहूँगा, विश्राम पाऊँगा कहाँ ? मुक्ति पानी होगी, मुक्ति देनी होगी, यही उसके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य है।"** [2] मनुष्य के इस अन्तहीन गौरव-पथ पर अभियान के लिए समग्र मानव (Unitary man) की प्रतिष्ठा आवश्यक है; तब देश, परिस्थिति, स्वार्थ, नीति और संस्कृतियों की भिन्नता में विभिन्नता और विध्वंसलीन मानव-समाज के योग्य एक व्यावहारिक, सम्पूर्णतावादी धरातल अनिवार्य है; जिसकी ओर सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव देने के क्रम में जवाहरलाल नेहरू ने सहयोग और शान्ति का निक्षेप किया है। नेहरू के 'सह-अस्तित्व' (Co-existence) और 'पंचशील' से पुष्ट दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति के संचालक देशों को पारस्परिक स्वतन्त्रता, सर्वोन्मुख सहयोग, अधिकार-रक्षा और मित्रता बरतनी चाहिए, जो व्यक्ति के लिए भी समान आदर्श है और उसकी व्याख्या अस्तित्ववाद के लिए समाधान है।

बीसवीं शताब्दी के संक्रमण-काल का सांस्कृतिक आयाम विज्ञान, दर्शन, समाज-दर्शन, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास तथा दायित्वपूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार-तत्त्वों से संवलित है। मिश्रित अनुभवों का यह महत्त्वपूर्ण भाग भी मानव-विकास की अधुनातन समग्रता का आभास देने लगा है और सोरोकिन के अनुसार सच ही प्रतीत होता है कि संसार की सभी संस्कृतियों में मिश्रण की अवस्था के साथ समाहारात्मक अवस्था आई, जो आधुनिक युग के आरम्भ से अब तक रही है, पर अब वे लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के क्षेत्रों में इसका प्रयास भी चल रहा है कि संस्कृतियों की समन्वयात्मक अवस्था जन्म लेगी और इस समन्वयवाद (Integralism) के धरातल पर मानव-सभ्यता की समग्रता प्रतिष्ठित होगी।[3] समग्र मानव (Unitary man) का आदर्श समस्त सैद्धान्तिक

१. महात्मा गांधी, 'मंगल प्रभात'।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'मानुषेर धर्म'।
३. सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स, भा० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यावहारिक परम्पराओं की मर्यादा का सहज समन्वय, परिष्कार और प्रेरणामय विकास है। निश्चय ही संस्कृति के इस क्षितिज का निर्माण एक प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है; जिसकी सर्वाधिक अभिव्यक्ति कला में हुई है। कला के आधुनिकतम विचारकों में सांस्कृतिक चिन्तन के विराम स्तम्भ हैं क्रोचे, रवीन्द्रनाथ, टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड, प्रसाद और अरविन्द; जिनकी मान्यताओं से कला, संस्कृति और उसके अन्यतम माध्यम साहित्य के मूल्य-निर्धारण में योग मिला है। साहित्य और कला में अन्य धाराओं के जन्म देने वाले प्रकृतिवादी (Naturalist), प्रभाववादी (Impressionist) और अतियथार्थवादी (Sur-realist) विचारकों की चर्चा अगले पृष्ठों में होगी, पर संस्कृति और कला की गत्यात्मक (Dynamic) व्याख्या देने वाले उक्त विचारकों ने मूल्य-चिन्तन में 'समग्र मानव' की समन्वयात्मक संस्कृति की झलक दी है।

क्रोचे की मान्यता थी कि इतिहास का एक संश्लिष्ट दर्शक होना चाहिए, जो मानव-सभ्यता के सभी क्षेत्रों का समन्वित सम्बन्ध प्रस्तुत करे। क्रोचे (१८६६-१९५२) ने स्थापना की कि कलाकार और कला-रसज्ञ, कृतिकार और ग्राहक—दोनों में सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत सौन्दर्य-रहस्य तो वह प्रतिमा (image) स्वरूप बिम्ब ही है, जो पूर्ण अभिव्यक्ति से मुक्त है, अतः सौन्दर्य की पहचान पूर्ण अभिव्यक्ति (Adequate Expression) ही है, क्योंकि वह प्रायः समग्र है।[1] क्रोचे के इस विचार से संस्कृति के मूल—'सौन्दर्यबोध' का एका सिद्ध होता है। रवीन्द्रनाथ ने इस विचार-धारा के दार्शनिक वृत्त को आगे बढ़ाकर कहा : **"जो सत्य हमारे लिए पूर्णरूप से सत्य होता है, हमें उसी से प्रेम होता है, और उसी से हमें आनन्द की प्राप्ति होती है जब हम यह समझ लेते हैं तब सत्य की अनुभूति और सौन्दर्य की अनुभूति एक हो जाती है। मनुष्य का समस्त साहित्य, संगीत और ललित कलाएँ ज्ञात और अज्ञात रूप से इसी ओर जा रही हैं। समस्त तुच्छ और अनादृत वस्तुओं को मनुष्य का साहित्य प्रतिदिन सत्य के गौरव में आविष्कृत करके कला के सौन्दर्य में चित्रित कर देता है, जो केवल परिचित था उसे आत्मीय बना देता है, जो केवल दिखाई देता था, उसे मन का विषय बना देता है।"**[2] रवीन्द्रनाथ की मान्यता और टी० एस० इलियट की मान्यता में भी एक प्रकार का सामयिक सन्तुलन है। बीसवीं सदी के सांस्कृतिक विचारकों में इलियट ने व्यक्ति और समाज, प्रतिभा और परम्परा आदि द्वन्द्वात्मक सांस्कृतिक विषयों के मौलिक सम्बन्धों की खोज की है, जिसके आधार पर उसने व्यक्ति की संस्कृति को जाति और फिर समाज की संस्कृति पर अवलम्बित माना है और संस्कृति को नागरिकता, विद्यादर्शन, कला आदि सभी मानवीय सामर्थ्यों की 'पूर्णता' (perfection) के रूप में स्वीकार किया है; जिसका लक्षण है, 'जीवन की व्याप्तशील योग्यता'[3]—जिसे सभी पिछली-अगली पीढ़ियाँ एक हद तक स्वीकार करती हैं। इलियट ने समग्रता में समाहार देखा है। तभी हर्बर्ट रीड का अध्ययन और निर्णय सार्थक जँचता है, जब आदिम, धार्मिक, राष्ट्रीय, पुनरुत्थानवादी, बौद्धिकतावादी, यथार्थवादी, प्रकृतिवादी, प्रतीकवादी अभिव्यञ्जनावादी और आधुनिकतावादी कला के

१. क्रोचे, 'एस्थेटिक'।
२. रवीन्द्रनाथ, 'साहित्य'।
३. टी० एस० इलियट, 'सैलेक्टेड प्रोज'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः विकास की विवेचना करने के बाद वह सौन्दर्य-बोध की सृष्टि—'कला' के सम्बन्ध में परिणत मूल्यों का संकेत करता है : **"कला के सर्वोपरि मूल्य, व्यक्ति और उसके काल-खण्ड तथा परिस्थितियों को अतिक्रान्त करके श्रेष्ठता की ओर प्रेरित कर आनन्द देते हैं।"** हर्बर्ट रीड ने कलाकार के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है : **"उसका जिन मूल्यों पर विश्वास होता है, वे मानवता के नैसर्गिक श्रेय होते हैं।"**[1] हर्बर्ट रीड ने कला की पूरी जवाबदेही कलाकार पर ही छोड़कर उसकी समग्रतामयी अनुभूति को ही स्वीकार किया है, साथ ही उसे अपनी रचनात्मक प्रेरणा के प्रति ही उत्तरदायी माना है, जो बीसवीं सदी के इस संक्रमण काल में 'रचनात्मक प्रक्रिया' के रूप में विस्तृत होकर कला के मूल में स्वीकृत हुई है। इसी उपक्रम में, जयशंकर 'प्रसाद' की स्थापना दूर तक उपयुक्त सिद्ध होती है, कि 'काव्य-कला' या विस्तृत आधुनिक अर्थ में कला, जो संस्कृति की सम्पूर्णता को व्यक्त करती है,—कलाकार की सापेक्षता में 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' है, और आत्मा के कलन में प्रतिभा ही स्थितियों के तीन प्रकारों से गुजरती है, जिन्हें अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत कह सकते हैं। इनके फलस्वरूप तीन प्रकार के प्रतीक-विधान भी होते हैं, जिनमें क्रमशः आदर्शवाद, यथा-तथ्यवाद और व्यक्तिवाद के मूल सन्निहित हैं।[2] आत्मा की यह संकल्पात्मक अनुभूति भी व्यक्ति की रचनात्मक प्रक्रिया से मौलिक सम्बन्ध रखती है और सारी चिन्तन-धाराओं के विवेचन के बाद भी स्पष्ट दीखता है कि रचनात्मक व्यक्ति के प्रक्रियात्मक विकास से ही जाति, समाज या मनुष्य-मात्र का विकास सम्भव है और व्यक्ति के 'प्रक्रियात्मक विकास' को ही व्यक्तित्व का विकास माना गया है। अरविन्द की विचार-प्रणाली में मानवीय व्यक्तित्व का सामाजिक विकास ही संस्कृति का स्वरूप है, धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म ही संस्कृति के तत्त्व हैं, जिनमें कला, नीति और विज्ञान के अनुसार क्रमशः सौन्दर्य, कर्तव्य-पालन और युक्तियुक्तता आधुनिक युग के उच्चतम सांस्कृतिक ध्येय हैं; पर वे तत्त्व जिस युग के हैं, उसमें मन और बुद्धि ही व्यक्तित्व के सत्य हैं, आत्मा नहीं। इसीलिए कला, नीति और विज्ञान अपने से परे एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं, जो मानव-समाज को पूर्णतम प्रेरणा प्रदान कर सकता है।[3] अरविन्द का विश्वास है कि यदि हम धर्म के बहिरंग की सापेक्षता और अन्तरंग के साररूप तथा विविधता की भीतरी पारस्परिक पूरकता को पहचानकर उसकी समूची सीमाओं का अनुभव कर लें, तो समग्रतापूर्ण आध्यात्मिक धर्म के लिए एक सुन्दर भूमिका तैयार हो जायगी। अरविन्द ने लिखा है कि पूर्णतर ज्ञान, महत्तर सौन्दर्य और आनन्दानुभूति तथा बलवत्तर चित्-शक्ति की अभीप्सा को जाग्रत करके और उसे उत्तरोत्तर गम्भीर, व्यापक और शक्तिशाली बनाते हुए, जब व्यक्ति उच्चतर सम्भावनाओं को चरितार्थ करने का यत्न करता है तो उसकी पुरानी आसक्तियाँ उससे छूटने लगती हैं। आधुनिक सभ्यता में यही सांस्कृतिक अवस्था वर्तमान है जिसकी काव्य की दिशा में नई प्रेरणा का संकेत भी अरविन्द ने किया है कि 'अति मानस' के दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करके जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को आलोकित करने वाली जातियाँ

१. हर्बर्ट रीड, 'द मीनिंग ऑफ आर्ट'।
२. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य, कला और अन्य निबन्ध'।
३. अरविन्द, 'फ्यूचर पोएट्री'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही भावी युग की महाशक्तियाँ बन जायँगी और जिस भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और उसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे, वे ही भविष्यकृत युग के अमर स्वरकार होंगे। 'अतिमानस' द्वन्द्वपूर्ण मन या बुद्धि के बदले निर्द्वन्द्व 'आत्मा' पर निर्भर होकर एक समग्रतापूर्ण संस्थान होगा, जो सभ्यता के दिव्य, समग्र और परिणत मानव-युग का द्वार खोल देगा।

अरविन्द की उक्त स्थापना को, योग-सम्बन्धी घेरे से बाहर लाकर वर्द्धमान ज्ञान-प्रवाहों के वैज्ञानिक समन्वय और प्रकृति में व्याप्त 'निर्माणशील प्रक्रिया' (Formative process) के अन्तर्दर्शन का सन्देश समकालीन महान् चिन्तक एल० एल० ह्विट ने दिया है। ह्विट का विश्वास है कि आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा 'मानवीय समग्रता' की दिशा है, यह बीसवीं शताब्दी के संक्रमण-काल में उसके सभी प्रक्रियागत आयामों से सिद्ध हो चुका है। विकसित देशों में जहाँ कोई शासन-जन्य हस्तक्षेप नहीं है, मनुष्य के सारे प्रयास 'समाहार' और क्रमिक 'समग्रता' की ओर चल रहे हैं, क्योंकि आदर्शपूर्ण चिन्तन और विकृतिपूर्ण प्रवंचनामय जीवन के बीच प्रतिकूलता सभी संस्कृतियों के लिए अस्वाभाविक समस्या है जिसे जनतन्त्र (Democracy) भी नहीं सुलझा सका; और मनुष्य की समग्रता विच्छिन्न होकर आन्तरिक-व्यावहारिक कुण्ठाओं से घिर गई। इसलिए अब विश्व-संस्कृति के निर्माण के उपक्रम में नया विश्वास प्रस्तुत हो रहा है कि आधुनिक सभ्यता ऐसे विश्व-जनीन (Universal) चिन्तन के प्रसार से ही टिक सकती है, जो संयुक्त मानवीय विज्ञान और स्थायी विश्व-राज्य के लिए आधार बना सके।[1] ऐसे चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए 'प्रक्रिया की वाणी' (Language of process) की आवश्यकता है; जिसके द्वारा मनुष्य प्रक्रिया का सच्चा दर्शन उपलब्ध करेगा, और सभी संघर्षशील रूढ़ियों से वर्तमान असन्तोष तथा पृथकत्व से त्राण पा सकेगा। ह्विट के दृष्टिकोण में वाइटहेड के प्रक्रिया-चिन्तन का विकास है, जिसके फलस्वरूप 'समग्रमानव' (Unitary man) के मूल्यों की स्थापना हुई है। ह्विट के अनुसार स्वीकार करना पड़ता है कि बहुमत पर निर्भर जनतन्त्र की सम्भाव्य सीमाएँ असन्तोष के निराकरण में सफल नहीं होतीं तो 'समग्रात्मक प्रणाली' ही सफल होगी, जिसमें मानसिक प्रक्रिया विश्व-व्यापी निर्माण प्रक्रियाओं की विशिष्ट प्रतिनिधि होगी, जिसका मर्म होगा—मनुष्य की वस्तु-परक दृष्टि का विकास। ह्विट की घोषणा है कि सभ्यता का नवीन युग 'समग्र मानव-युग' होगा, जिसके प्रारम्भ होने के क्रम में आस्था जागनी चाहिए कि 'निर्माण प्रक्रिया' (Formative Process) समस्त प्रकृति में ही व्याप्त है। मानवीय परम्पराओं के पुनर्संघटन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त होगा, जिसका रूप होगा मानवीय सिद्धान्तों का परिष्करण और पुनर्मूल्यन। उक्त मान्यता से ही मनुष्य की भावना, अनुभूति और क्रियाशीलता का संचालन योग्य है, जो विश्वासों के मूल में पैठकर उसके अक्षय गौरव की नींव रखेगी। मनुष्य प्रकृति को और स्वयं को, ऐसा संस्थान मानकर ही सही समझ सकता है, जिसमें एक सर्वोपरि निर्माण-प्रक्रिया एक तरह की 'सर्वांगीण नैतिक व्यवस्था' (Organic hierarchy) के अन्तर्गत, अन्य समानधर्मी विस्तृत प्रक्रियाओं के संघटन में संयुक्त होती है। प्रकृति के प्रत्येक संस्थान की स्वतन्त्रता और दायित्व का यही स्वरूप है। व्यक्ति या मानव-

१. एल० एल० ह्विट, 'नेक्स्ट डेवलपमेंट इन मैन'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति में जब कोई विकृति या दुष्प्रयोग परिलक्षित होता है, तो सिद्ध होता है कि निर्माण-प्रक्रिया से संचालित उस सर्वांगीण नैतिक व्यवस्था में उस संस्थान से सम्बन्धित बाधाएँ आ गईं जो समग्रता को खण्डित कर रही हैं।[1] अतः निर्माण-प्रक्रिया के व्यक्ति विश्व-व्यापक स्वरूप का साक्षात्कार मूलारोपण और क्रियात्मक अनुगुम्फन तभी हो सकता है, जब विज्ञान अपनी पृथकता छोड़ दे यानी संयुक्त मानवीय ज्ञान का स्वर बन जाय और समग्रात्मक कल्याण में नियोजित हो। तब, मानव-सभ्यता की सम्भावनाएँ जिस पृष्ठभूमि पर खड़ी होंगी, ह्विट ने उसकी भी भविष्य-वाणी की है—मनुष्य शारीरिक रचना के विकास, जीवन और विश्व के इतिहास, सभ्यता की उन्नत-परम्परा और समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय गति-विधि में 'निर्माण-प्रक्रिया' के युक्तियुक्त संचालन और अभिव्यंजन के स्वरूपों का सन्धान करेगा और उसकी सफलता ही मूल्यांकन की कसौटी प्रस्तुत करेगी। अन्तर्राष्ट्रीय गति-विधि एक प्रकार की संयुक्त व्यवस्था (Unitary order) की ओर प्रगति करती चलेगी, जिसके द्वारा राष्ट्रीय गति-विधि की वैविध्यपूर्ण व्यापकता का पता चलेगा। विश्व-संस्थान के सभी तत्त्वों की पारस्परिक निर्भरता का विश्वास बढ़ेगा। समस्त ज्ञान-धाराओं के समन्वय से संयुक्त मानवीय विज्ञान का सन्तुलित दृष्टिकोण प्रशस्त होगा। प्रत्येक समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए, विकास की संयुक्त प्रक्रिया (Unitary Process of Development) के अन्तर्गत उसकी व्याख्या ढूँढ़नी पड़ेगी। संयुक्त विज्ञान ही साधनों का महास्रोत रहेगा। समाजवादी नैतिक शासन-व्यवस्था (Social Hierarchy) की शक्ति का और समग्रात्मक कुशलताओं (Unitary Skills) का प्रसार होगा, जिसका लक्ष्य रहेगा—अभावों और स्वार्थों से प्रताड़ित मानवता का अविराम उन्नयन। ह्विट के अनुसार समस्त ज्ञान धाराओं और सांस्कृतिक शक्तियों को पारस्परिक समाहार और संयुक्त समग्रता के मार्ग से ऐसे 'समग्र मानव-युग' के अनुकूल व्यक्तित्व के निर्माण में नियोजित होना चाहिए।

आधुनिक सभ्यता के नवीन विकास की दिशा तो यही प्रतीत होती है, किन्तु ह्विट का 'संयुक्त मानवीय विज्ञान', कला की अव्याहत आवश्यकताओं को अपने प्रसार में समाहित नहीं कर सकता, क्योंकि कला तो मनुष्य की उपलब्धियों के मूल्यांकन और उपयोग के लिए समग्रात्मक रस-दृष्टि का प्रयोग करती है और सहज ही वह क्षमता सिद्ध होती है, जिसके माध्यम से मनुष्य, व्यक्तित्व की समग्रता में उपलब्धि के मर्म का निर्विशिष्ट आनन्द ग्रहण और अभिव्यक्त करता है।[2] कला के सर्वाधिक व्यापक और सबल स्वरूप—'साहित्य' का भी यही स्वभाव है और होना चाहिए। इसीलिए संक्रमण-काल का 'साहित्य' भी समाहारात्मक प्रवृत्तियों से परिचालित, समग्रात्मक श्रेय से प्रेरित और सर्वांगीणता के मर्म से स्फुरित हो रहा है। इसीलिए, एक क्षण या अनन्त काल की अनुभूति को समग्र भाव से व्यक्त करने के लिए समानतः प्रतीक-योजना और अर्थ-प्रयोग के उपकरण साहित्य के साधन बन गए हैं।

---

१. राजेन्द्र प्रसादसिंह, 'मादिनी' (सूर्य)।
२. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सूर्यकान्त

काव्य-शास्त्र का मूल और औचित्य

ऋग्वेद का x 177. दूसरा मन्त्र वाणी के उद्गम की तीन अवस्थाओं पर मार्मिक प्रकाश डालता है :

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति
तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः ।
तां द्योतमानां स्वयं मनीषाम्
ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति ।।

मन्त्र सूर्यपरक है, किन्तु अनायास ही यह कवि की आविष्ट वाणी पर घट जाता है। वाणी का उद्गम संक्षेप में इस प्रकार है—प्रतिभा की अग्नि में तपकर कवि पतंग, अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है और नवोदित दैवी आवेश द्वारा वह जगती के कण-कण में नव-जीवन फूँक देता है। प्रतिभा-विद्युत् का बटन दबते ही उसके अन्तस् में वाणी के अंकुर फूट निकलते हैं। वाणी की यह अवस्था परा कहाती है। प्रतिभा की दूसरी स्टेज पर कवि गन्धर्व, अर्थात् गौ रूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है और इस स्थिति में उसकी वाणी वर्णों में व्याकृत होने के लिए आगे बढ़ती है। उसकी यह अवस्था मध्यमा है। प्रतिभा की तृतीय अवस्था में पहुँचकर कवि की वाणी सर्वांगपूर्ण बनकर वर्ण-पद-वाक्य में बिखर जाती है और अपनी लहरियों से वह संसार को सरसित करने वाले 'ऋत' को तरंगित कर देती है। इस ऋतरूप 'रस' को विश्व में प्रवाहित करना और जगती के कण-कण को उसमें सराबोर कर देना ही सच्चे कलाकार की वाणी का परम लक्ष्य है। वाणी की इसी अवस्था को हम 'बैखरी' संज्ञा देते हैं।

मन्त्र का पहला शब्द 'पतंग' कवि के अन्तस् में उद्दीप्त होकर जलने वाली प्रतिभाग्नि के व्यापार को उपलक्षित करता है। इस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता उसमें भस्म हो जाती है और वह नितरां सूक्ष्म रह जाने के कारण जीवन के आदिस्रोत 'रहस्' तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। रहस् के साथ तदात्म होते ही कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतंग (सूर्य) की नाईं दमकने लगता है और उसकी गति चराचर में उसी प्रकार निर्बाध हो जाती है जैसे कि स्वयं सूर्य भगवान् की। दैवी आवेश का स्नेहभरा धक्का कवि को रभसा रवि रूप में बदल देता है और अब वह अनायास ही उस विश्व-संगीत की तान छेड़ देता है जिसके कारण कि सूर्य भगवान् का नाम 'रवि' अर्थात् 'शब्द उत्पन्न करने वाला' पड़ा है। निश्चय ही 'रवि' शब्द की व्युत्पत्ति रु धातु से है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है। वेदों के अनुसार भुवनभास्कर 'रवि' वेदत्रयी के जन्मदाता हैं; इड़ा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती और भारती के वे आदिस्रोत हैं; और व्यक्त को अव्यक्त रूप देने वाले स्फोट के वे परम निधान हैं। हमारे पुराणों ने 'रवि' के लयवाही रूप की बार-बार प्रशंसा की है और विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दाँते, शेक्सपीयर एवं गेटे आदि ने कवि को विश्व-संगीत का जन्मदाता कहकर उसकी आरती उतारी है।

रवि-रूप कवि अपनी रभः—प्रसूत वाणी की द्वितीय अवस्था में 'गन्धर्व' का रूप धारण कर लेता है और तब उसकी वाणी वर्णपदादि में व्याकृत होने के लिए अग्रसर होती है। तीसरी दशा में पूर्ण रूप से व्याकृत होकर जब उसकी कूक प्रस्फुटित होती है तब वह अनायास ही, विश्व को चलाने वाले ऋत की रागात्मक व्यवस्था में व्याकृत हो जाती है।

कवि-वाणी की इस प्रक्रिया में अथर्ववेद का X. ८. ३३वाँ मन्त्र एक नई छटा ला देता है :

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

अर्थात् अपूर्व (प्रतिभा-तत्त्व) के द्वारा प्रेरित हुई कवि-वाणी जगत् के रहस्य को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु-तत्त्व के विवरण में व्याकृत हुई कवि-वाणी का जहाँ पर्यवसान होता है महत् ब्रह्म वही है। कवि-रचना का परम लक्ष्य यह महत् ब्रह्म ही है। मन्त्र की पदावली से स्पष्ट है कि विश्व के रहस्य को वही वाणी व्यक्त कर सकती है जो प्रतिभा के तेज से चमत्कृत हो और जिसमें दैवी तवस्त्वरा आ बसी हो।

कविता के उद्गम एवं उसके लक्ष्य का निर्देश करते हुए 'ऋग्वेद' का I १६४.४९वाँ मन्त्र सरस्वती से निम्नलिखित प्रार्थना करता है :

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा बसुविद् यः सुदत्रः
सरस्वति तमहि धातवे कः॥

अर्थात् हे वाणि ! तुम मुझे अपना वह शिव, एवं सौख्यमय, पूर्ण स्तन पीने को दो जो अशेष वरणीय पदार्थों का पोषण करने वाला है; जो रत्नों का दाता, शोभन पदार्थों का प्रापयिता, एवं अनायास ही सब-कुछ देने वाला है। निस्सन्देह वैदिक ऋषियों के अनुसार सरस्वती रसमयी है; और हमारे वेद ने रससारी सरस्वती से लोकोत्तर निद्रा एवं प्रसाद को उत्पन्न करने वाले स्तन्य की प्रार्थना करके काव्य के आत्मभूत 'रस' की ओर संकेत किया है, जिसका आस्वादन करके कलाकार तो अमर हो ही जाता है, पर साथ ही वह श्रोता एवं प्रेक्षक को भी ब्रह्मानन्द में सराबोर कर देता है।

उक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि लयसारी वाणी का आत्मा 'रस' है और इसी के उन्मीलन से रससिद्ध कलाकार अपने-आप को धन्य करते आए हैं। काव्य के आत्मरूप 'रस' का काव्याचार्यों ने सुन्दर विवेचन किया है।

ऋग्वेद का VIII. 100. १०वाँ और ११वाँ मन्त्र वाणी के आत्मरूप पयोरस की ओर फिर संकेत करता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद भद्रा।
चतस्रऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

दोनों मन्त्रों में लयवाही वाणी को 'धेनु' नाम से पुकारा गया है और दोनों ही मन्त्रों में इसे मन्द्रा अर्थात् प्रसादक कहकर उसके पयोरस की लोकोत्तरता को व्यंजित किया गया है। लयसारी वाणी के आत्मरूप 'रस' की मन्द्रता एवं प्रसादकता को वेद ने तरह-तरह से गाया है और ऐसी सरस्वती के स्तन को शशयु (=शयुः √शी स्वप्ने), शिव (√शी स्वप्ने), अथवा मौलिक चित्स्थिति में पहुँचाने वाला बताकर उसके रसास्वाद में ही वाणी का पर्यवसान माना है। आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' को दण्डी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥१॥

अर्थात् मधुर रस वाणी और अर्थ दोनों में ही संवलित रूप से निवास करता है—क्योंकि ये दोनों तत्त्व मौलिक रूप से परस्पर अभिन्न हैं। इस रस को पीकर मनीषी लोग भौतिक जगत् से ऊपर उठकर उसके मूल में पहुँच जाते और वहाँ जाकर अमर हो जाते हैं।

ऋग्वेद का IX. 78. पहला मन्त्र गोरस की गरिमा पर फिर से संकेत करता है :

प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यदत्।
अपो वसानो अभि गा इयक्षति॥

अर्थात् प्रतिभा के आवेश में चमचमाता (पतंग) कवि लयसारी कूक में फूट निकलता है; और तब वह लोकोत्तर क्रियाशीलता को धारण करके इस वाणी की सेवा में जुट जाता है! कह सकते हैं कि प्रतिभा की अग्नि में गलकर बहने वाला कवि का आत्मा ही वाणी के रूप में फूट निकलता है। आविष्ट रचना के इसी रहस्य को आनन्दवर्धन ने इस प्रकार व्यक्त किया है

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् आविष्ट आत्मा की निभृत पीर ही किसी दृश्य को देखकर जब पक निकलती है तब कविता का उदय होता है। उस दैवी पीर में पियराया कवि अपने-आपको भूल जाता; तब वह किसी लोकोत्तर संविधान में जा पहुँचता, और तब जगती के चरम रस के साथ एक होकर बहने वाला उसका आत्मा ही वाणी के माध्यम से वर्णों में बिखरने लगता है। उसकी यह फूट नितान्त स्वाभाविक एवं ऋजु होती है और इसलिए यह अनायास ही अलंकारों की फुलझड़ी में उघड़ती चलती है—क्योंकि आविष्ट कलाकार के 'अपने ही प्रदीप्त गुण प्रतिभा की सर्चलाइट में झिलमिला उठते और अलंकार बनकर, उसके प्रयत्न के बिना ही, उसकी रचना में सजने लगते हैं। और जब प्रतिभा-विद्युत् का धक्का लगने पर कवि सामने पड़े विश्व की ओर अग्रसर होता है तब वह उसके कण-कण में अलंकारों का मन्त्र फूँकता चलता है और साथ ही अपनी रचना पर अलंकारों के पन्ने जड़ता चलता है। वैदिक रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अलंकारों का मूल रचना की इसी प्रक्रिया में सन्निहित है।

आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' के साथ-साथ वेद ने वाणी के रमणात्मक पक्ष पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऋग्वेद का III. ५५. ७वाँ मन्त्र यों है :

प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते।

अर्थात् रुचिर वाणी वाले ऋत्विक् अथवा कवि रमणीय वस्तु प्रस्तुत करते हैं। और यह बात है भी स्वाभाविक ही—क्योंकि यदि रचना के स्रोत कवि-हृदय में मधु का प्रवाह है तो उसमें से उघड़ने वाले लयसारी वर्णों का मधु में सना होना स्वाभाविक है; और मधुसिक्त वाणी वाले भावुकों से मधुसारी वस्तुओं ही की आशा की जा सकती है।

काव्यशास्त्रियों के अनुसार रमणीय वाणी का ही दूसरा नाम काव्य है—और यथार्थ काव्य के निर्माता अपनी रचना के माध्यम से अनायास ही विश्व में लावण्यतन्तु फैलाने वाले रमणतत्त्व के साथ तदाकार हो जाते हैं। इसी बात को हम साहित्यिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं :

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृत्तये कान्ता संमित तयोपदेशयुजे॥

बात ठीक है—मीठे बोल से क्या नहीं मिल जाता? फिर यदि कवि-रचना में मिठास भर गया तो उसके लिए कौन-सी दुनिया दुष्प्राप्य रह जाती है? यह सब-कुछ है, किन्तु काव्याचार्यों ने वाणी के इसी एक तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मानकर उसीमें कविता का पर्यवसान कर दिया। सुकरात ने प्रेम की विवेचना करते हुए 'रमणीयता' के माध्यम से उसका 'शाश्वत सौन्दर्य तत्त्व' में पर्यवसान किया है; और निःसन्देह पारवेधी कवि-रचना का यथार्थ लक्ष्य भी यह सौन्दर्य तत्त्व ही है।

ऋग्वेद का IX. ७३. ७वाँ मन्त्र वाणी के अलंकार को अनन्त शक्ति का स्रोत बताता है :

सहस्रधारे वितते पवित्र आ
वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषाभिषिरासो अद्रुहः
स्पर्शः स्वं चः सुदृशो नृचक्षसः॥

मन्त्र सोमपरक है; किन्तु कवि-रचना पर भी यह सहज ही घट जाता है; क्योंकि पारवेधी कलाकार सहस्र कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वसारी, सोम का गुणगान करके अपनी वाणी को परिपूत करते और उसे नवोढा वधू की नाईं भाँति-भाँति के अलंकारों से सजाया करते हैं। अलंकृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही गीतियाँ विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चितेरे, शोभनगामी रुद्रदेवों को भी अपने वश में कर लेती हैं।

संसार को रुला देने वाले देवताओं को भी अपने मिठास से मोह लेने वाली कवि-रचना का जादू निराला है—क्योंकि पहुँची हुई कविता है ही वह, जो सूर्य भगवान् के समान जगती के कण-कण पर एक साथ छा जाती हो और जिसके पद-पद से प्रतिभा की किरणें फूटी पड़ती हों। ऐसी ही पारवेधी आविष्ट कूक यथार्थ कविता कहा सकती है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी ही वाणी पवित्र एवं चमत्कृत होने के कारण गायक, श्रोता एवं प्रेक्षक के अन्तरात्मा को आवर्जित करने में समर्थ होती है। विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, दाँते, शेक्सपीयर एवं गेटे की रचनाएँ इसी कोटि की हैं।

ऋग्वेद के X. 72. दूसरे मन्त्र में वाणी के संस्कार पर बल दिया गया है :

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

अर्थात् जब बुद्धिमान कवि, जिस प्रकार छाज से अन्न छड़ा जाता है उसी प्रकार अपने मन से वाणी को परिपूत करके उसे रम्य पदावली के रूप में सजाते हैं, तब विश्व की प्रसादक लक्ष्मी अनचाहे उनकी रचना में आ विराजती है। भद्र वाणी वाले गायक का चराचर जगत् के साथ सहज ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और ऐसा ही कलाकार अपनी आविष्ट लय द्वारा विश्व के अन्तस्तल को निनादित करने में समर्थ होता है।

पवित्रता एवं अलंकरण के परम स्रोत शाश्वत तत्त्व को मुखरित करने के लिए वाणी का पवित्र एवं मनोहर होना परमावश्यक है। इसी कारण हमारे वैयाकरणों एवं साहित्य-शास्त्रियों ने वाणी के संस्कार पर इतना अधिक और इतनी बार बल दिया है। वेद तो स्थान-स्थान पर 'द्युमती' वाणी के लिए प्रार्थना करता है। उदाहरण के लिए देखिए :

दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्। ऋ० वे० X. 98.2
अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्
बृहस्पते अनमीवाभिषिसम्।
यया वृष्टिं शंतनवे वनाव
दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश॥ X. 98.3

अर्थात् तेरे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करता हूँ। हे भगवन्! हमारे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करो! ओ बृहस्पति! ऐसी वाणी का, जो आधिव्याधियों से परे हो, जो जगती के कण-कण में कम्पन बहा देती हो; जिसकी स्वर-लहरियों से हम शन्तनु के लिए आकाश से जल बरसा दें। उस प्रकाशमय सोम का मधुमय बिन्दु मेरी जिह्वा पर आ विराजा है; मेरा रोम-रोम सोम के मादक रस से भिन्ना उठा है।

अथर्ववेद VI. ६९. द्वितीय मन्त्र ने द्युमती के स्थान पर भर्गस्वती का प्रयोग किया है :

अश्विना सारघेण मा
मधुनाङ्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचम्
आवदानि जनां अनु॥

ओ अश्विन् देवताओ! ओ सुन्दरता के स्वामियो! मेरे रोम-रोम में मधु भर दो, जिससे मैं जनता के प्रति भ्राजस्वती वाणी का प्रयोग कर सकूँ।

निश्चय ही इन मन्त्रों द्वारा वाणी में मधु एवं अलंकरण इन दोनों ही के आधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रार्थना की गई है—क्योंकि वेद के अनुसार आविष्ट वाणी में रस एवं अलंकरण दोनों ही उचित मात्रा में होने वांछनीय हैं।

वाणी के उक्त अलंकरण से आगे बढ़कर दूसरी स्टेज भरत मुनि द्वारा संकेतित एवं अग्निपुराण द्वारा प्रपंचित अलंकार-शास्त्र है। अलंकारों के विषय में दण्डी ने यों कहा है :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।।

वेद ने वाणी में चमत्कार डालने वाले अलंकारों का निराला प्रयोग किया है; और उपमाएँ तो जैसी वेद ने ढूँढी हैं वैसी अन्यत्र देखने को मिलती ही नहीं। प्रतीत होता है कि मानो वैदिक कूक को सुनकर स्वयं उपमालंकार मूर्तिमान हो उठा हो। उदाहरण के लिए पढ़िये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६ वें सूक्त को—यहाँ आपको एक-से-एक बढ़कर उपमा उघड़ती दीख पड़ेगी। द्यूत सूक्त में जुआरियों को क्षण में ऊँचा और क्षण में नीचा दिखाने वाले पासों को 'कुमारदेष्ण' अर्थात् बच्चों की तरह झट देने और पट छीनने वाले बताकर तो वेद ने उपमा की इति ही कर दी है। 'शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति' में विरोधाभास की छटा खिल उठी है। वेद के किसी भी सूक्त को पढ़ जाइये—उसमें, आपको कोई-न-कोई अलंकार अपने रुचिर रूप में निभृत बैठा टार्च की न्याईं रचना के शब्द और अर्थ दोनों को भ्राजित करता दीख पड़ेगा। न केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार अपितु दोनों संवलित रूप में वैदिक रचना को एक निराले धरातल पर उठाते दीख पड़ेंगे और वह भी अपने स्वारसिक रूप में, प्रशान्त किन्तु सुवरां दूरगामी, अनजाने ही रचना की कूक-कूक में छिपे बैठे, स्वयं अनदेखे, किन्तु जगती के कण-कण को खिला देने वाले हैं।

वेदों के अलंकार-विन्यास से मुग्ध होकर काव्याचार्यों ने काव्य का सर्वस्व ही अलंकारों को मानना आरम्भ कर दिया और उन्हींके भेदोपभेदों की मीमांसा में उन्होंने काव्य-समीक्षा की इति कर दी।

अथर्ववेद का X. 8. ३२ वाँ मन्त्र रहस्यवाद का आदिम संकेत है। मन्त्र यों है :

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।।

कवि-रचना की लोकालोकता का अनूठा निदर्शन है। प्रतिभा विद्युत् की झमाल में आकर कलाकार दृश्यमान जगत् से ऊपर उठ जाता; और तब वह सामने फैली जगती को छोड़ता भी नहीं और वह उसे देखता भी नहीं है। प्रतिभा के घाम में पिघलकर कवि का आत्मा तरल बन जाता; तब वह सामने के विश्व को प्रतिभाग्नि में गलाकर उसके स्थान पर एक नवीन छाया-जगत् का निर्माण करता, और परम तत्त्व के लिंग-शरीर के रूप में उसे सहलाता और उसका रस पिया करता है। दैवी उन्मेष का रहस्य कवि की इस 'खोने में पाने वाली' ऊहा शक्ति में संनिहित है। इस पारवेधी दृष्टि से चुने गए अर्थ-प्रसून और उन्हें झंकृत करने वाली कविकूक सचमुच अमर होती है—न वह कभी जीर्ण ही होती और न वह कभी नष्ट ही होती है। क्योंकि अब उसमें निम्नलिखित परम तथ्य पूरी तरह प्रतिफलित हो गया है :

अमरता के जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास। ('यामा', ४८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अब वह परिवर्तन के पार 'शून्य के उस पुलिन' पर जा लगी है, जहाँ कि सब प्रकार की रचना का आदि सूत्र एक गोली के रूप में सिमटा पड़ा रहता है। इस आदिम सूत्र को प्रत्यक्ष करते ही कवि-पदावलि की तर्ज़ बदल जाती और उसका विषय यह स्थूल जगत् न रहकर उसके भीतर ज्वार लेने वाला 'कनकरस' बन जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कवि-रचना का लक्ष्य कवि के सम्मुख फैला हुआ भौतिक जगत् नहीं, अपितु उसके अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला लावण्यपरिपूर्ण छाया-जगत् है और उसीका समुचित उत्थापन आविष्ट रचना का प्रमुख लक्ष्य है।

यह तो हुई स्फोट के उस पक्ष की बात, जिसके अनुसार कि इस शब्द का अर्थ नाद के माध्यम से व्यक्त होने वाला पदार्थजात है, जोकि अपने तरल रूप में कवि-रचना से ध्वनित होता है। अब लीजिए स्फोट शब्द के उस पक्ष को, जिसके अनुसार कि पदार्थजात को व्यक्त करने वाला नाद इसका अर्थ है। इस पक्ष में भी कविता का असली रूप कवि की व्यक्त पदावली नहीं, अपितु इस पदावली के माध्यम से ध्वनित होने वाली वह मूलभूत परम ध्वनि है, जिसकी झंकृति-मात्र से मूल अव्यक्त चराचर जगत् के वर्तमान रूप में बदल जाता है। उसी आदिम नाद की रचनाकारिणी शक्ति कवि पदावली में अवतीर्ण होकर उसे नव-नव छाया-जगत् रचने की शक्ति प्रदान करती है और उसमें वह तवस्त्वरा ला देती है जो कि परमात्मा की अपनी रचना में दृष्टिगत होती है।

समग्र वेद को ध्यान से पढ़ जाइये; उसके पद-पद के पीछे आपको एक निराला सोमिल जगत् उभरता दीख पड़ेगा; एक अनोखी दुनिया कहीं दूर से झनझनाती सुन पड़ेगी, जिसका कवि-रचना की स्फुट पदावली से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जो कवि-कूक के तरंगित होते ही रभसा श्रोता एवं प्रेक्षक के सम्मुख आ खड़ी होती है। और यह बात इसलिए है कि वैदिक कवि ने विश्व के अणुजात को अनुप्राणित करने वाले चरम सूत्र को आत्मसात् कर लिया है और उसके द्वारा बिन्दु में समुद्र को और समुद्र में बिन्दु को एकाकार देख लिया है। तभी तो अथर्ववेद के X. ८.३७-३८ में यों कहा है :

> यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
> सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
> वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
> सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

चराचर में रमे परब्रह्म को वही जानता है जिसने इस विश्व-व्यापी सूत्र को देख लिया है जिसमें जगती के जन्मजात सूत्र बुने पड़े हैं और जिसने इसमें जान डालने वाले उस परम सूत्र को साक्षात् कर लिया है जिसके विषय में महादेवी वर्मा ने निम्नलिखित पंक्तियाँ गाई हैं—

> 'एक तार अगणित कम्पन का
> एक सूत्र सबके बन्धन का।'
> आदि में छिप जाता अवसान
> अन्त में बनता नव्य विधान।
> सूत्र ही है क्या यह संसार
> गुँथे जिसमें सुख-दुःख जय-हार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक कवि कहता है कि मैंने उस सूत्र को देख लिया है जिसमें अशेष जन-जनपद जकड़े पड़े हैं; और मैंने इस विस्तृत सूत्र-जाल को अनुप्रणित करने वाले चरम सूत्र को भी देख लिया है। तभी तो मैं कहता हूँ कि मैंने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है।

यथार्थ कवि-रचना की इसी व्यापक गहनता को शेक्सपियर ने अपने 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में यों व्यक्त किया है :

The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, from
earth to heaven.
And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy
nothing
A local habitation and a name (Act 5, 12-20)

काव्य-प्रक्रिया का इससे अधिक एवं यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता; क्योंकि शेक्सपियर कविता-कामिनी के मर्मी रसिया थे और उनकी चुटकी-चुटकी में चराचर का श्वासोच्छ्वास केन्द्रित रहा करता था। भारतीय आचार्यों का यह कथन कि :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

तो शेक्सपियर के प्रत्यक्ष दर्शन का आभास मात्र है।

हाँ, तो ऐसा निराला होता है तत्त्व-पान में बौराया हुआ एक कलाकार, जिसकी पदावली कहती तो कुछ है, किन्तु आशय जिसका कुछ और ही हुआ करता है। उसकी भाषा उस लोकालोक पर्वत-सी बन जाती है जिस पर आलोक और अन्धकार साथ-साथ फैले होते हैं और जहाँ का धरातल कुछ कल्पित-सा, कुछ मसमरीचियों में उघड़ता चित्रपट-सा, एक साथ सदसद्रूप हुआ करता है।

वेद की समग्र रचना कवित्व की इस पारवेधी शक्ति से अनुविद्ध है। इसे पढ़कर पाठक के सम्मुख एक ऐसा मन्दिर-जगत् उघड़ता है जो भौतिक होने पर भी सुतरां भूतातीत है, और जो इसीलिए सचमुच सुन्दर, शिव एवं परम सत्य है।

कविता के ध्वन्य अर्थ को लेकर काव्याचार्यों ने उसीकी मीमांसा में अपनी तर्क-शक्ति की इति कर दी, और कवित्व के इस पक्ष की रुचिरता से कांदिशोक हो वे उसके अन्य पक्षों को भुला बैठे।

सुकरात ने प्रेम का विवेचन करते हुए मध्यमार्ग की मनोरम उत्थानिका बाँधी है—जो ग्रीक सफलता की आधारशिला थी और जिसकी ओर श्री कृष्ण ने अपनी गीता में और भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक उपदेशों में मार्मिक संकेत किए हैं। सौन्दर्य का मर्म रचना की इसी मध्यमार्गी समंजसता में है और यथार्थ सत्य परा कोटियों के मध्य विराजने वाले इसी माध्यमिक समता बिन्दु पर टिका हुआ है। जीवन की सुस्थता एवं आर्जव इसीमें है और सुस्थता एवं ऋजुता ही सौन्दर्य के असली प्राण हैं।

ऋग्वेद का IX ९५.२ सरा मन्त्र काव्य के रीति-मार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिः सृजानः पथ्या भृतस्येयति वाचमरितेव नावम् ।
देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ।।

मन्त्र मर्मस्पर्शी है। इसमें रीतिमार्ग के सभी घटकों की ओर संकेत आ जाता है। रचना करने वाला कवि-प्रजापति ऋत के मार्ग पर अग्रसर होने वाली स्वर-लहरी का सृजन करता है ठीक उसी ध्यान एवं कौशल से जिसके साथ कि एक नाविक नाव चलाया करता है। अपनी रचना के माध्यम से वह परम रहस्य के मर्म को छू लेता और उसे रभसा जगती के सम्मुख अनावृत कर देता है। कितनी मार्मिक एवं मनोरम व्याख्या है यह कवि-रचना के मर्म की और कितने रोचक ढंग से यह कविता के रीतिमार्ग का निदर्शन करती है ? क्योंकि सम्वादी रचना सचमुच है ही वह जो ऋत के मार्ग पर चलती हुई विश्व के स्थायी संविधान का व्याख्यान करती हो और उसके द्वारा दैवी रहस्य का रागात्मक-मुखवरण करती हो, क्योंकि सचमुच ऋत् के विश्वव्यापी सितार पर निनादित होकर ही रचना के अक्षर-अक्षर तत्त्व को व्याकृत करने में सफल हो पाते हैं। वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ
जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चिन्तत् समिनक्षन्त आशता–
ऽत्रा कर्तमव पदास्य प्रभुः।। ऋक्० IX ७३.९

अर्थात् ऋत का दैवी तन्तु वरुण की गुप्त शक्ति के द्वारा जिह्वा के अग्रभाग की चलनी पर टिका हुआ है। मेधावी कवि उस तक पहुँचकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं, इसके विपरीत वे अल्पज्ञ, जो इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, आजीवन नीचे ही पड़े रह जाते हैं।

रहस्य से समुपौढ हुई कवि-रचना का कितना मार्मिक निदर्श है ? विश्व-व्यापी परमात्मा के प्रसाद से ही कवि की प्रतिभा जागती है और उसीके वर से उनकी वाणी ऋत के दुर्लभ तन्तु का विश्लेषण करने में समर्थ हो पाती है। मेधावी लोग प्रयत्न करके रहस्य के परम मूल को देख लेते हैं और उसीकी वन्दना में वे अपनी वाणी का पर्यवसान किया करते हैं।

हाँ, तो वेद के अनुसार स्पष्ट है कि ऋत के मार्ग पर चलने वाली कवि-रचना ही ऋत रूप सत्य के व्याख्यान में समर्थ हो पाती है—और कवि-रचना की यही सरणि वेद को वांछनीय रही है। किन्तु काव्यशास्त्रियों ने अतिशय के फेर में पड़कर वाणी की रीति को ही रचना का सर्वस्व मानना आरम्भ कर दिया। और इसके विश्लेषण में पड़कर वे रचना के आत्मरस तक को भूल बैठे। किन्तु वेद स्पष्ट कहता है :

पुनानो वाचं जनयन्न सिष्यदत्। ऋक्० IX १०६. १२.

अर्थात् विश्व का प्रेरक वह परम सोम-तत्त्व वाणी को अलंकृत करता हुआ 'रस' रूप में बहा करता है। मन्त्र के इस एक खण्ड में कविता के 'अलंकरण' एवं 'रस' ये दोनों घटक आ जाते हैं। और जब हम इस मन्त्र-खण्ड को उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रों के साथ लाकर पढ़ते हैं तब हमें काव्य के 'ध्वनि और 'रीति' ये दोनों पक्ष भी हस्तगत हो जाते हैं। किन्तु वेद ने सब जगह 'ऋतसारी' वाणी ही की सपर्या की है। यहाँ तक कि उसने वाणी का नाम ही सूनृता (सु+ऋता) और ऋतम्भरा आदि रख दिया है। इस ऋत के अना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरण में ही वैदिक ऋषि सचेष्ट रहते आए हैं। ऋग्वेद कहता है :

स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत
तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसिः
पतिर्जनीनामुपयाति निष्कृतम्॥ ऋक्० IX. ८६. ३२

पारवेधी कलाकार तत्त्व-ज्ञान के लिए सत्ता के परम तन्तु का आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में विश्लेषण करता हुआ प्रतिभा-सूर्य की किरणों से झिलमिला उठता है, और तब ऋत की नव-नव प्रशस्तियों में फूटता हुआ वामाओं का वननीय वह परम तत्त्व को पा लेता है।

स्पष्ट शब्दों में यह मन्त्र कवि के पारवेधी तृतीय नेत्र की ओर संकेत करता हुआ उसके सूर्यसम भ्राजमान रचना-निवेश की गरिमा का वर्णन करता है और बताता है कि ऋत के रागात्मक व्याख्यान में ही कलाकार के रागात्मक जीवन की सफलता सन्निहित है।

निश्चय ही इन मन्त्रों के अनुसार कवि-रचना का असल लक्ष्य ऋतरूप परम तत्त्व की रागात्मक व्याख्या करना है और उसीके चमत्कृत मुखरण में इन मन्त्रों ने सच्ची कविता का पर्यवसान माना है। जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उसीमें रम जाने वाले कलाकार को ऋत के दर्शन अलभ्य हैं—क्योंकि ऐसे कलाकार में विस्तार एवं संयम का विकास नहीं हो पाता और हमारे मन्त्रद्रष्टाओं ने इन दोनों के उचित विकास को परिपूर्ण जीवन स्वीकार किया है। क्योंकि जीवन में यदि विस्तार का होना आवश्यक है तो उसी परिसर में उसमें संकोच का होना भी वांछनीय है। मनोवृत्ति के इसी संयम को हम 'समाधि' कहते हैं। इसमें वैखरी चित्तवृत्ति का सम्यक् सन्निधान हो जाता है और इस समाहित चित्तवृत्ति द्वारा ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव हो जाता है, क्योंकि मनोवृत्ति की इस समाधि में जीवन के समग्र पहलू सामंजस्य के साथ एक-दूसरे से सम्वलित होकर अखण्ड 'रस' के उस प्ररोचन एवं प्रस्पन्दन को जन्म देते हैं जिनका उत्पन्न करना काव्य-कला का परम लक्ष्य है। जीवन एवं कला का यह सामञ्जस संविकास ही ऋषियों की दृष्टि में कला का परम लक्ष्य रहता आया है और इसीके उन्नयन में उन्होंने अपनी वाणी को सफल बनाया है।

'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति√ उच् धातु से है, जिसका अर्थ 'प्रसन्न होना एवं प्रसन्न करना' है। इसी√ उच् धातु से ओकस् शब्द बना है, जिसका अर्थ 'घर' है; क्योंकि घर सदा सबको समान रूप से प्यारा होता है। अंग्रेजी की 'Home sweet home' इस कहावत का मर्म यही है।

उचित के भाव को 'औचित्य' कहते हैं, और जिस प्रकार 'त्रिवृत' जीवन की सफलता औचित्य पर निर्भर है उसी प्रकार त्रिवृत् जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना का सौन्दर्य भी औचित्य पर निर्भर है। औचित्य के इसी व्यापक मर्म का निदर्शन अथर्ववेद III. ३० में इस प्रकार किया है :

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१॥
अनुव्रतः सितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।२।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।।
समानी प्रपा सह वो ऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यता–
रा नाभिमिवाभितः ।।
सध्रीचीनान् व संमनसस्कृणोमि
एकश्नुष्टन्ति् संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सोमनसो वो अस्तु ।।

विश्व के अणु-अणु को क्रियासूत्र में संवलित करके जीवन-पथ पर अग्रसर करने वाले औचित्य तत्त्व का अवबोध करने के लिए वेद ने बार-बार 'स', 'सह' एवं 'सम्' शब्द का प्रयोग किया है और इसके द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि मानव-जीवन को संवादी बनाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

और यदि जीवन में संवदन उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है तो निश्चय ही उसका रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना को सफल बनाने का काम भी औचित्य ही का है। तभी तो दण्डी ने कहा है :

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।
तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमुपजीवति ।।

'समाधि' शब्द से यहाँ हम औचित्य ही की ओर दण्डी का संकेत समझते हैं और औचित्याधान की दृष्टि से ही इन पंक्तियों की व्याख्या करते हैं। आनन्दवर्द्धन ने औचित्य को 'रस' की परा उपनिषद् बताया है :

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।
एतद् यशोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र सद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ।।

अर्थात् कवि-रचना के आत्मा 'रस' के प्रवाह में यदि कोई वस्तु रोड़ा अटकाती है तो वह है 'अनौचित्य'; रस का बेरोक प्रवाह तो औचित्य पर ही अवलम्बित है । क्या पद्य और क्या गद्य सभी प्रकार की कवि-रचना का प्राण औचित्य है—उसीके उचित सन्निवेश में कवि-रचना की सफलता सन्निहित है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य की अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में रस-जीवित के रूप में स्थापना की है । ग्रन्थ के आरम्भ में वे कहते हैं :

औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।।

अर्थात् रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, कविकृति के स्वादिष्ट चर्वण में रस के जीवित रूप औचित्य पर अब हम विचार करते हैं । क्षेमेन्द्र के उक्त कथन से व्यक्त है कि उनके अनुसार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है और कविता के मनोरम आस्वादन में द्रवित होने वाले रस का प्राण भी औचित्य ही है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता श्रोता एवं प्रेक्षक के आत्मा को तभी द्रवित करती है जब कि उसके अंग-प्रत्यंग औचित्य के द्वारा परस्पर-संवादी सम्पन्न हुए हों और औचित्य के माध्यम से अब वह सर्वात्मना आत्मा के साथ एकाकार बन गई हो । कह सकते हैं कि औचित्य ही काव्य के विभिन्न तंतुओं का संवलक है और उसीसे उनमें सौन्दर्य-निर्माण की क्षमता आती है । जीवन में रसास्राव औचित्य ही से होता है और उसी से चमत्कृत हुई वाणी श्रोता एवं प्रेक्षक को ब्रह्मरस का आस्वदन कराने में समर्थ होती है । औचित्य के महत्त्व को आगे चलकर क्षेमेन्द्र इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्याकथितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यामि न दृश्यते ।।
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

अर्थात् अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं । किन्तु सच पूछो तो 'रस' में पके काव्य का रहस्य उसके सर्वावयवसारी औचित्य में सन्निहित है । क्षेमेन्द्र के अनुसार अलंकार, गुण और रस उत्कृष्ट रचना के लिए सभी आवश्यक हैं, किन्तु इन सबका चमत्कार तभी खिलता है जबकि इन सबमें व्यष्टि एवं समष्टि दोनों प्रकार से औचित्य रम गया हो ।

हम पहले कह चुके हैं कि उचित शब्द की व्युत्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से हुई है, फलतः उचित शब्द का मौलिक अर्थ मन्द्र, रमणीय एवं प्रसादकारी है । मन्द्र एवं प्रसादकारी वस्तु ही उचित अर्थात् समंजस, संवादी, ऋजु एवं शिव होती है । काव्याचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उचित' शब्द के इस व्यापक अर्थ पर ध्यान न देकर उसके एक अंश अर्थात् 'समंजसता' में ही उसका पर्यवसान कर दिया। इसका फल यह हुआ कि औचित्य शब्द अपने मौलिक व्यापक अर्थ से च्युत होकर अपने प्रचलित अर्थ में चल पड़ा; और इस कारण समालोचकों ने उस पर संकुचित टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

किन्तु जब हम 'उचित' शब्द के मौलिक अर्थ 'मन्द्रता' पर ध्यान देते हैं तब अपने मौलिक एवं विकसित दोनों अर्थों को अपने भीतर समाहित करके क्षेमेन्द्र का औचित्य तत्त्व काव्य-सिद्धान्त के रूप में खिल उठता और रचना-सौन्दर्य का यह सर्वांगपूर्ण लक्ष्य बन जाता है।

यह हुआ यथार्थ औचित्य तत्त्व। यह जिस प्रकार चराचर को चलने वाले ऋत तत्त्व से अभिन्न है उसी प्रकार ऋतसारी कवि-रचना का भी यह जीवन-सूत्र है।

: २ :

आइए, अब जरा औचित्य की प्रचलित मीमांसा का दिग्दर्शन कर लीजिये। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र की निम्न कारिका उद्धृत की जा चुकी है :

उचितं प्राहुराचार्यो सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ आ० ७

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप है उसे हम उस वस्तु के लिए उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है। हम जानते हैं कि सब वस्तुओं का सभी के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। किसी वस्तु का किसी वस्तु-विशेष के साथ ही सम्बन्ध उचित हुआ करता है। उदाहरण के लिए मोतियों का हार गले में फबता है और नूपुर पैरों में। फलतः मौक्तिक हार गले के और नूपुर पैरों के लिए उचित हैं। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण, एवं वीर और रौद्र रस के साथ ओज गुण ठीक बैठता है। दो वस्तुओं के इस संवदन अथवा सामंजस्य को हम औचित्य कहते हैं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि औचित्य को काव्य-सिद्धान्त-रूप में प्रतिष्ठापित करने का सेहरा आचार्य क्षेमेन्द्र को है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती मीमांसकों का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था। क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत और आनन्दवर्धन औचित्य पर विचार कर चुके थे। भरत ने नाट्य में औचित्य की प्रतिष्ठा की थी और आनन्दवर्धन ने उसकी नाट्य एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अवतारणा की। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पूरे काव्य-जगत् में उसके उचित आसन पर बिठाकर उसकी एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा की है।

भरत के अनुसार अभिनय का लक्ष्य प्रेक्षक के हृदय में रस-संचार करना है। इसी उद्देश्य से नाट्य का सारा क्रिया-कलाप रसोन्मेष की ओर अग्रसर होता है। अभिनय, छन्द, अलंकार एवं स्वर आदि नाट्य की सारी ही कड़ियों का प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षक के हृदय में रस का स्रोत बहा देना है। भरत ने रस को काव्य का आधार मानकर ही गुण-दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार रस के अनुरूप होना ही गुण और उसके प्रतिकूल होना ही दोष है। गुण रसोद्रेक में सहायक होते और दोष रस के विघातक होते हैं। पात्रों के वेश की देश-

सन्दर्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालानुकूलता पर बल देते हुए भरत कहते हैं :

अदेश जो वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।।

अर्थात् यदि पात्रों का वेष देश-काल के विपरीत हुआ तो वे प्रेक्षकों के उपहास का पात्र बन जायँगे। क्योंकि गले में मेखला और हाथ में नूपुर डालना मूर्खता के सिवाय और क्या है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय काम किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने औचित्य का विवेचन काव्य के प्रकीर्ण अंगों के सम्बन्ध में किया था; पर आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मभूत रस के साथ भी औचित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध उद्भावित करके औचित्य को सिद्धान्त के रूप में काव्य के व्यापक जगत् में अवतीर्ण किया। आनन्दवर्धन रस या रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस के परिपाक में सबसे अधिक आवश्यक 'औचित्य' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु एवं अलंकार रस के बाह्य उपकरण हैं—इसलिए रस की अपेक्षा ये दोनों गौण हैं। काव्य में इन दोनों का प्रयोग रसोत्थापन के लिए किया जाता है। इसी मान्यता के साथ आनन्दवर्धन ने वस्तु-औचित्य एवं अलंकारौचित्य की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है। काव्य में वस्तु एवं अलंकार का अपना स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अलंकार्य रस के चमत्कार पर ही इनकी सजीवता निर्भर है। आनन्दवर्धन कहते हैं :

रस भावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।। ध्वन्या लोक

वस्तु एवं अलंकारौचित्य के साथ-साथ आनन्दवर्धन ने 'रसौचित्य' की मीमांसा भी बड़े मार्मिक ढंग से की है; और इस बात को स्वीकार किया है कि रसौचित्य के विधान से रसदोष खड़े हो जाते हैं, जो कि सामान्य कोटि के दोष न होकर प्रधान कोटि के गिने जाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार रस का गहनतम रहस्य औचित्य है और उसका सबसे बड़ा विघातक अनौचित्य। इसीलिए उत्तम काव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसका अंग-अंग औचित्य के आधार पर घड़ा गया हो। रसौचित्य की प्रधानता पर बल देते हुए भी आनन्द-वर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वाच्य एवं वाचक की औचित्यसंवादी योजना सारस्वत कवि का प्रधान लक्षण है :

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि विषयेणैतत् मुख्य कर्म महाकवेः ।।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि काव्य-जगत् में औचित्य का आदर प्राचीन काल से है; किन्तु यह बात निर्विवाद है कि औचित्य को काव्य का सुव्यवस्थित व्यापी सिद्धान्त क्षेमेन्द्र ने बनाया है। उनके अनुसार काव्य के अंग पद, काव्य, गुण एवं रसादि सब-के-सब औचित्य से संवलित होकर ही सफल होते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य के सब अंगों में प्राण फूँकने वाला औचित्य ही है। औचित्य की इसी व्यापक मान्यता के कारण क्षेमेन्द्र ने उसका काव्य के २४ अंगों के साथ सम्बन्ध दिखाया है।

एक समय था जब कि आलंकारिकों ने औचित्य को निरपेक्ष रूप से काव्य का जीवित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना था; पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार रस एवं व्यंजना से संवलित हुए बिना औचित्य के यथार्थ रूप को पहचानने का प्रयत्न औचित्य की विडंबना करना है। फलतः आचार्य अभिनव एवं आनन्दवर्धन ने औचित्य संवलित रस-ध्वनि को काव्य का आत्मा माना है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। आचार्य अभिनव का सिद्धान्त है कि काव्य का मूल तत्त्व 'रस' है। फलतः 'रस' को उसका उच्च आसन दिये बिना औचित्य की चर्चा अप्रासंगिक है; क्योंकि औचित्य का असली रूप तभी उघड़ता है जब कि जिसके विषय में औचित्य को स्थापित किया जाय वह वस्तु अपनी जगह अपने असली रूप में विद्यमान हो। काव्य-जगत् में वह वस्तु काव्य का आत्म 'रस' है, रस के बिना औचित्य की चर्चा विडम्बना-मात्र है। जैसा कि कहा है :

औचित्यवती जीवनमिति चेत् औचित्य निबन्धनं रसमावादि मुवबा नान्यत् किंचिदस्तीति।

आचार्य अभिनव ने साफ शब्दों में औचित्य संवलित 'रस' को काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उससे कुछ आगे बढ़कर औचित्य ही को काव्य का जीवन स्थापित किया है। अपनी औचित्य-विचार-चर्चा के प्रारम्भ में क्षेमेन्द्र कहते हैं :

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

अर्थात् औचित्य ही काव्य में मनोज्ञता उत्पन्न करता है और वही रस चर्वण में रस की असली जान है। अलंकर-अलंकार ही हैं और गुण-गुण ही। किन्तु औचित्य तो रस में पके हुए काव्य का स्थायी जीवित है। निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की सिद्धि अर्थात् उसका पर्यवसान 'रस' में होता है, और 'रस' की जान औचित्य में है। इस प्रकार रस और औचित्य दोनों तत्त्व एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। निम्न उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य व्यावस्य धातुवद् रससिद्धयेव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्॥ औ०

क्षेमेन्द्र ने भी अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में काव्य के निम्नलिखित अंगों में औचित्य-विन्यास वांछनीय ठहराया है :

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद।

यहाँ इन सब अंगों के औचित्य पर विचार करना अप्रासंगिक होगा? अलबत्ता प्रधान अंगों के औचित्य पर विहंगम दृष्टि डाल देनी आवश्यक है।

गुणौचित्य

ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुण काव्य की शोभा को तभी बढ़ाते हैं जब उनका प्रकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ के अनुरूप प्रयोग हुआ हो। इसीलिए आलंकारिकों ने रस-विशेष के लिए गुणविशे का उन्नयन ही उचित बताया है। उदाहरण के लिए यदि काव्य का वक्ता वीर है तो उसकी उक्ति में ओज गुण फबता है। और यदि काव्य में शृंगार-रस की अभिव्यञ्जना अपेक्षित है तो इस प्रसंग में कवि को माधुर्य गुण का उन्मेष करना उचित है।

अलंकारौचित्य

जिस प्रकार उचित अंग पर उचित रूप से सजाये गए आभूषण कामिनी को चार चाँद लगा देते हैं उसी प्रकार काव्य में उचित स्थान पर उचित रूप से प्रयुक्त हुए अलंकार उस में जान डाल देते हैं। अलंकारों का उचित प्रयोग तभी सम्भव है जब कि वे प्रकृत वस्तु के अनुरूप जड़े हुए हों। क्षेमेन्द्र के शब्दों में प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए अलंकारों से कवि-रचना उसी प्रकार खिल उठती है जैसे कि कामिनी के पीन स्तन पर लहराते हार से उसकी शोभा शतगुण हो जाती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।। औ०

सच पूछो तो अलंकार की अलंकारता इसी बात में है कि वह प्रकृत अर्थ का उन्नायक हो। नीरस काव्य पर अलंकारों के पन्ने बेजान साबित होते हैं—उन्हें देखकर रसिकों का हृदय अंकुरित नहीं होता। इसी कारण अलंकारिकों ने अलंकारों से चमत्कृत किन्तु रसविहीन कविता को अधम कोटि की माना है।

रसौचित्य

रसवादियों के अनुसार काव्य का आत्मा 'रस' है। यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है। किन्तु यह बात भी युक्तिसंगत है कि औचित्य से संवलित होकर ही रस काव्य का आत्मा बनता है और औचित्य संवादी रचना ही श्रोता, एवं प्रेक्षक के हृदय को आवर्जित करती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :

कुर्वन् सर्वांशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ।।
यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथा मिथः ।।
तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम्।
अनौचित्येन संसृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ।।

अर्थात् जिस प्रकार मधुमास की सहलन से अशोक अंकुरित हो उठता है उसी प्रकार औचित्य से संवलित होकर 'रस' श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में दैवी पीर पैदा कर देता है। जिस प्रकार कुशल सूद द्वारा संवलित हुए षड्रसों का योजन भोक्ता को विचित्र आनन्द देता है उसी प्रकार परस्पर संश्लिष्ट हुए विविध रस श्रोता एवं प्रेक्षक की मन की कली को चटका देते हैं। इसलिए रसों के संकर में औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। रससंकर के औचित्य का उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र ने व्यास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगिलोलं हि जीवितम् ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त पद्य में शृंगार एवं शान्त रस का संकर उचित सम्पन्न हुआ है। शृंगार रस के औचित्य पर क्षेमेन्द्र ने कालिदास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्।।

इस पद्य के लिखने का आशय यही है कि कालिदास शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषारूप शृंगार उत्पन्न करना चाहते हैं। इस अभिप्राय को सामने रखकर ही उन्होंने वसन्त के नखों से क्षत होकर लाल हुई वनस्थली का वर्णन किया है। वसन्त का यह संयोग शृंगार प्रकृत अर्थ के लिए नितान्त संवादी है। शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति शृंगारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त यह उपयुक्त उद्दीपन कार्य कर रहा है।

यहाँ तक हमने भारतीय काव्य-शास्त्रों में औचित्य की गरिमा दिखाई है। औचित्य की यह महत्ता भारतीय काव्य-शास्त्र में ही नहीं अपितु पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में भी समान रूप से स्वीकार की गई है। प्राचीन काल से ही पाश्चात्य आलोचक औचित्य को काव्य-समीक्षा में महत्त्व देते आए हैं। किन्तु इन लोगों ने औचित्य को काव्य के बहिरंग तक ही सीमित रखा है। जहाँ एक ओर हमारे यहाँ औचित्य को काव्य का अन्तस्तत्त्व माना गया है वहाँ पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में इसे बाह्य सौन्दर्य का उपकरण बताया गया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रवर्त्तक अरस्तू ने अपने Poetics एवं Rhetorics नामक ग्रन्थों में औचित्य की मार्मिक मीमांसा की है। काव्य में भाषा के औचित्य पर विचार करते हुए अरस्तू कहते हैं कि रचना में भाषा का प्रयोग विषयानुसार होना चाहिए। सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में, एवं उग्र विषय का वर्णन सुकुमार शब्दों में किया जाय तो रचना का प्रभाव बिगड़ जायगा। अपनी Rhetorics में अरस्तू कहते हैं :

It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of persuasiveness.

अरस्तू के बाद अन्य आलोचकों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार इस प्रकार कर सकते हैं। भारत में वाणी की पूजा वैदिक काल से चली आ रही है और भारत के विचारकों ने वाणी के परिष्कार को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बताया है। वेदों ने अलंकृत भाषा का प्रयोग करके भावी विचारकों को अलंकार-शास्त्र का मार्ग दिखाया है; जिन्होंने परिष्कार के एक-एक पक्ष को लेकर अपने-अपने पृथक् सिद्धान्त स्थापित किये और उन्हें आगे बढ़ाया। प्रचलित काव्य-शास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि-रचना का प्रमुख लक्ष्य श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में चमत्कृत 'रस' का स्रोत बहाना है; दिल से रिसने वाली एक अनोखी 'पीर' पैदा करना है, जिसके आवेश में भौतिक जगत् तरल बनकर एक नवेले छाया-जगत् में बदल जाता और उसके कण-कण से ऐसा 'रस' रिसने लग जाता है जो श्रोता एवं प्रेक्षक की 'पीर' के साथ तादात्म्य होने के कारण उसे 'शून्य के उस पुलिन' पर पहुँचा देता है जहाँ सत् और असत् दोनों एक हो जाते हैं, जहाँ जीवन और मृत्यु समान रूप से आनन्ददायक बन जाते हैं। हमारे आचार्यों ने चमत्कार-संवलित शब्द और अर्थ के समवाय को साहित्य माना है और काव्यगत चमत्कार को विभिन्न आलंकारिकों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। आनन्दवर्धन इसे ध्वनि कहते हैं, जब कि कुन्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे वक्रोक्ति, अभिनव गुप्त वैचित्र्य, और क्षेमेन्द्र इसे औचित्य की संज्ञा देते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निराला स्थान है—किन्तु औचित्य शब्द की निष्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से होने के कारण इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है और इसमें रचना को चमत्कृत करने के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय को अंकुरित करते और जीवन के लिए क्षेमकारी होते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में औचित्य का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

भारत में ऐसे भी मीमांसक हो गए हैं जिन्होंने औचित्य की रसादि से सुतरां स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे ही काव्य-तत्त्व का श्रेष्ठ आसन प्रदान किया है। पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य से असहमति प्रकट करते हुए औचित्य को एक सम्बन्ध विशेष बताया है और इसी रूप में उसे काव्य के आत्मभूत 'रस' का परिपोषक स्थापित किया है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने काव्य, रस और औचित्य के त्रिभुज पर सरस्वती की वन्दना की है और उनकी दृष्टि में काव्य की सिद्धि रस में होती है और रस का जीवित औचित्य में है। क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोकों का आशय यही है :

'औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।'
'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रमेश कुन्तलमेघ

साहित्य-सृजन और आलोचना-सिद्धान्त

कवियों तथा कथाकारों की गोष्ठियों में अक्सर यह सुनने को मिलता है कि 'पहले साहित्य रचा जाता है और बाद में आलोचना ! पहले सृजन होता है और बाद में सिद्धान्त बनते हैं।' और यदि कभी विचारों का प्रश्न अथवा सामाजिक सिद्धान्तों का प्रश्न उठा लिया जाय तो तुरन्त उत्तर मिलता है कि 'आलोचना का इन धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध ? वह तो केवल साहित्य की अभिव्यक्ति के प्रकार के भले-बुरे को आँकती है; वह केवल शैली और भावों से सम्बन्धित है।' गोया आलोचना का सम्बन्ध केवल शिल्प से है; अथवा वह लेखक की व्यक्तिवादी इच्छा-रुचियों की केवल-मात्र टिप्पणी है और साहित्य के भाव तथा विचार-समाज से पूर्ण स्वतन्त्र है; अथवा आलोचना साहित्य पर जीवित रहने वाली अमरबेल है ।

इस प्रकार की धारणाओं के पीछे कवियों तथा लेखकों के स्वयंभू, सर्वज्ञ, और समाज-निर्माता होने की भ्रान्त अहंवादी धारणा तो व्याप्त है ही, लेकिन साहित्य के आच्छादित सन्दर्भ में वे सृजन और सिद्धान्त को पूर्णतः एकांगी ढंग से सम्बन्धित मानने की गलती करते हैं। वे यह नहीं मानते कि आलोचना साहित्य द्वारा निर्मित और विकसित भी होती है तथा साहित्य का निर्माण और विकास भी करती है; सृजन के नवलतर विचार समाज-व्यवस्था के परिवर्तन के साथ आते हैं और सृजन सामाजिक व्यवस्था के विकास की विचारात्मक उपलब्धियाँ होती हैं।

धर्म, नीति, राजनीति, दर्शन आदि जैसी विचारात्मक संस्थाओं में सिद्धान्त और सृजन के दो भाग नहीं होते; इनमें प्रत्येक व्याख्या और प्रत्येक विचार सृजन और सिद्धान्त का अविच्छिन्न अंग-सा बन जाता है। यहाँ तक कि स्वयं व्याख्या भी व्यावहारिक सृजन का रूप धारण कर लेती है। किन्तु साहित्य में सृजन और आलोचना-सिद्धान्तों की पृथक् सत्ता है जो अन्योन्याश्रित है। साहित्य में सृजन न तो आलोचना बनता है और न आलोचना साहित्य-सृजन ! एक कला-कृति होती है तो दूसरी कलात्मक धारणा। क्योंकि आलोचना-सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध साहित्य-सृजन से होता है अतः उदाहरणों और व्याख्याओं के लिए सृजन (-कृति) की आवश्यकता होती है। सृजन के प्रकारों का सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार विकास होता रहता है, उनके रूपों में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए मध्यमवर्ग और बाद में जनवाद की भावना के प्रतिष्ठित होने से—क्रमशः उपन्यास, निबन्ध, रिपोर्ताज़, मुक्त छन्द आदि विकसित हुए। सामाजिक जीवन और व्यक्ति के अनुभवों की विविधता को अभिव्यक्ति देने के लिए ही ये माध्यम उत्पन्न हुए, जिनमें तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म, नीति, दर्शन के विचार अथवा सिद्धान्त विद्यमान थे; लेकिन प्रारम्भ में 'अलोचना' नामक साहित्य-सिद्धान्त का रूप विकसित नहीं हुआ था। यद्यपि यह कार्य साहित्य में निहित उपदेश, नीति, विचार-दर्शन आदि कर रहे थे किन्तु शिल्प और वस्तु की व्यापक सौन्दर्यात्मक समीक्षा नहीं हुई थी। तो प्रश्न उठता है कि क्या आलोचना का प्रारम्भ साहित्य के बाद नहीं हुआ ? हम कहेंगे कि आलोचना-नाम से सम्बोधित किया जाने वाला साहित्य तो नहीं विकसित हुआ था किन्तु आलोचना की पूर्ति करने वाला और आलोचना के अधिकांश तत्त्वों से सम्पूर्ण साहित्य स्वयं ही कृति में धर्म, नीति, विचार, परम्परा, शैली, प्रतीक आदि के रूप में विद्यमान् था। जिस प्रकार एक विशेष कालावस्था में निबन्धों का, फिर उपन्यासों का विकास हुआ ठीक उसी प्रकार विशेष अवस्था में साहित्यालोचन का समारम्भ हुआ। जिस प्रकार आरम्भ में उपन्यास, निबन्ध, गद्य के न रहने पर भी हम साहित्य की सत्ता मानते हैं उसी प्रकार आलोचना-शास्त्र के न रहने पर भी हम साहित्य में प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक परम्पराओं तथा कृतियों को सिद्धान्त मानते हैं। साहित्य के आलोचना-सिद्धान्त शुद्ध-रूप में तो साहित्य से ही सम्बन्धित रहते हैं किन्तु वे अन्य तीन रूपों में भी विकसित होते हैं। तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक परम्पराओं और सौन्दर्य-बोधों के परिणामस्वरूप वे अभिव्यञ्जना व विषय-वस्तु उद्देश्यों में तो विद्यमान रहते ही हैं (जैसे शूद्रक का नाटक, शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन का महाकाव्य व्यवस्थित-आलोचना के पूर्व की कृति हैं) किन्तु लिपिबद्ध (Codified) नहीं रहते, दूसरे, वे (आलोचना का शास्त्रीय विकास न होने तक) नीति, धर्म, दर्शन, कानून, समाज-शास्त्र आदि में भी सापेक्ष रूप से उपस्थित रहते हैं और तीसरे, धारणाओं (Concepts) के रूप में भी एक दीर्घ परम्परा को आश्रय देते हैं जिनमें सिद्धान्त ही निहित रहते हैं। अतः आलोचना-सिद्धान्तों के भी भिन्न-भिन्न स्वभाव और प्रकृतियाँ तथा माध्यम हो सकते हैं जिस प्रकार साहित्य-सृजन के भिन्न-भिन्न प्रकार, भिन्न-भिन्न शैलियाँ और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। आलोचना तो मूल्यों का अंकन और साहित्य की व्याख्या करती है। आलोचक का कार्य केवल अपनी निजी प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करना नहीं होता, किन्तु वह यह विश्लेषण भी करता है कि अमुक लेखक ऐसा क्यों था, उसकी पृष्ठभूमि क्या थी, उसका काल कैसा था, उसके विचार क्या थे, उसकी भाषा कैसी थी; आदि। ये सभी तत्त्व प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न राजनीतिक, संस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक परम्पराओं में समानान्तर ढंग से विद्यमान रहते हैं।

जब-जब सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है, तब-तब कला, साहित्य, राजनीति, नीति आदि में भी परिवर्तन होते हैं। विचारों में परिवर्तन होने से कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों और आलोचना में भी व्यास आता है। लेखक स्वयं भी तो समाज में रहता है, अतः उसके विचारों की भी वही सम्पदा होती है जो समाज के अन्य व्यक्तियों की। केवल उसके चिन्तन की व्यापकता और अनुभूति की गहराई विशेष रूप से सराहनीय होती है। अतः कला और कलात्मक विचार साथ-साथ चलते हैं; कला लिपिबद्ध होकर साहित्य-ललित-कला आदि हो जाती है और कलात्मक विचार लिपिबद्ध होकर साहित्य-सिद्धान्त अथवा अलोचना का रूप धारण कर लेते हैं। कभी-कभी यह अवश्य होता है कि बौद्धिक विकास सामाजिक उपलब्धियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भी बहुत आगे हो जाता है। (और ठीक इसके विपरीत भी होता है।) इसलिए यदि साहित्य-कृति रस अथवा सौन्दर्यात्मक अनुभूति द्वारा समाज के सम्बन्धों की और विचारात्मक प्रगति की सूचना देती है तो कलात्मक विचार भी चिन्तन द्वारा यही सूचना देते हैं। इस प्रकार दोनों के मूल उद्देश्यों में समानान्तरता स्थापित हो जाती है; क्योंकि दोनों का आधार तो समान समाज है और विकास समानान्तर समाज-सम्बन्ध है। यदि कलात्मक विचार, जो आलोचना में पल्लवित होते हैं, किसी युग के सौन्दर्य-बोध की, प्रकृति-वर्णन की, पात्रों की सृष्टि की, मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की, शैली और अभिव्यञ्जना-प्रकारों की, सामाजिक समस्याओं तथा सहृदयों की रुचियों की विवेचना करते हैं और कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं तो कला-कृतियाँ इन्हीं तत्त्वों का वर्णन करती हैं जिनमें चिन्तन के बजाय भावनात्मक उन्मेष, व्याख्या के बजाय रस-स्थापना होती है। ये कला-कृतियाँ भी सामान्य तत्त्वों की चिन्तनात्मक, भावात्मक अभिव्यञ्जना करती हैं, किन्तु इनमें कलाकार का अपना व्यक्तित्व होता है जो शैली में परिणत होता है। लगभग समकालीन अश्वघोष, कालिदास और भास की कृतियों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में कुछ सामान्य कलात्मक विचार तथा सामाजिक सम्बन्ध थे। प्रकृति का आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत वर्णन, प्रकृति और नारी-सौन्दर्य का कान्त संयोग, सामन्त नृपतियों का रोमांस-प्रिय होना तथा धर्म एवं काम का सन्तुलन, विशेष प्रकार के वर्णन आदि की परम्परा प्रचलित थी; किन्तु इसके बावजूद भी हम देखते हैं कि कालिदास की प्रकृति के पशु-पक्षियों के मनोविज्ञान में गहरी पैठ, भारत का भौगोलिक ज्ञान और शृंगार का मादक वर्णन; भास के चरित्रों में अधिक पैनापन और अलंकारों के प्रति निर्मोह तथा अश्वघोष की कृतियों में धार्मिक प्रचार विद्यमान है। लेकिन फिर भी हम कहेंगे कि ये कृतियाँ उस युग के सामाजिक सम्बन्ध, विचार और (समष्टि—) शैली की रूप-रेखा प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार रीतिकालीन युग में विशेष प्रकार का नख-शिख-वर्णन, परम्परागत उपमान, उद्दीपन विभाव का ऋतु-वर्णन; अश्लील शृंगार प्रचलित था; फिर भी हम देव, बिहारी, पद्माकर, पजनेश, आलम, ठाकुर आदि की रचनाओं में वैयक्तिक अन्तर पाते हैं; यद्यपि सामान्य प्रवृत्तियों में बहुत कम मौलिक अन्तर है। अतएव यह कहना कि साहित्य की सृष्टि के आधार पर बाद में कलात्मक विचारों की स्थापना होती है, कुछ गलत है। कला और कलात्मक विचारों का विचार समानान्तर होता है। रीति-काल में सामन्तीय विलास का वातावरण ही ऐसा था कि राज-दरबारों में शृंगार, भोग-विलास की प्रवृत्तियों का बोल-बाला था, जिससे रुचियों और आलोचनाओं के मानदण्ड वैसे ही हो गए थे और वैसा ही चित्र-कला, नीति-शास्त्र, वेश-भूषा, साहित्य, रहन-सहन आदि में भी हुआ।

यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन आलोचना तो साहित्य-सृजन के समानान्तर न होकर संस्कृत-काव्य, शास्त्र का पुनरुत्थान थी। यदि यह मान लिया जाय तो यह भ्रम दूर हो जाता है कि साहित्य-सृष्टि के बाद उसके संकलन से ही सिद्धान्त निचोड़कर सम्मुख रखे जाते हैं। लेकिन बात यह नहीं थी। वस्तुतः संस्कृत के सौन्दर्य-शास्त्र का ही पुनरुत्थान हुआ था इस युग में अनेक शताब्दियों के बाद। लेकिन अब इसका ग्रहण बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों और बदलते हुए युग में हुआ था। हाँ, सामन्तीय-आश्रय और उनकी रुचियों की व्यवस्था में पर्याप्त समानता थी, परन्तु बाह्य परिवर्तन हुआ था इन पराजित हिन्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजवाड़ों तथा ह्रासोन्मुख सामन्तीय व्यवस्था तक आकर। इसीलिए संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों की वैसी ही अनुकृति हुई जैसा कि माघ और माघोत्तर कवियों ने अपने महाकाव्यों के अनेक वर्ग कभी वात्स्यायन मुनि के, कभी भरत मुनि के सिद्धान्त-निरूपण के अनुकूल रचे।

उपर्युक्त तथ्य में एक बुनियादी चुनौती यह है कि अपने युग के साहित्य का सार न लेकर आलोचना पूर्ववर्ती युग के उन सिद्धान्तों को ग्रहण करती है जो सामाजिक युग में अनुपयुक्त हैं। लेकिन यह क्यों होता है? यह क्यों होता है कि युग के प्रतिकूल प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य रचा जाय? सम्भवतः इसके अनेक कारण हैं—परम्परा का आग्रह इतना प्रबल हो जाता है कि सृष्टा उनका विरोध करने का साहस नहीं करता; या कलाकारों की मौलिक प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है अथवा उसके उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता; या सामाजिक सम्बन्धों के बुनियादी आधार वही रहते हैं; लेकिन कुछ छोटे-मोटे बाह्य परिवर्तन हो जाते हैं; अथवा सामाजिक परिवर्तन बहुत ही शिथिल होता है, जिससे विचार पिछड़ भी जाते हैं। कभी-कभी सामाजिक व्यवस्था से बहुत आगे बढ़कर बौद्धिक विकास हो जाता है जिसके फलस्वरूप कला, कला-विचारों, धर्म, दर्शन सभी में परिवर्तन हो जाता है। उत्तर भारत का भक्ति-आन्दोलन ऐसे ही काल की उपज है जब सिद्धान्तों की क्रान्ति ने समाज से आगे प्रगति की जिसके फलस्वरूप कबीर, सूर, मीरा, रैदास, दादू, नानक तथा अनेक सूफ़ी कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शती में बेहद पिछड़े हुए जर्मनी ने हाइने, हीगेल, गोएथे, काँट, फिख्टे, मार्क्स आदि को जन्म दिया। इसी प्रकार पिछड़े हुए रूस ने पुश्किन, तुर्गनेव, गोगोल, बेलिंस्की, चर्नीशे-वस्की, ताल्सताय को जन्म दिया। लेकिन सृजन-सिद्धान्त के द्वन्द्व का हमारी समस्या का समाधान यहाँ भी नहीं होता। पुनः भक्ति-युग का ही उदाहरण लें: इस युग में विचारों ने, धार्मिक सिद्धान्तों ने तथा उभरती हुई निम्न जातियों के लोगों के सौन्दर्य-बोधों ने मिलकर सृजन और सृजन-कृति अर्थात् साहित्य को संचालित किया। सिद्धान्तों के आधार पर ही भक्ति-काल का निर्गुण, सगुण और सूफ़ी मतों का अधिकांश साहित्य ढला है। उस युग की भाषा का सर्वसाधारण की भाषा होने का कारण यह है कि सामान्य कृषक, नीचे वर्गों की निर्धन जनता और सीधे-सादे गृहस्थों का यह आन्दोलन था। अतः (इस उदाहरण की पुष्टि के आधार पर) कलात्मक विचार, दर्शन के सिद्धान्त आदि साहित्य का निर्माण करते हैं और इतने जबरदस्त ढंग से प्रभावित करते हैं कि साहित्य सारे समाज में उथल-पुथल मचा देने वाला सर्वांगीण आन्दोलन तक बन जाता है। यह सिद्धान्तों की निर्देशन शक्ति से ही होता है यद्यपि (उस युग में) 'आलोचना' सिद्धान्त लिपिबद्ध न होकर धारणाओं और परम्पराओं के रूप में विद्यमान थे।

परन्तु जब इन्हीं सिद्धान्तों की अन्धानुकृति या काल के अनुपयुक्त अनुकृति होने लगती है तब या तो साहित्य भी परंपरावादी और निष्प्राण हो जाता है। जैसा कि रीति-काल में हुआ था, या फिर साहित्य सिद्धान्तों से बहुत आगे बढ़ जाता है; जैसा कि अधुनातन छायावादी काव्य-आन्दोलन में हुआ था। कभी-कभी बदले हुए युग-विचारों से साहित्य बहुत पीछे रह जाता है तो सिद्धान्त उसे आगे खींचते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन को यह श्रेय मिलेगा कि उसने साहित्य में सामान्य मनुष्य की मुक्ति, समता, सब प्रकार के शोषण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता और नव समाज-स्थापना के सिद्धान्त प्रसारित किए। यद्यपि इनके ग्रहण में भयंकर भूलें हुई हैं फिर भी ये सिद्धान्त और सृजन के द्वन्द्वात्मक अन्योन्याश्रय की पुष्टि करते हैं।

अस्तु हम कह सकते हैं कि समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होते ही बहुधा कला, कलात्मक विचार (सिद्धान्त), सामाजिक सिद्धान्त सभी में परिवर्तन होता है और नये सम्बन्धों के अनुकूल साहित्य रचा जाने लगता है, सिद्धान्त उभरने लगते हैं। साहित्य और आलोचना एक-दूसरे की परस्पर सहायता अवश्य लेते हैं और एक-दूसरे को निर्देशित करते हैं। इनमें से कोई भी एक-दूसरे पर पूर्णतः आश्रित नहीं होता बल्कि दोनों ही *समान* सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं और *समानान्तर* ढंग से विकसित होते हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम एक आदर्श उदाहरण देंगे। औद्योगीकरण के फलस्वरूप व्यक्तिवाद का अभ्युदय हुआ और सामन्तीय आदर्शों का ह्रास शुरू हो गया। पढ़े-लिखे नवोत्थित मध्यमवर्ग की बौद्धिक (न कि सामाजिक शक्ति के रूप में) प्रतिष्ठापना हुई। अतः अब वह पुराने क्षत्रिय शूरवीरों, नटों के स्थान पर स्वयं अपने आदर्शीकृत स्वरूपों को खोजने लगा। तब यह वर्ग काफ़ी सन्तुष्ट था और राजा-महाराजाओं सामन्तों की ओर से मुड़कर अपने पड़ोसियों के रोज़ के चेहरों, रोज के वार्तालापों, शहर के वातावरण, पारिवारिक समस्याओं और प्रणय-सम्बन्धों तथा प्राकृतिक छटा को निरखने लगा। ऐसी अवस्था में उपन्यासों का विकास हुआ। अंग्रेज़ी में रिचर्डसन, जेन आस्टिन, फ़ील्डिंग आदि ने ऐसे ही उपन्यास प्रस्तुत किये जिनमें कथा की अत्यन्त रोचकता थी, वातावरण की प्रधानता थी तथा कथोपकथन, पात्र-सृष्टि आदि भी आदर्शों तथा तरलताओं से पूर्ण थे। अतएव ऐसे सामाजिक वातावरण में एक ही प्रकार के कलात्मक विचार (सिद्धान्त) तथा कला (सृजन) का समान तथा समानान्तर विकास हुआ। यद्यपि तत्कालीन उपन्यासों के आलोचना-सिद्धान्त सम्भवतः लिपिबद्ध नहीं हुए थे फिर भी हम देखते हैं कि वे धारणाओं के रूप में विद्यमान थे। लेकिन उस काल से अनेक परिवर्तन हुए और सृजन में परिवर्तन के साथ सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हुआ। अब ज्वायस, हेमिंग्वे, विलियम फ़ॉकनर-जैसे उपन्यासकार रोचक कथा तथा आदर्श मध्यमवर्गीय पात्रों के बजाय केवल मात्र वातावरण की सृष्टि करते हैं: सोवियत् कथा-शिल्पी तो पात्रों को इतना महत्त्व भी नहीं देते और सामाजिक संघर्षों को चित्रित करके सामाजिक गुणों को उभारते हैं। ये सब परिवर्तन केवल-मात्र साहित्य में ही नहीं हुए, सिद्धान्तों में भी हुए और सामाजिक सम्बन्धों में भी हुए। यह कहना कि कौन पहले हुआ और कौन बाद में बिलकुल उसी प्रकार की खोज होगी जैसी कि पहले मुर्गी आई कि अण्डा। एक सामाजिक व्यवस्था बदलती है और तदनुरूप सिद्धान्त बदलते हैं; जब एक विशेष प्रकार की अवस्था या द्वन्द्व को प्रदर्शित करने की आवश्यकता होती है तो सिद्धान्तों में भी वही परिवर्तन होता है जो सृजनों में।

पुनः कुछ अहंवादी स्वयम्भू कवि और कथाकार चट से उदाहरण देंगे: देखो होमर के काव्यों को, ईस्किलस के नाटकों को! देखो, रामायण और महाभारत की, कालिदास शूद्रक के नाटकों को!! क्या उस समय भी तुम आलोचना की उपस्थिति मानकर झूठ बोलोगे? उत्तर में हम कहेंगे: बिलकुल नहीं।....लेकिन आप भी ज़रा ग़ौर करें, गुफ़ा मनुष्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर; देखें आदिम मनुष्यों को, जब वे भाषा लिखना भी नहीं जानते थे; तब आप क्या साहित्य की उपस्थिति के विषय में कुछ कहेंगे ? देखें, गुफ़ा-चित्रों को, जब केवल नृत्य और चित्र ही सृजन के माध्यम थे। हम कहेंगे कि समाज के विकास के साथ-साथ ही मनुष्य के भौतिक उत्पादन के क्षेत्रों के अतिरिक्त मानसिक क्षेत्रों में भी वृद्धि होती है। होमरकालीन, और रामायण-महाभारतकालीन साहित्यों के साथ भी सिद्धान्तों का विकास हुआ था जो 'आलोचना' या 'शास्त्र' के नाम से संग्रहीत न होकर समृति-ग्रन्थों, चारण-परम्पराओं, सूत्रों में संकलित थे। उस समय के सिद्धान्त धर्म और नीति के अभिन्न अंग थे। सृजन के विभिन्न अंगों के विकसित न होने के कारण सभी प्रकार की रचनाएँ 'काव्य' के अन्तर्गत आती थीं। तब सिद्धान्त अलिपिबद्ध थे और धारणाओं के रूप में व्याप्त थे। होमरकालीन और हिन्दू महाकाव्यों की सामाजिक अवस्थाओं के धूमिल इतिहास के बाद सुव्यवस्थित राज्यों की स्थापना के साथ—चाहे वे यूनान के नगर-राज्य हों या भारत के गणराज्य—हम उन कालों में केवल एकान्त कला के अलावा कलात्मक विचार ही नहीं पाते, अपितु राज्य-शास्त्र, नीति शास्त्र, कानून, सौन्दर्य-शास्त्र, भी पाते हैं—यह तो मनुष्य के ऐतिहासिक विकास की बात है। अस्तु, यदि सृजन भी भिन्न-भिन्न विकासावस्थाओं में रहा है तो सिद्धान्त भी वैसे ही परिस्थितियों से गुज़रे हैं। हम अपवादों को नियम नहीं मानते, यद्यपि उनकी व्याख्या को अनिवार्य समझते हैं। यहाँ हम पुनः दुहराते हैं कि जिस प्रकार साहित्य-सृजन के किसी युग में आलोचना-सिद्धान्त या तो लिपिबद्ध नहीं रहते (जैसा कि शेक्सपियर और मिल्टन के रचना-काल में हुआ), या वे धारणाओं के रूप में विद्यमान रहते हैं अथवा धर्म, नीति, दर्शन आदि में संकलित रहते हैं, उसी प्रकार ऐसा भी काल आता है जब सिद्धान्त का ही चक्रवर्ती-साम्राज्य रहता है और साहित्य या तो लुप्त रहता है या धर्माश्रयी, नीत्याश्रयी, दर्शनाश्रयी हो जाता है। जैसे भारवि के बाद सिद्धान्त तो बनते रहे किन्तु साहित्यकार मम्मट शतियों बाद आए और माघ के बाद भी सिद्धान्त तो रचे जाते रहे किन्तु साहित्य लुप्त रहा और पण्डितराज जगन्नाथ वर्षों बाद आए। यहाँ हम प्रसिद्ध रचनाकारों की चर्चा कर रहे हैं।

अब कुछ शेष असहमत और अप्रसिद्ध कवि और कलाकार कहेंगे कि आलोचना का सम्बन्ध तो केवल शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार से है, न कि अन्य प्रकार के सामाजिक विचारों से। हम कहेंगे कि यह धारणा तो और भी संकीर्ण है। क्या प्रत्येक युग में शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार नहीं बदले हैं ? क्या प्रत्येक युग में इन्हींके अनुरूप नये कथानक, विषय-वस्तुओं शैलियों, शब्द-चयनों, प्रतीकों का विकास नहीं हुआ ? हमारा उत्तर निश्चयात्मक होगा। यदि आलोचना (सिद्धान्त) का सम्बन्ध शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार से है, तो विचारों और अभिव्यञ्जना से भी तो हो सकता है; क्योंकि साहित्य में लगभग अस्सी प्रतिशत विचारों की (Content) तथा बीस प्रतिशत शिल्प (Form) की सम्पदा होती है। इसीके अनुरूप आलोचना-ग्रन्थों में शिल्प पर अन्त में कुछ पृष्ठ लिखे जाते हैं, शेष का सम्बन्ध सिद्धान्त, समाज, भावों, विचारों आदि से होता है। जब साहित्य में रूप-शिल्प तथा विषय-वस्तु का सम्मिलित योग है तो आलोचना को क्यों एकांगी बनाया जाय ? साहित्य के विचार तो सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं और वे ही विषय बनते हैं। इसलिए आलोचना को यह अधिकार एक पथ-प्रदर्शक की तरह प्राप्त है कि वह देखे कि साहित्यकार अ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतियों में कहाँ तक अपने युग के या ऐतिहासिक कृति के समाज की समस्याओं और मानव-सम्बन्धों की गहराई में डूबने में समर्थ हुआ है ? कहाँ तक उसने वर्णित युग और जन-जीवन को वाणी दी है ? कहाँ तक यह अभिव्यक्ति सच्ची और मंगलपूर्ण है ? इस दायित्व को निभाने के बाद आलोचना का शास्त्रीय और सैद्धान्तिक दायित्व आता है जो साहित्य के विभिन्न अंगों और कला (—अभिव्यञ्जना) की सफलता और असफलता की विवेचना करता है। यहाँ से यह विषय हमें पूर्णतः नये सम्बन्धों की ओर ले जाता है जिनका सीधा सम्बन्ध प्रतिपाद्य विषय से न होने कारण हम वाद-विवाद को स्थगित करते हैं।

हम यह अवश्य कहेंगे कि इस प्रकार का साहित्य-सृजन निस्सन्देह हेय समझा जायगा, जिसमें समाज का सच्चा चित्रण और लोक-मंगल का आदर्श नहीं होता; जिसमें लेखक व्यक्ति-वादी संकीर्णता से मुक्त नहीं हो पाता और जन-जीवन से दूर चला जाता है, जिससे वह अपने सुन्दर कक्षों में आराम से काल्पनिक जनता खड़ी करता है या अनेक कृतियों को पढ़ने के बाद उन्हें काट-छाँटकर अनुभवशून्य पात्र खड़े कर देता है। इसी प्रकार ऐसी आलोचना और अलोचना-सिद्धान्त भी हेय समझे जायँगे जिनमें आलोचक कृति को बिना पढ़े ही, या आलोचनाओं के आधार पर उसके विषय में अपना मत प्रकट करता है जो सैद्धान्तक न होकर व्यक्तिवादी होते हैं या पक्षपातपूर्ण होते हैं, जिन्हें कोई विशेष गुट स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए विज्ञापित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामरतन भटनागर

नया उपन्यास

हिन्दी में नये उपन्यास का आरम्भ जैनेन्द्र के 'परख' उपन्यास से माना जा सकता है, जिसका प्रकाशन १९२९ में हुआ था। परन्तु इस उपन्यास में जो शैलीगत और रूपगत विशेषताएँ थीं उनका जन्म यूरोप में बहुत पहले हो चुका था। इंग्लैण्ड में नई प्रवृत्तियों का जन्म १९१० के लगभग हुआ, परन्तु इन प्रवृत्तियों को स्थायित्व तीसरे दशक के आरम्भ में प्राप्त हुआ। फ़ार्स्टर की रचना 'द पेसेज टु इण्डिया' (१९२४) में हमें नई कोटि की एक अत्यन्त प्रभावशाली औपन्यासिक रचना के दर्शन होते हैं और बाद के बीस वर्षों में यह रचना अंग्रेजी उपन्यास-कला को बराबर प्रभावित करती रही है। इन नई प्रवृत्तियों का उदय फ्रांस और रूस के उपन्यासों में अन्तर्हित प्रवृत्तियों और प्रयोगों से हुआ और कालान्तर में उपन्यास उन्नीसवीं शती की परम्परा से विच्छिन्न हो गया। अमरीका के उपन्यासकारों के कुछ नवीन प्रयोगों ने भी नई कला के संयोजन में सहायता पहुँचाई। जो हो, यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-उपन्यास ने 'परीक्षा-गुरु' से 'परख' तक ५० वर्षों में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास की तीन शताब्दियाँ पार कर लीं और नये उपन्यास का उदय इंगलैण्ड की इस श्रेणी की रचनाओं के बहुत बाद नहीं हुआ। एक प्रकार से इस विकास को समकालीन भी कहा जा सकता है।

परम्परागत उपन्यासों में उपन्यासकार मूलतः एक मनोरंजक कथा को लेकर चलता था और साथ ही वह कुछ व्यक्तित्वों को भी उपस्थित करता था जिन्हें पाठक चरित्र की निश्चित और बँधी रेखाओं के भीतर से देखते थे। ये पात्र हमारे मित्रों और परिचितों से अभिन्न रहते थे और उनकी रूप-रेखा प्रशस्त रहती थी। उनकी सज्जा, उनकी मुद्राओं, वार्ताओं और प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक जोखा-लेखा रहता था। यह अवश्य है कि प्रारम्भ से ही ऐसे उपन्यासकार भी थे जो कथा के साथ-साथ जीवन-दर्शन भी देते थे, अथवा कथा में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जिहाद करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से ही उपन्यास समाज-सुधार का अस्त्र बन गया था और इस लक्ष्य को अंशतः सामने रखकर डिकेन्स जैसे कलाकारों ने बड़ी शक्तिशाली रचनाएँ उपस्थित की थीं परन्तु ऐसे भी उपन्यासकार थे जो सामाजिक समस्याओं से आगे बढ़कर अपनी कथा द्वारा धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विचारों का भी स्पर्श करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों में चार्ल्स किंग्सले का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है।

इंग्लैण्ड में जिन लोगों ने नई उपन्यास-कला के विकास में सहायता पहुँचाई उनमें हेनरी, जेम्स, हार्डी, आरनाल्ड बेनेट, गेल्सवर्दी, सॉमरसेट मॉम और कोनार्ड प्रमुख हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेस्टरटन, किपलिंग और सेमुअल बटलर का भी नाम लिया जा सकता है, परन्तु इनकी सभी रचनाएँ एक प्रकार से युग-परिवर्तन की सूचना नहीं देतीं। इन लेखकों के 'द मेन हू वाज़ थर्स्टडे', 'किम' (१९०७) और 'द वे आफ़ आल फ्लेश' को हम क्रमशः ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त १९१० तक की रचनाओं में ई० एम० फार्स्टर के चार उपन्यास हैं जिनमें अन्तिम 'होवर्ड्स एण्ड' (१९१०) है।

जिस मनोवैज्ञानिकता की नये उपन्यास में दुहाई है वह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हेनरी जेम्स के उपन्यासों में ही महत्त्व पाने लगी थी। इन नई रचनाओं में लेखक अपने पाठकों को साथ-साथ लेकर चलता है और पाठकों की काल्पनिक सहानुभूति ही पात्रों के भीतर प्रवेश पाने की एक मात्र कुञ्जी है। हेनरी जेम्स ने ही पहले-पहल पात्रों के कार्य-कलापों को अप्रधानता दी और उनके अन्तर्गत को विशेष महत्त्व दिया। जेम्स के उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है और इन कुछ पात्रों के कृत्यों के पीछे तर्क और भावना का एक विस्तृत जगत् है जो कहानी को रोचक और महत्त्वपूर्ण बनाता है। इससे यह हानि हुई कि उपन्यास मनुष्य के व्यापक कार्य-क्षेत्र को छोड़कर चरित्र और प्रेरणा के विशेष क्षेत्र में लग गया। इस आयोजना से उपन्यास बुद्धिमूलक बना और बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। कथा-प्रेम पीछे पड़ गया और बौद्धिक ऊहापोह प्रधान हो गई। कुछ उपन्यासकारों ने, जैसे हार्डी ने, बुद्धि और हृदय के बीच में सन्तुलन को बनाए रखा, परन्तु हार्डी के उपन्यासों में वातावरण की प्रधानता मिलती है जो नए उपन्यास का नया तत्त्व है। एक नये ढंग की विशेषज्ञता इस प्रकार की रचनाओं में आ जाती है। हार्डी ने काव्योपमयता और कथा के कलात्मक संगठन के रूप में दो नये तत्त्व भी नवीन उपन्यास-धारा को दिए। हेनरी जेम्स के बाद मनोवैज्ञानिकता का सबसे सुन्दर रूप हमें कोनार्ड में मिलता है, जिसकी रचनाओं में हमें संवेदनामयी और आकर्षक कथाओं के साथ-साथ पात्रों और प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण भी मिलता है और साथ ही जीवन का व्यापक एवं विस्तृत समालोचन भी। वास्तव में सूक्ष्म कलाकारिता और मनोवैज्ञानिक पकड़ के कारण कोनार्ड में उस युग के अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा आधुनिकता सबसे अधिक है। इन क्षेत्रों में हेनरी जेम्स से ही उसकी तुलना हो सकती है। जेम्स इस कला में अप्रतिम हैं और बीसवीं शताब्दी के उपन्यास पर उनका प्रभाव बहुत गहरा है।

नये उपन्यास के सृजन और निर्माण में बौद्धिक तत्त्वों का अधिक समावेश हुआ है। परम्परागत उपन्यास से इस दिशा में वह नितान्त भिन्न है। उपन्यास में कहानी और वस्तु (प्लाट) की आवश्यकता पर सन्देह किया जाने लगा और हार्डी एवं मेरिडिथ से एक कदम आगे बढ़कर उपन्यास को जीवन-दर्शन का वाहन मान लिया गया। उद्देश्य या बीज प्लाट और पात्रों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक नये उपन्यास के मूल में केन्द्र में एक विचार अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। इस विचार को पल्लवित करने में ही कथा और पात्रों की सार्थकता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि चुनते समय भी इसे ही ध्यान में रखा जाता है। चूँकि विचार पहले हैं, इसलिए उसके विकास के लिए प्रस्तुत कथा में असत्य का कुछ अंश होना अनिवार्य है। पुराने उपन्यासकार पहले पात्रों की कल्पना करते थे और फिर उनके अनुरूप कहानी गढ़ते थे, या पहले कथा की रूप-रेखा बनाते थे और तब उसे चारित्रिकता देते थे;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कथा और पात्रों को एक साथ ही सर्जन-प्रक्रिया में निर्मित करते थे। इससे उपन्यास में मांसलता रहती थी और कथा एवं पात्र विश्वसनीय रहते थे। नये उपन्यासों में सिद्धान्त ही सब-कुछ था और कल्पना पंगु थी। मनोविज्ञान को दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए उपस्थित किया गया और औपन्यासिक भूमि पर से मानवीय हलचल को हटाकर उसे सीमित कर दिया गया। यह कहा गया कि पात्रों की अधिक संख्या केन्द्रीय विचार को पल्लवित करने में बाधक होती है। फलतः पात्र गिने-चुने रखे गए। इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार उपन्यासकार के हाथ में ऐसे उपन्यास बड़े उत्प्रेरक हैं और धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती है। अधिक नये उपन्यासों में जीवन की समस्त और विविध भूमियों के उपयोग और कथा-निर्माण में विभिन्न व्यक्तित्वों के घात-प्रतिघात के स्थान पर केवल जीवन के सम्बन्ध में बौद्धिक ऊहापोह रहता है। इस प्रकार नया उपन्यास विचार-केन्द्रित है और उसकी अभिव्यञ्जना आत्यन्तिक रूप से मनोवैज्ञानिक है, यद्यपि धीरे-धीरे यह नई मनोवैज्ञानिकता भी पुराने ढंग की मनोवैज्ञानिकता से दूर जा पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि अब भी ऐसे अनेक लेखक हैं जो परम्परागत उपन्यास को ही लेकर बढ़ रहे हैं या उसे अपनी व्यक्तिगत विशेषता और नये उपन्यास के तत्त्वों के सम्मिश्रण से महत्त्वपूर्ण बना रहे हैं, परन्तु यह निश्चय है कि आज के उपन्यास की मान्यताएँ बीस-पचीस वर्ष पहले के श्रेष्ठ उपन्यास की मान्यताओं से भिन्न हैं।

१९२० से पहले ही अंग्रेज़ी उपन्यास ने नई दिशाएँ टटोलनी शुरू कर दी थीं। कुछ उपन्यासकारों ने, जैसे काम्पटन मेकेन्ज़ी और एच० जी० वेल्स ने बचपन और युवावस्था का चित्रण किया। कुछ अन्य उपन्यासकारों ने, जैसे डी० एच० लारेन्स ने, कल्पना और भावना के अतिरेक को अपनी कला का आधार बनाया और अवैध प्रेम के रूप में नई संवेदनाओं का चित्रण करके मन के गहन पर्तों को छुआ। लारेन्स का 'सन्स एण्ड लवर्स' इस दिशा में एक क्रान्तिकारी रचना है। कदाचित् इतनी शक्ति और काव्यमयता के साथ किसी भी उपन्यासकार ने जीवन का संघर्ष नहीं किया। सच तो यह है कि लारेन्स ने उपन्यास को अपने नये धर्म की प्रचार-भूमि बना दिया। नर-नारी के यौन-व्यापारों और प्रेम-घृणा के संवेदनात्मक चित्रों ने उपन्यास-जगत् में हलचल मचा दी। इन सब उपन्यासों से अलग और विशिष्ट स्थान वेल्स का है, जिन्होंने उपन्यास को वैज्ञानिक कल्पना और वैचारिक प्रयोगों की भूमि बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की बेड़ियाँ बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही टूटने लगीं थीं और उसका क्षेत्र विस्तृत बन चला था।

परन्तु नये उपन्यास का जन्म १९२० से ही माना जा सकता है, क्योंकि इसी समय के लगभग पुराने ढंग के उपन्यासों पर कड़ी चोटें पड़ीं और नये प्रभावों ने उसकी सारी भूमि ही बदल दी। ये नये प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही पड़ने लगे थे, परन्तु सामूहिक रूप से उपन्यास इनसे फिर भी अछूता था। परन्तु ये नये सिक्के चलने लगे और नई मुद्रा प्रशंसनीय भी बनी। ये प्रभाव तीन दिशाओं से आए।

१—फ्रेंच उपन्यास का प्रभाव। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही जार्ज मूर और सामरसेट माम के उपन्यासों पर फ्रेंच प्रभाव दिखलाई पड़ने लगा था। यह प्रभाव अंशतः ज़ोला के नग्न यथार्थ (प्रकृतवाद) का प्रभाव था, परन्तु रूपगत-भाषागत प्रभाव भी कम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण नहीं था। फ्रेंच उपन्यासों में शिल्प और अभिव्यञ्जना को अनिवार्यतः महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। वे सच्चे अर्थों में कला-कृतियाँ हैं। पुराने ढंग के उपन्यासों में उपन्यास-कार निर्बल भाव से चलता है, कभी-कभी तो कई कथाएँ लेकर चलता है। परन्तु फ्रेंच उपन्यासों में सूक्ष्म अभिव्यञ्जना और प्रासादिक शैली का महत्त्व है और उपन्यास का रूप-विधान भी सुगठित होना आवश्यक माना जाता है। १९२० के बाद प्रूस्त के उपन्यासों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना-शैली का प्रभाव पड़ने लगा।

२—दूसरा प्रभाव रूसी उपन्यासों का है। यह प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। टाल्सटाय, दोस्तोवेस्की, तुर्गनीव और चेखव की रचनाएँ अनूदित हुईं और पाठक और लेखक दोनों उनमें डूब गए। ये रूसी कथाकार मानवात्मा में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों ने इन गहराइयों को नहीं छुआ था। मानवीय व्यक्तित्व के अतलस्पर्शी मनोवैज्ञानिक आश्चर्य इन रचनाओं में उभर आए। इन उपन्यासों की संवेदना सार्व-भौमिक थी। इनमें या तो देश-व्यापी आन्दोलन चित्रित थे या मनुष्य की अन्तरात्मा की पीड़ा उभारी गई थी। इनका संसार ही दूसरा था।

३—रूसी उपन्यासों के प्रभाव के साथ ही अवचेतन मन-सम्बन्धी फ्राइड के नवीन आविष्कार भी सामने आए। १९२० तक मनोविज्ञान की नई उपलब्धियाँ मान्य हो गईं और मनोविश्लेषण की पद्धति लोकप्रिय हो गई। इन नवीन तत्त्वों ने व्यापक रूप से उपन्यास को प्रभावित किया।

अंग्रेज़ी उपन्यास को नई औपन्यासिक भूमि देने का श्रेय जेम्स ज्वाइस और वर्जी-निया वुल्फ़ को है। ज्वाइस का पहला प्रकाशित उपन्यास आत्मकथात्मक था। (ए पाट्रैट आफ़ द आरटिस्ट एज़ ए यंग मेन, १९१६), परन्तु वह कुछ पहले से एक विस्तृत प्रयोग में लगा हुआ था। यह प्रयोग 'उलीसस' (१९१४-२२) था। वास्तव में इतना बड़ा प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र में हमें अन्य नहीं मिलता। १९२२ में जब पेरिस में उसका प्रकाशन हुआ तो साहित्य-जगत् में हलचल मच गई। वह एक ही साथ निन्दा और प्रशंसा का विषय बन गया। इस उपन्यास का नायक डबलिन में चौबीस घण्टे बिताता है कर्तव्य इतना ही है। परन्तु ज्वाइस ने बहिर्जगत् को नायक की चेतना के अन्तःसूत्रों के द्वारा पकड़ना चाहा है। अन्तश्चेतना का एक प्रतीकात्मक प्रवाह उसमें उभर आया है। साथ ही अंग्रेज़ी भाषा की सारी सम्भावनाएँ लेखक ने समाप्त कर दी हैं। पाण्डित्य और हास्य को एक ही सूत्र में गुम्फित कर दिया गया है और परम्परागत उपन्यास का उसमें कुछ भी शेष नहीं है। केवल मात्र नायक की मानवता बच गई है। पात्रों के अन्तरंग संवादों (इण्टरनल मानोलाग्ज) को पढ़कर पाठक अस्तित्व के सूक्ष्म रूप से परिचय पाता है, परन्तु कथा-विकास का पता नहीं चलता। कथा-संगठन लुप्त है। बीज इतना गहरा दबा है कि पता नहीं चलता। सामान्य पाठक की पकड़ में वह आता ही नहीं। अनेक अंश अनैतिक और अवैध यौन-सम्बन्धी हैं जिससे सेन्सर ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को इंगलैण्ड में प्रकाशित नहीं होने दिया, परन्तु यह निश्चय था कि एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग सामने आया है। 'उलीसस' के पात्रों के विचारों की यौनगर्भिता और उसकी शैली ने नये उपन्यास को इतना प्रभावित किया कि पुरातन ढंग से उपन्यास लिखना ही सम्भव नहीं रहा। रूसी उपन्यासों ने जो नवालोक उपस्थित किया था, वह इस प्रयोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी प्रखर हो गया। वर्जीनिया वुल्फ़ ज्वाइस से अधिक संयमित रही, परन्तु कदाचित् वही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि उपन्यासकारों के दो वर्ग हैं भौतिकवादी और आध्यात्मिक। पहला वर्ग गौण विषयों पर लेखनी चलाता है और उसकी कला की सारी सार्थकता इसी में है कि उसमें क्षुद्र महान् और वास्तविक दिखलाई देने लगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासकार जीवन के मूलभूत और स्थायी तत्त्वों को लेकर चलते हैं। वे मनुष्य के चेतना-प्रवाह के सतत परिवर्तनशील और धारावाहिक रूप को महत्त्व देते हैं जो बाहर के प्रभावों से बराबर बदल रहा है और भीतर को नया रूप दे रहा है। वुल्फ़ के विचार में जीवन एक अर्द्ध पारदर्शी ज्योति-चक्र है जो हमारी चेतना के आरम्भ से अन्त तक हमें घेरे रहता है। उपन्यासकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि इस अज्ञात, अपरिसीम और सूक्ष्म आत्म-तत्त्व का आभास अपने पाठकों को दे, चाहे इसके लिए उसे कितना ही सूक्ष्म निरीक्षण क्यों न करना पड़े और चाहे उसकी अभिव्यञ्जना कितनी ही गूढ़ क्यों न हो जाय। इस प्रक्रिया में उसे विजातीय और बहिर तत्त्वों का कम-से-कम मिश्रण करना होगा। ऐसा एक प्रयत्न ज्वाइस की रचना के रूप में उसके सामने था। ज्वाइस ने अन्तर की ज्योति-शिखा के सूक्ष्मतम स्पंदन को पकड़ना चाहा था और वह जीवन-प्रवाह के अन्तरंग स्रोत तक पहुँच गया था। इसीसे वर्जीनिया वुल्फ़ ने उसे अध्यात्मवादी कहा। रूसी उपन्यास में भी ऐसे क्षण आते हैं जब आत्मा का गहनतम अलोडन अत्यन्त गूढ़, ओत-प्रोत और अन्यतम रूप में गुम्फित हो जाता है जिससे कि मानवीय मस्तिष्क की एक अभिनव चित्रपटी हमारे सामने उद्घाटित होती है। अंग्रेज़ी उपन्यासों में हास्य-विनोद के प्रसंगों और भावात्मक प्रसंगों में इस प्रकार की एक झलक मिल जाती है, परन्तु जीवन की रहस्यमयी गहराइयों की उतनी विस्तृत और निगूढ़ झाँकी हमें नहीं मिलती। वर्जीनिया वुल्फ़ की प्रयोगात्मक रचनाएँ 'जेकब्स रूम' और 'मिस्टर डेलोवे' हैं, परन्तु 'टु द लाइट हाउज़' (१९२७) में उनकी उपन्यास-कला का परिपक्व रूप मिलता है, इसमें चेतना के आभ्यन्तरिक प्रवाह को आत्मा के ज्वार-भाटे के रूप मेंचित्रित किया गया है, प्रतीकों का भी उपयोग है, और एक अत्यन्त संवेदनशील कलाकारिता भी है जो काव्य-रस देने में समर्थ है। पुरातन ढंग की कथा समाप्त हो गई परन्तु चारित्रिकता, जो अंग्रेज़ी उपन्यास की विशेषता थी। फिर भी सुरक्षित रही।

परन्तु नये उपन्यास का वास्तविक विकास बाद में हुआ। इन दोनों लेखकों ने उपन्यास-संबन्धी रूढ़िवादिता को नष्ट किया, और नई सम्भावनाओं की ओर इंगित किया। वास्तव में नये उपन्यास का नारा एलडस हक्सले की रचना 'आइलेस इन गाजा'। (१९३६) से आरम्भ होता है। इस उपन्यास में काल-प्रवाह को तीन तलों पर बराबर चलाया गया है। सच तो यह है कि १९२० से १९३६ तक उपन्यास के क्षेत्र में सबसे बड़े परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र में नहीं थे, नैतिक क्षेत्र में नये विचारों की उद्भावना में थे। प्रथम महायुद्ध ने रूढ़िगत विचारों की जड़ें हिला दी थीं और फलस्वरूप उपन्यासों में नई नैतिक चेतना की दुहाई दी जाने लगी थी। टेकनीक के क्षेत्र में ई० एम० फास्टर, डी० एच० लारेन्स और एलडस हक्सले कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

नये संवेदना-क्षेत्र भी सामने आए। महायुद्ध को लेकर कई रचनाएँ प्रस्तुत की गईं जिनमें अरनेस्ट हेमिंग्सवे की रचना 'ए फेयरवेल टु आर्म्स (१९२९) प्रमुख है। सिंक्लेयर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेविस, अप्टन सिंक्लेयर और ड्रेसर अन्य अमरीकी उपन्यासकार थे जिन्होंने यूरोप की नई औपन्यासिक चेतना को प्रभावित किया। कुछ उपन्यासकार धुर ग्रामीण जीवन को सामने लाए। बचपन और किशोरावस्था को लेकर भी कई रचनाएँ उपस्थित हुईं। काल्पनिक युगों और दूर देशों को लेकर भी रचनाएँ सामने आईं। ऐतिहासिक रोमांस का एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। नागरिक जीवन की विभीषिकाओं से भागकर उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन के काव्य-चित्र उपस्थित किए और उसे नागरिक जीवन एवं उद्योग-धन्धों के विपक्ष में पेश किया। अपराधी जीवन-सम्बन्धी रचनाओं और जासूसी रचनाओं की भी बाढ़ आ गई।

उपन्यासकारों की इस बाढ़ ने उपन्यास पढ़ने वाली जनता को कई वर्गों में बाँट दिया। एक वर्ग वेल्स, बेनेट, गेल्सवर्दी और कोनार्ड-जैसे परम्परानिष्ठ उपन्यासकारों को पसंद करता था तो दूसरा ज्वाइस और वुल्फ के प्रयोगों को, तीसरा गाँवों के चित्रण को, चौथा आइरिश या चीनी पृष्ठभूमि को। वास्तव में अनेक प्रकार की विचार-धाराओं ने उपन्यास को विशृंखलित कर दिया था। १९३७ के बाद 'प्रोलेतेरियेत नाविल' के रूप में मार्क्सवादी और साम्यवादी विचारों पर आधारित रचनाएँ सामने आईं और वर्गवाद तथा आन्दोलनों को महत्त्व मिला।

पिछले डेढ़ दशक में उपन्यासों का जो विकास हुआ है वह विशेषतः टेकनीक की दिशा में। उपन्यास का क्षेत्र छोटा होता गया है यद्यपि नये-नये क्षेत्रों की खोज भी की गई है। अब उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को न लेकर जीवन का एक खण्ड-मात्र लेता है, यहाँ तक कि चौबीस घंटों का जीवन या कुछ घंटों का जीवन भी उसने लिए काफी हो जाता है इन कुछ घण्टों में ही लेखक की चेतना काल-प्रवाह में आगे-पीछे दौड़ती है और उसके जीवन के अनेक शृंखल-विशृंखल चित्र पकड़ने में सफल होती है। इन्हीं चित्रों में पात्रों के जीवन की कथा बनती-बिगड़ती है। वास्तव में उसमें कर्तव्य नहीं होता, भाव-संवेदन ही होता है। फलस्वरूप, उसमें कथा की कड़ियाँ भी नहीं बनतीं, अथवा कथा सूक्ष्म ही रहती है। बीच-बीच में से कथा की शृंखलाएँ टूट आने पर मात्र अबूझ भी हो सकते हैं। इस प्रकार पाठक के पल्ले मानसिकता ही पड़ती है, चारित्रिकता नहीं। उपन्यास में मानस-भूमि पर जो तिरता दिखलाई पड़ता है वह केवल अस्तित्व-बोध-मात्र है। अधिकांश कथा एक प्रधान पात्र अथवा दो-तीन पात्रों से सम्बन्धित होती है। अन्य पात्र रंग-मात्र भरते हैं। प्रधान पात्र के सबल या या दुर्बल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में मनोविज्ञान ने बतला दिया है कि सभी मनुष्य मूलतः दुर्बल हैं और चारित्रिक स्वास्थ्य अलभ्य वस्तु है। जहाँ वह है भी, वहाँ नीचे के तल में विकृति ही मिलेगी। फलतः नये उपन्यास में न कथा हाथ लगती है, न चारित्रिकता; न मनोविज्ञान-निष्ठा, न तर्कसम्मत वार्ता; क्योंकि चारित्रिकता जहाँ नहीं है वहाँ मनोविज्ञान और तर्क-संगति भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्त में उपन्यास विचार या सिद्धान्त का विस्तार-मात्र रह जाता है और उसमें उपन्यासेतर अनेक अन्य तत्त्व आकर्षण देने के लिए महत्त्वपूर्ण ढंग से सामने आ जाते हैं। पूस्त के एक उपन्यास में एक पात्र रेल में सफर करते हुए एक आदमी को जान-बूझकर ढकेल देता है जिससे वह स्वयं कार्य-कारण की शृंखला से स्वतन्त्र रह सके (ले केब्ज दु वेतिकन, १९१४) यह निरुद्देश्य कर्म (ल एक्ते ग्रेचुई) का प्रमुख उदाहरण है। एक प्रकार से जीन पाल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचार-धारा का सूत्र हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें मिल जाता है; क्योंकि यहाँ कर्म स्वतन्त्र अस्तित्व का सूचक-मात्र है, उसका न कोई पूर्वापर-सम्बन्ध है, न कोई उद्देश्य; इस प्रकार नया उपन्यास मनोविज्ञान पर भी उस तरह आधारित नहीं है जिस प्रकार हेनरी जेम्स और कोनार्ड के उपन्यास। वह मनोविज्ञान से भी स्वतंत्र होना चाहता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं, जो फ्राइड, एडलर और युंग की सैद्धान्तिक मान्यताओं से आगे नहीं बढ़ते और 'केस-हिस्ट्री' बन जाते हैं अथवा साइको थेरेपी-मात्र रह जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी हैं जो विश्रृंखलित, अतर्क्य कार्य-व्यापार और निरुद्देश्य भावोद्दीप्ति को लेकर चलते हैं। आज उपन्यासकार का विश्वास डिग गया है। वह उन्नीसवीं शताब्दी के महान् उपन्यासकारों की तरह मनुष्य को केन्द्रीयता नहीं दे पाता। मनुष्य उसके लिए दुर्बल और अबूझ है। वह या तो लारेन्स की तरह प्रकृति की ओर लौटना चाहता है, या कार्य-कारण-श्रृंखला और नैतिक नियमों को तोड़कर एकदम प्रकृत पशु बन जाता है। आत्मोपलब्धि का नारा वह बराबर उठाता है, परन्तु सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होकर ही यह आत्मोपलब्धि उसे मिलेगी, ऐसा उसका विश्वास है। फलस्वरूप औपन्यासिक जगत् में कर्तृत्व और चारित्रिकता का अभाव है और क्षुद्र ही उसके केन्द्र में बैठ गया है। इसीसे पश्चिम में उपन्यास के विघटन की बात उठी है और रेल्फ फ्लाक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द नाविल एण्ड द पीपुल' में पश्चिमी उपन्यास के पतन को अनिवार्य बतलाते हुए समाजवादी यथार्थ (सोशिलिस्टिक रियलिजम) की आवाज उठाई है। इसमें सन्देह नहीं कि रूसी उपन्यास की परिणति के रूप में यह समाजवादी यथार्थ सामने आया है और गोर्की-शोलोखव-जैसे कलाकारों की मान्यता उसे प्राप्त हुई है। परन्तु समाजवादी यथार्थ चाहे समाज के चित्रण के लिए जितना उपयोगी हो, चाहे उसमें नये सामाजिक नायकत्व की आदर्शवादी अतिरंजक कल्पना हो,—वह मानवीय चरित्र की उन सूक्ष्म भंगिमाओं को उपस्थित नहीं कर सकता, न उन गहराइयों को छू सकता है जो फ्रेंच उपन्यास में सहज रूप में दिखलाई देती हैं। व्यक्तिगत जगत् के सूक्ष्म को रूसी उपन्यासों में सामाजिक स्थूल पर बलि कर दिया गया है। परन्तु क्या यह स्थिति अनिवार्य है, क्या सामाजिक उद्देश्य की बैसाखी लेकर ही उपन्यास सार्थक बन सकेगा! क्या समाज और व्यक्ति के अन्तरावलम्बन को स्वीकार करके इन दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय की चेष्टा भविष्य में उपन्यासकार का ध्येय नहीं हो सकता। पश्चिमी उपन्यासकार जहाँ अन्तरंग में डूबकर खो गया है, वहाँ रूसी उपन्यासकार जीवन की मोटी-मोटी रूपरेखाएँ उभारने और सामाजिक-राजनीतिक प्रचारवाद में ग्रस्त है। दोनों अतिवादी हैं। कदाचित् दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय में ही उपन्यास का भविष्य अन्तर्हित है।

उपन्यास क्या नहीं रहा है और क्या नहीं है। अपने विकास में उसने कविता, आख्यान, लोक-कथा, उपदेश, रूपक, नाटक, निबन्ध, वार्ता सबके तत्त्व संग्रहीत किए हैं। वह सामाजिक, राजनीतिक, व्यंगात्मक, साहित्यिक सब प्रकार की स्थितियों को सुलझाता रहा है। उसने मनोविज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात् किया और ये उपलब्धियाँ ही उसे अब चारित्रिकता के केन्द्रीभूत तत्त्व से अलग लिये जा रही हैं। चरित्र अबूझ है, इसलिए उपन्यास भी अब अबूझ बन गया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान की उतनी अतलस्पर्शी गहराइयाँ उपन्यास का विषय नहीं हैं। उपन्यास सार्थक जीवन देता है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनाभास को लेकर चलता है। उसमें सिद्धान्त का आरोप क्यों हो ? क्यों लेखक जीवन को अपने नैसर्गिक रूप में हमें नहीं दे ? क्यों वह स्रष्टा बनने का दम्भ करे ? उपन्यास मनुष्य की कृति है और मानव-जीवन के अन्तर में पहुँचना ही उसकी सार्थकता है। बुद्धि को एकदम परित्यक्त मानकर अबूझ के सहारे जीवन के अन्तराल में कैसे पहुँचा जा सकेगा ?

यूरोप से एक आवाज उठी है कि उपन्यास मर रहा है, या अपने अन्तिम दिन जी रहा है। पिछले वर्ष इस विषय पर कई विद्वानों ने चर्चा चलाई। जिस तरह संसार के अन्य सभी विषयों में, यहाँ भी मतभेद रहा और दो दल रहे। एक दल उपन्यास को सक्रिय और सशक्त मानता है और नई सम्भावनाओं की कल्पना करता है। दूसरा वर्ग उपन्यास के दिन ही उँगलियों पर गिन रहा है। दोनों के अपने तर्क हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास अब वह नहीं रहा जो डिकेन्स और थेकरे के जमाने में था, या टाल्सटाय के समय में। उसकी प्रकृति ही बदल गई है। वह उसी कोटि की चीज होते हुए भी भिन्न वस्तु है। नये उपन्यास का यह नयापन ही क्या उसके भीतर की छिपी जीवन-शक्ति की दलील नहीं है ? सम्भवतः पश्चिम के व्यक्तिवादी नये उपन्यास और रूस के समाजवादी यथार्थ के घात-प्रतिघात से एक नई उपन्यास-कोटि विकसित होगी जो चीन और भारत की नई जाग्रत औपन्यासिक प्रतिभाओं को भी आत्मसात् कर लेगी। पूर्व में अभी उपन्यास नये जीवन के चित्रण और नई सम्भावनाओं के उद्घाटन में लग रहा है। कथा-साहित्य का जन्म ऋग्वेदिक गाथाओं, औपनिषदिक रूपकों, पौराणिक देवकथाओं और जातक-कथाओं के रूप में भारत में ही हुआ। पश्चिमी संसार की कई शताब्दियों की यात्रा करने के बाद उपन्यास फिर अपने जन्म-स्थान में लौटा है। सम्भवतः उपन्यास के विकास के नये चरण पूर्व में ही पड़ेंगे और वह पश्चिम के अनुकरण से नहीं, पूर्व की प्रकृति को आत्मसात् करके ही आगे बढ़ेगा। इसी सन्दर्भ में हमें नये उपन्यास का अभिनन्दन करना है।

: २ :

नई उपन्यास-कला में जो चीज़ सबसे पहले हमारे सामने आती है वह यह है कि उसकी जीवन-सम्बन्धी संवेदना भिन्न और नई कोटि की है। उपकरण वही हैं, दर्पण वही पुराना है; परन्तु अब उसे नई क़लई मिल गई है। वास्तव में हम फार्स्टर से सहमत हैं कि विषय की नवीनता और महत्त्व उपन्यास के उतने महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं हैं जितनी उसकी संवेदना की भूमि। आधुनिक उपन्यास संवेदना की सूक्ष्मता और व्यापकता के कारण ही पुरातन उपन्यास से भिन्न है। वह वही चीज़ होते हुए भी वही नहीं है। घटनाओं और चरित्रों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है और एक तरह से मानव-जीवन का अर्थ ही नया उद्घाटित हुआ है। 'मूल्यों' के परिवर्तन ने उस चश्मे को नये रंग दे दिए हैं जिसके भीतर से हम अपने को और अपने चारों ओर के संसार को देखते थे। फलस्वरूप उपन्यास की कला बदली है और बदले हुए दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए उसने नये अवयवों का विकास किया है या पुराने उपकरणों को ही संवेदना की नई धार दी है।

नये उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्त्वों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। ये तत्त्व हैं : (१) जीवन-क्षेत्र का संकोच। काल-विस्तार और जीवन-विस्तार दोनों की दृष्टि से आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है। २४ घण्टों या कुछ ही घण्टों के जीवन-प्रवाह को कथा में बाँधने में आज उपन्यास की सार्थकता है। श्री गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' उपन्यास में एक दिन और एक रात की कथा कही गई है और प्रभातोदय के साथ नये जीवन के अभिनन्दन के साथ वह समाप्ति को प्राप्त होती है। ज्वाइस और वर्जीनिया वुल्फ़ इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो चौबीस घण्टे भी बहुत होते हैं। उपन्यासकार आज खण्ड मनुष्य को न देकर सम्पूर्ण मनुष्य को देना चाहता है। परन्तु यह मनुष्य की सम्पूर्णता उसके कर्तृत्व में नहीं है, उसके मन के आलोड़न-विलोड़न में है। इसीसे नया उपन्यासकार आज अणुवीक्षणीय हो उठा है। उसके लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है, प्रतीक नहीं, वह स्वयं ब्रह्माण्ड ही है। जैनेन्द्र में हमें यही दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। उन्होंने समस्त जीवन की कथा न कहकर सर्वजीवन की कथा कही है। काल के साथ जीवन की चित्रपटी भी छोटी होती गई है। आज अनेक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के उपन्यास लिख रहे हैं, या बचपन अथवा युवावस्था तक सीमित हैं, कुछ ने केवल गाँव को ले लिया है, कुछ सामूहिक चेतना के किसी अंग को लेकर चलना चाहते हैं। आज उपन्यास में जीवन का एक खण्ड ही बहुत है। उसका दृष्टिकोण विशेषज्ञ का दृष्टिकोण है।

(२) काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनामूलक कल्पना। आइंस्टाइन की खोजों ने आज देश और काल के सम्बन्ध में हमारी धारणा ही बदल दी है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बदली हुई धारणा उपन्यासकार के उपयोग की वस्तु है या नहीं, परन्तु आज घटना बहिर्जगत् की वस्तु नहीं, अन्तर्जगत् की वस्तु बन गई है और उसके क्रम-विकास की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं है। वर्जीनिया वुल्फ़ ने अपने 'द वेव्ज़' उपन्यास में काल-प्रवाह के तीन स्तर एक साथ चलाए हैं और घटनाओं की असंगति और क्रमहीनता से काल-स्रोत का आभास दिया है। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में स्थान-स्थान पर इस नई टेकनीक का प्रयोग किया है और बीती हुई घटनाओं को शेखर की विशृंखल मानसिक संवेदनाओं के माध्यम से देखा है। इस प्रकार के प्रयत्न उपन्यास से कथारस छीन लेते हैं और उसे विशेषज्ञों की वस्तु बना देते हैं। पाठक पात्रों के अन्तर्जीवन में भाग नहीं ले पाता, वह बेचारा द्रष्टा-मात्र रह जाता है। उपन्यास-लेखक का मन स्वयं काल की सीमाओं में बँधा हुआ है। वह काल के पार कैसे देख सकेगा? रेम्बो ने रुग्ण मनस् या अतिजीवित क्षणों में काल और व्यक्तित्व के पार देखने की कल्पना की थी, परन्तु यह कल्पना उसकी कुछ कविताओं में ही बँध कर रह गई। आधुनिकता के नाम पर उपन्यासकार उसे फिर लेकर चलना चाहता है। जो हो, काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनामूलक कल्पना नये उपन्यास का बहुमूल्य सम्बल है।

(३) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। अर्थात् फ्राइड, एडलर और युंग की मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक मान्यताओं पर आधारित घटनाओं का संकलन और नई चारित्रिकता का विकास; जो अवचेतन को अधिक महत्त्व देती है। यह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने परम्परागत उपन्यास से चारित्रिकता का अंग-मात्र लिया, परन्तु उसे बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रख सका। इसका कारण मनोवैज्ञानिकों की मन-सम्बन्धी खोजें थीं। मनोवैज्ञानिकों ने आज मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतन्त्र इकाई और अविभक्त थी, वह आज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में अराजकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है परन्तु उनका अपना आकर्षण भी है। उनसे हमारी जिज्ञासा की भी शान्ति होती है और हमें क्षण-भर क्रीड़ा-कौतुक का आनन्द भी होता है। स्वयं विधाता की भाँति हम मन को तोड़-फोड़ लेते हैं और टूटे हुए टुकड़ों को कभी एक तरह, कभी दूसरी तरह रखकर चमत्कार-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े-मात्र हैं, परन्तु ये मानवीय प्रकृति के अंग होने के कारण उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ये वे ईंटें हैं जिन पर वह भव्य भवन का निर्माण कर सकता है। इसलिए आज का उपन्यासकार इन बिखरे हुए मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार करे? क्या वह इनसे एक निश्चित रूप और आकार का निर्माण करे? पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार चरित्रांकन करते समय चरित्र के विभिन्न टुकड़ों को एक-दूसरे से बिलकुल सटा-कर एक सम्पूर्ण और निश्चित चरित्र का निर्माण करने में अपनी कला की सार्थकता समझते थे। यह नहीं कि वे मानव-चरित्र की असम्बद्धताओं और असम्पूर्णताओं को नहीं समझते थे और मनुष्य को देवता या राक्षस मानकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। हमें ऐसे अनेक चरित्र उन्होंने दिए हैं जो सफ़ेद और काले रंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हेमलेट-जैसी रहस्यवादिता है, जो निश्चित रूप-रेखाओं में बँध नहीं पाते। परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे चरित्र को 'चरित्रता' दें अर्थात् वह निश्चित, सुसंबद्ध, स्पष्ट, तर्कसिद्ध और अविभाज्य इकाई हो। चरित्र की डोरियों के सिरे परस्पर बँधे हों, वे झूलती न रहें। परन्तु बीसवीं शताब्दी की मनोविज्ञान की खोजों ने 'चरित्र'-सम्बन्धी मान्य-ताओं में महान् क्रान्ति कर दी। यह अवश्य है कि अब भी पुरानी परम्परा के सैकड़ों कथाकार हैं जो चरित्रों को सुनिश्चित और अखण्डित इकाई बनाए रखने में ही कला की सार्थकता समझते हैं, परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा ऐसा वर्ग भी है जो परम्परा की ओर मुड़कर नहीं देखना चाहता। उसकी दृष्टि भविष्य पर है और उसका कहना है कि किसी भी पात्र को अविभाज्य और सुस्पष्ट बना देना वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन में ऐसा नहीं होता। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते हैं वे हमें खण्डित रूप में ही, या अनेक खण्डों के रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन चरित्रगत खण्डों को जोड़कर अपने लिए एक सम्पूर्णाभास तैयार करना होता है। इसीलिए आज का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता, वह चरित्र के विभिन्न अंगों या खण्डों पर प्रकाश डालता है। मनोवैज्ञानिकों ने मन को जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है, वे विभिन्न स्तरों की चीज़ें होते हुए भी चरित्र के पुनर्निर्माण के आवश्यक अंग हैं क्योंकि आज हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन-मन से कार्य-क्षेत्र में उतरता है। या वह यह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से संचालित है। परन्तु उसके पीछे उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर-विरोधी, कभी-कभी असम्बद्ध और भयावह तत्त्व हैं और उसकी चेतना उसके अवचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित होती रहती है। आज उपन्यासकार ने मानव-मन के अवचेतन के तत्त्व को समझ लिया है और उसका शिल्प भी बदल गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा-सा, निश्चित-सा रेखाचित्र है, न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध खण्ड-चरित्र मात्र को सामने रखकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। वह पाठक और चरित्र के बीच में ज़रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी खड़ा होना नहीं चाहता। नये उपन्यासकार अपने चरित्रों को कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं, कभी विरोधाभासपूर्ण। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर उसे हम उसी प्रकार क्यों नहीं चित्रित करें? एक दूसरी कठिनाई यह है कि यह सब-के-सब मनस्-खण्ड एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित हैं, कुछ अन्तश्चेतना का प्रवाह-मात्र अथवा उपचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया-मात्र और कहीं अवचेतन की अन्ध-शक्तियाँ हमारे सामने आती हैं जो पात्रों की चेतन मान्यताओं को झकझोर डालती हैं। इन विभिन्न स्तरों और खण्डों को लेकर हमें एक समन्वित चरित्र तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र से अब कालानुक्रम लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं, परन्तु वे किसी निश्चित काल-क्रम से नहीं। कभी हम सहसा आगे बढ़ जाते हैं, कभी झटका खाकर एकदम पीछे उसके बचपन या किशोर जीवन के गर्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषम और असम्बद्ध गति की भाँति कथा और चरित्र-भूमियाँ आज विषम, असम्बद्ध और अगतिशील बन गई हैं। उपन्यासकार आज हमें अखण्डित सम्पूर्ण नहीं देता। वह हमें जीवन-खण्ड ही देता है। वह सुनिश्चित होना नहीं चाहता और चरित्र के खण्ड देकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। जो वह देता है उसमें एकसूत्रता स्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एकसूत्रता नहीं होगी। इसे हम भावगत एकसूत्रता कह सकते हैं। सेसिल डे लेविस ने इसे 'इमोशनल सीक्वेन्स' कहा है। वे कहते हैं: **"तर्क-संगति के नितान्त अभाव आदि न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़-सा जाता है.....संगति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर डालकर उसे अतिसंवेदित कर देना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे लगेगा कि उसने सूत्र को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो।"** वास्तव में नया उपन्यासकार चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्कग्रहीत सम्बन्ध-सूत्रों की उसके उपन्यास में स्थापना असम्भव होगी। अब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय-निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था, परन्तु जहाँ साहित्यकार ऊपरी मन के धरातल को छोड़कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण, असंगत और अर्द्धस्फुट विचार-प्रवाह या भाव-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहाँ तर्कशास्त्र-समस्त निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-खण्ड सम्पूर्ण चित्र कैसे दे सकेंगे? आज का उपन्यासकार इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को पूर्णतया नहीं जान सकेंगे, तो नया दृष्टिकोण कहता है कि हम अपने निकट-से-निकट सम्बन्धी का अन्तर्बाह्य-पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं। कभी जान भी न सकेंगे, यह भी नहीं कह सकते। जब दैनिक जीवन में ऐसा है तो हम उपन्यासकार से यह क्यों चाहें कि वह हमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे? आज का उपन्यासकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी अपनी चीज़ है। उसे छोड़कर कोई उससे सम्पूर्णतः परिचित होने का दावा नहीं करता। फिर भी जो असम्बन्धित चित्र आज हमें उपन्यासकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है, वे पात्र के मन की एक झाँकी देने में समर्थ हैं। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्क-सिद्धता और गणित का योगफल हमें नहीं ढूँढना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उसमें अकल्पित और असम्भाव्य को भी स्थान है। वहाँ हमें योगफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएँ। हम उपन्यासकार के कल्पना-चित्रों में डूब जायँ और उनके प्रवाह में अपने को बहने दें। तभी हम जीवन-प्रवाह की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

४—नये उपन्यासकार में अन्तर्जीवन की प्रधानता है और उसके भीतर से बहिर्जीवन को देखने का प्रयत्न है। फलस्वरूप एक ही घटना को या एक ही चरित्र को विविध दृष्टिकोणों या पात्रों के माध्यम से देखा जाता है। नई चरित्र-दृष्टि चरित्रों को असंगत अवचेतनीय प्रतिक्रियाओं का समाहार मानती है। इससे परम्परागत ढंग की चारित्रकता और वस्तु-संगठन को आज अमान्य समझा गया है। आज का उपन्यासकार मानव-जीवन के क्षण-क्षण भावोत्थान-पतन का आलेखन-मात्र करता है और उसीमें जीवनाभास हमें देता है। परन्तु यह निश्चय है कि उसकी अपनी सीमाएँ हैं, जिनका व्यतिक्रम वह नहीं कर सकता। आज उपन्यासकार के लिए कालक्रमागत जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मूल्यगत जीवन, परन्तु केवल मूल्यगत जीवन को लेकर चलने से घटनाओं की शृंखलाएँ ही टूट जाती हैं और कथा कथा नहीं रह जाती। वास्तव में कालक्रम और 'मूल्य' दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और एक के लिए दूसरे की बलि उचित नहीं है। फ़ोरेस्टर ने अपने ग्रन्थ 'आस्पेक्ट्स आफ द नाविल' (१९२७) में उपन्यास के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता देते हुए कहा है कि उपन्यास के ताने-बाने के भीतर कालक्रम को एकदम अस्वीकार कर देना उपन्यासकार के लिए असम्भव बात है। चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में हो उसे कथा-सूत्रों से चिपटा रहना होगा, काल के अपरिसीम धारा-प्रवाह को उसे अनिवार्य रूप से छूना होगा, नहीं तो वह अबूझ हो जायगा और उपन्यासकार के लिए यह घातक ग़लती मानी जायगी। आधुनिक उपन्यास कालक्रमागत जीवन से ऊपर उठना चाहता है। एक-मात्र मूल्यगत जीवन ही वह देना चाहता है। परन्तु कथा में आकांक्षा, जिज्ञासा और समाधान के जो सत्र हैं वे उसकी पकड़ से जाते रहते हैं और इसीसे उसकी रचना में जीवन-प्रवाह की वास्तविकता होने पर भी उससे हमें सन्तोष नहीं होता। अन्तर्जीवन का अन्यतम चित्र होने पर भी रचना अवास्तव ही रहती है।

आज उपन्यास कथा के सूत्र अदृश्य उपन्यासकार के हाथ में रखने का कायल नहीं है। वस्तु-संगठन तर्कमूलक बौद्धिक प्रतिक्रिया है और अन्ततः इस प्रक्रिया को लेकर चलने से रचना निष्प्राण ही हो सकती है। बहुधा घटनाएँ और चरित्र उपन्यासकार के सूत्रों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उपन्यास को परिसमाप्ति देने के लिए उपन्यासकार उनके साथ बलात्कार करता है। नया दृष्टिकोण इसे अनाचार मानता है। उपन्यास रूपरेखा को लेकर चले ही क्यों? क्या वह स्वाभाविक अथवा प्रकृत रूप से विकसित नहीं हो सकता? वह समाप्त हो ही क्यों? क्या वह खुला नहीं रह सकता? जीवन की भाँति वहाँ भी सब-कुछ सम्भावनाओं पर ही क्यों न छोड़ दिया जाय? सूत्रधार न होकर उपन्यासकार रचना के भीतर अपने को भी क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं डाल दे और किसी अकल्पित लक्ष्य की ओर बहने का आनन्द ले ? इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-संगठन कथा को आकर्षक और रोचक बना देता है, परन्तु वस्तु-संगठन नाटक से उधार ली हुई चीज़ है और रंगमंच की सीमाओं की उपज है। उपन्यासकार किसी भी रंगमंच से बँधा नहीं है। वह जीवन की व्यापकता का आभास क्यों न दे ? यह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने अपने को नाटक और काव्य के प्रतिबन्धों से मुक्त करना चाहा है और इसीलिए कालक्रम और वस्तु-संगठन की उसने उपेक्षा की। इसीलिए आज उपन्यस कहे जाने वाली चीज़ एक नई साहित्य-कोटि बन गई है।

५—नये उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी विचारमूलकता है। वैसे हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का वाहन बना हुआ है, परन्तु आज यह विचारमूलता जीवन-दृष्टि में बदल गई है। टाल्सटाय, ऐन्द्रे ज़ीद, सार्त्र सब कथा को जीवन-सम्बन्धी ऊहापोह का साधन बनाते हैं। जहाँ जीवन-प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है वहाँ भी जीवन दृष्टि की नवीनता ही अभिधेय है। इस प्रकार नया उपन्यास जीवन का चितेरा नहीं, जीवन का समीक्षक है। वह 'मूल्य' देता है, औपन्यासिक रस, चारित्रकता, अन्तर्मन की उपलब्धि ये उसके लिए आज महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रेल्फ़ फ़ाक्स ने इसी परिवर्तन में उपन्यास का ह्रास देखा है। परन्तु जो हो, यही नई दिशा आज उपन्यास ने ग्रहण की है और इसीमें उसने नई सम्भावनाओं की कल्पना की है।

६—नये उपन्यास में सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन के बीच पटरी बिठाने की चेष्टा भी दिखलाई पड़ती है। रूसी उपन्यासों का तो यह विषय है ही, क्योंकि रूस में सामूहिक जीवन के विकास का प्रयत्न हो रहा है और नये समाजवादी यथार्थ में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नहीं, उसकी समाजगत चेतना ही अंकित है, परन्तु पश्चिमी यूरोप के उपन्यसकार भी एक दूसरे ढंग से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे हैं। उपन्यास ही क्यों, काव्य और नाटक भी मूल रूप से इसी समस्या को लेकर चलते हैं। इब्सन और शा के नाटक और वेल्स की रचनाएँ इस द्वन्द्व को प्रारम्भ में हमारे सामने लाए और उन्होंने मनुष्य की मौलिक समाज-मूलकता का उद्घोष किया। बाद में व्यक्तिवाद के समर्थक भी सामने आए और समसामयिक युग में सार्त्र नाटकों में यह व्यक्तिवाद अपने सबसे नंगे रूप में दिखलाई देता है। इस समय पश्चिमी यूरोप मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है और पूर्वी यूरोप सामूहिक जीवन के प्रयोग कर रहा है। उपन्यास में यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से सामने आता है।

७—उपन्यास के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र में हुआ है। आज उपन्यासकार निर्वैयक्तिक ढंग से वैयक्तिक होना चाहता है। तटस्थता उसकी कला का प्राण बन गई है। फलतः कथा कहने के विविध ढंगों का उसने आविष्कार किया है। आज उपन्यासकार वस्तुगत जीवन नहीं देना चाहता। इसीसे आज वह कहानी में मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ही भर देना चाहता है। उसकी कला आज रूपकात्मक या अभिव्यञ्जनात्मक है। आन्तरिक संवाद और अन्तश्चेतन-प्रवाहमूलक पद्धतियाँ उपन्यास को आध्यात्मिकता प्रदान करने में समर्थ हैं। बहिर्जीवन की चीज़ न होकर आभ्यन्तरिक जीवन की उपलब्धि हो गया है। नई-नई अभिव्यञ्जना-शैलियों का आविष्कार हो रहा है और भाषा-शैली के नये मार्मिक प्रयोग सामने आ रहे हैं। 'मुक्त आसंग' (फ्री एसोसियेशन) की पद्धति, सांकेतिकता का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीकवाद (विशेष रूप से स्वप्न-प्रतीकों और यौन-प्रतीकों का व्यापक उपयोग) और इसी प्रकार की दूसरी नवीनताएँ नई उपन्यास-कला का निर्माण करती हैं। उपन्यासकारों ने तर्क-संगति को तोड़ दिया है और वे भाव-संगति को प्रधान बनाकर चले हैं। तर्कबद्ध बौद्धिकता के द्वारा नहीं, भावमूलक प्रतीक-पद्धति के द्वारा नया उपन्यासकार हमें नई औपन्यासिक संवेदना देना चाहता है। यही नहीं उसका शिल्प भी आज उसकी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही सफल है और उसका रूप भी बदल गया है। उपन्यास का प्रारम्भिक विकास नाटक, आख्यान और महाकाव्य के आधार पर हुआ और जहाँ नाटकीय आकांक्षा-निर्वाह की पद्धति वस्तु-संगठन में प्रमुख मानी गई, वहाँ उपन्यास के रूप-विधान में महाकाव्यात्मकता को प्रश्रय मिला। आज का उपन्यासकार उपन्यास को निर्बन्ध निबन्ध और संगीत की पद्धति पर ले जा रहा है। फ़ारेस्टर ने टाल्सटाय के 'वार एण्ड पीस' उपन्यास में और प्रूस्त की रचनाओं में संगीतात्मक अनुबन्धों और लयों की खोज की है। एक ही प्रकार की स्थिति, भावना या शब्दावली की पुनरुक्ति अथवा समानान्तर घटनाओं एवं भावों के विकास से उपन्यासकार 'सिम्फ़ोनी' (गीतिबन्ध) का आभास हमें देता है। उपन्यासकार की अन्तश्चेतना और अभिव्यञ्जना संगीत-कला के विकास के समानान्तर रखी जा सकती है, जो नई उपलब्धि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : भारतीय लेखक

प्रो० बेचन, एम० ए०

नागार्जुन : जीवन और कृतित्व

नागार्जुन मैथिली और हिन्दी के चिर-परिचित कवि हैं। १९४३ तक ये 'यात्री' नाम से लिखते रहे हैं। हिन्दी में इन्होंने १९३०-३५ से लिखना प्रारम्भ किया। इनका एक संक्षिप्त परिचय देते हुए डॉ० जयकान्ति मिश्र ने अपनी पुस्तक "A history of Maithili literature" में लिखा है—

"Vaidyanath Mishra "Yatri" (b. 1908) of Trauni, Read Sanskrit in early years. Studied at Tranraic, Matisi, Satlakha Ganouli, Banaras and Calcutta sometimes teacher at Saharanpur. Toured all over India. Edited Dipaka (a Hindi Paper), Journey to Ceylon 1936. Became a Budhist monk 1937 by the name of 'Nagarjuna' the name being still used in his Hindi writings Travelled Burma & Tibet (twice). Became a Grihastha again in 1941. Now at Patna. Inspiration to write in Maithili at Banaras under Sita Ram. Especially during 1930-33, Fine collection of poems published as Chitra & Paro (novel) Introduced modernism in Maithili literature. Being himself a noted communist."

हिन्दी-साहित्य में नागार्जुन आज न केवल एक जनकवि हैं, वरन् प्रेमचन्द की परम्परा को पुनः हिन्दी में स्थापित करके आगे बढ़ाने वाले सुप्रसिद्ध उपन्यासकार भी माने जा रहे हैं। 'युगधारा' नाम से इनका एक स्फुट कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। अब तक पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जिसमें एक उपन्यास 'बलचनमा' विश्व-साहित्य के उपन्यासों में स्थान पाने योग्य है।

आज से पन्द्रह साल पूर्व हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला की काव्य-कृति 'अनामिका' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था :

"लोग गाँव-गाँव को चले
कोई बाजार कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघियाँ-लँगोटा ले, सँभले,
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान !—निराला

फिर भी युग की प्रगति को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का ठेठपन आगे अधिक प्रभावित करेगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज नागार्जुन की कविता में भाषा का यही ठेठपन, व्यंग्य की चुटीली चमक और कहीं-कहीं यथार्थ से उत्पन्न भीषण कर्कशता हम पाते हैं। नागार्जुन की कविता इसलिए आज प्रसिद्ध भी हो पाई है। 'निराला' के बाद वही एक-मात्र कवि है जिसने इतनी सतर्कता और काफी सरलता से 'निराला' की परम्परा को काव्य में एवं प्रेमचन्द की परम्परा को गद्य में स्थापित किया है। 'निराला' की परम्परा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि 'निराला' स्वयं किसी धारा में उत्पन्न एक कवि ही नहीं है, वरन् एक असीम सागर है जो विभिन्न धाराओं में इधर-उधर बहते रहे हैं। इसलिए मैं 'निराला' को मात्र किसी 'वाद' का कवि नहीं मानता। द्विवेदी-युग के बाद निराला ही एक ऐसा व्यक्तित्व आया जो सब प्रकार की कविता लिखने में प्रवीण निकला और आज भी, (अपनी विक्षिप्त अवस्था में भी) हिन्दी-साहित्य को नये-नये गीत देता चला जा रहा है। फलतः द्विवेदी-युग के बाद के काव्य-साहित्य को मैं निराला-युग मानता हूँ। 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', मँहगू मँहग रहा' इत्यादि निराला की कविताएँ उसके काव्य-साहित्य की एक विशेष दिशा की परिचायिका हैं, जिसमें युग की यथार्थता और जन-चेतना प्रत्यक्ष रूप में बोलने लग गई है। इसी सामाजिक जन-चेतना के गायक नागार्जुन हैं। क्योंकि उनका सिद्धान्त साम्यवाद है, और विषय मनुष्य। फलतः उन्होंने उसी टेकनीक को अपनाया। पर निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन की कविता स्पष्टतः निराला की काव्य-प्रणालियों का अनुसरण करती है। यह गवेषणा का विषय है। हाँ, कुछ समानता तो मिलती है। निराला खजोहरा में लिखते हैं :

"दौड़ते हैं बादल काले-काले
हाईकोर्ट के वकील मतवाले।"

नागार्जुन लिखते हैं :

"बताऊँ ?
कैसे लगते हैं—
दरिद्र देश के धनिक ?
कोढ़ी-कुढ़व तन पर मणिमय आभूषण !!"

दोनों की कविता की आन्तरिक स्पिरिट मिलती-जुलती है। टेकनीक का बहुत अंश नागार्जुन ने निराला से ग्रहण किया, ऐसा लगता है। परन्तु उनकी कविता की अस्त-व्यस्त रूखड़ी भावभूमि उनके विषय की प्रतिच्छाया है, यह उनका अपना मत है। नागार्जुन का विषय सामाजिक है, इसलिए उनकी कविता में सामयिक जीवन का रूखड़ापन और उसका अन्तर्विरोध उभरकर आता है। जिस प्रकार जीवन में संगीत का पूर्ण लालित्य आज सुनाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार नागार्जुन की कविता में भी संगीत का पूर्ण लालित्य नहीं सुनाई पड़ता, यथार्थ की विषमताएँ दिखलाई पड़ती हैं।

प्रो० रामचरण महेन्द्र ने नागार्जुन की कविता पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है : **"नागार्जुन सर्वहारा कविता की धारा को तीव्र कर देते हैं। उनमें मज़दूर-वर्ग की संघर्षशील चेतना समुन्नत रूप में प्रकट हुई है। पूँजीवादी चट्टानों से टकराती, भयंकर संघर्षों में तपती, मज़दूर-वर्ग की हिमायत करती हुई नागार्जुन की काव्य-धारा जनवादी परम्पराओं में आगे बढ़ी है। नागार्जुन साम्राज्यवाद के संस्कृति-विनाशक प्रयत्न को एक चुनौती देते हैं।"**[४]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागार्जुन की कविता की कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं—

(१) देश-प्रेम से उत्पन्न आत्म-वेदना—

इस प्रकार की बहुत सारी कविताएँ नागार्जुन ने लिखी हैं; जिनमें से एक सुप्रसिद्ध कविता है सन् १९४८ में प्रकाशित भारत की आजादी के प्रथम जन्म-दिवस पर लिखी गई :

"आज क्या है
कुछ नहीं, बस,
जन्म-दिन शिशु-राष्ट्र का है !
आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनाहगारों से,
छोड़कर संघर्ष का पथ
भूलकर अन्तिम विजय की घोषणाएँ
भोंककर लम्बा छुरा तुम सर्वहारा जनगणों की पीठ में
लड़खड़ाकर गिर पड़े थे
रेशमी, तीन रंगे गदेले पर—
तख्त-ए-ताऊस पर।"

आजादी के गत ८ साल की तुलना इस कविता से करके कवि की महत्ता एवं देश-प्रेम को समझा जा सकता है।

(२) साम्राज्यवाद के भयंकर स्वरूपों के विरुद्ध क्रान्ति—

सन् १९५० में साम्राज्यवाद के भयंकर युद्ध-लिप्सु फैसलों के विरुद्ध नागार्जुन ने लिखा था :

"एटम बम के बलबूते जो सपना देखें विश्व-विजय का
सौ-सौ टन बम गिरा रहे हैं फिर पूँजीवादी हत्यारे
नफाखोर तो यही चाहते छिड़ जाये तीसरी लड़ाई
इसीलिए वे हाइड्रोजन बम की करते फिरें बड़ाई
शान्ति सर्वहारा को वरने आई रचकर स्वयं स्वयम्वर
उठो, तान लो, मुट्ठी साथी, आ पहुँचा फिर सात नवम्बर"

अन्तिम पंक्ति में कवि ने जनवादी-परम्परा को संगठित रूप से प्रकट किया है। समाज का प्रचलित कला-रूप तो जन-कला हो सकती है ! और नागार्जुन का सम्पूर्ण काव्य जन-कला है। कवि किसी चमत्कार के लिए काव्य नहीं लिखता और न पाठकों को भुलाता है, वह प्रत्यक्ष जीवन देता चलता है—आज के गरीब साहित्यकारों एवं स्वयं अपने जीवन की अभिव्यक्ति करते हुए नागार्जुन ने एक कविता में लिखा है :

"ठीक ही तो फर्माते हैं आप
मार्केट डल है जेनरल बुक्स का
चारों ओर स्लंपिंग; मगर ! मगर, दो साल हो गए
बेटा जकड़ा है बोन टी० बी० की गिरफ़्त में
पचास ठो रूपइया और दीजिएगा
बत्तीस-ग्राम स्टेप्पो माइसिन कम नहीं होता है !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि की भाषा-शैली के सम्बन्ध में अलग से विचार किया जायगा।

अन्य प्रवृत्तियाँ—(३) जनवादी-परम्परा को संगठित रूप से प्रकट करना, (४) समाज में प्रचलित कला-रूपों को अपनाना तथा (५) जन-भाषा के सरल-सरस स्वरूप की ओर सम्मान। वे क्रान्तिकारी हैं। 'मत करो क्षमा' हिन्दी के बीसियों पत्रों ने उद्धृत की थी। राष्ट्र-प्रेम नागार्जुन में फूटा पड़ता है। देश की दुर्दशा पर, वर्तमान असहाय अवस्था पर उन्होंने आँसू बहाए हैं। जन-जागृति के लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। प्रतिनिधि विचार-धारा को व्यक्त करने वाली कविताओं के उदाहरण स्वरूप आपकी 'भुस का पुतला' कविता को ले सकते हैं। प्रतीक-शैली में कवि ने वर्तमान स्थिति को 'भुस के पुतले' की तरह बतलाया है, जो जनता की रक्षा करने में समर्थ नहीं है। लोमड़ियाँ खेत चर रही हैं, जनता को जगाने की जरूरत है। अन्त में कवि ने कहा है :

"सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल-दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।"

स्वतन्त्रता-संघर्ष के प्रति उनके हृदय में जागरूकता है। साम्राज्यवादी शक्तियों को ललकारता हुआ उनका कवि कहता है :

"केशर की मासूम क्यारियों से आती आवाज
कश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज।"

नागार्जुन अपनी कविता के द्वारा प्रति क्रियाशील शक्तियों को मात्र चुनौती नहीं देते वरन् एक नये विश्व की स्थापना में विश्वास करते हैं—कामरेड भारद्वाज की स्मृति में लिखी गई कविता में उन्होंने यही विचार व्यक्त किया है :

"रत्तीभर भी है न मुझे सन्देह
हमारा युग आया है
अन्तिम विजय निकट है।"

नागार्जुन ने यह फैसला सन् १९५४ में दिया है। सन् १९४१ में कवि ने इस प्रयत्न की ओर बढ़ने का सन्देश दिया था, जो उनकी मैथिली की एक अति प्रसिद्ध कविता 'कविक-स्वप्न' में वर्णित है :

"उठह कवि, तो दहक ललकारा कने
गिरि शिखर पर पथिक-दल चढ़तै करे।"

(ऐ कवि, उठो, और ललकार दो, क्योंकि पथिकों की टोलियों को पहाड़ की चोटी पर चढ़ना है।) आज सचमुच मानवता गिरि-शिखर पर चढ़ने जा रही है। आज विश्व में फैली जन-चेतना को देखते हुए नागार्जुन की इन पंक्तियों को झुठलाया नहीं जा सकता। उनका स्वप्न जनता का स्वप्न है, उनका स्वप्न नई ज़िन्दगी, नई जवानियों और नये युग का स्वप्न है, दुनिया की दो-तिहाई आबादी का स्वप्न है।

कामरेड भारद्वाज पर लिखी गई छोटी-सी कविता में हमें Epic गुण का दर्शन होता है, जिस प्रकार का Epic गुण महाकवियों की कविता में होता है, जिस प्रकार का Epic

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण लेनिन पर लिखी गई मायाबोस्की की कविता में आलोचकों ने पाया था।

अपने दो निजी गुणों के कारण नागार्जुन हिन्दी-साहित्य में एक नये मार्ग-स्तम्भ के समान खड़े रहेंगे—वह है अपने काव्य का वैशिष्ट्य; जिसे मैं ऊपर बता चुका हूँ और दूसरा है नूतनतम भाषा-शैली-निर्वाह। 'युगधारा' में प्रकाशक ने लिखा है : **"प्रत्यक्ष राजनीति की वाम-पक्षी प्रवृत्तियों ने नागार्जुन को जनसाधारण से संयुक्त कर दिया कि वह आसान-से-आसान भाषा में लिखने लगे।"** इतना ही नहीं नागार्जुन ने उन प्रचलित शब्दों को भी अपनी कविता में स्थान दिया जिन्हें आज तक काव्य में वर्जित समझा गया है। इस प्रकार नागार्जुन पर ऊबड़-खाबड़ भाषा के प्रयोग करने का आरोप भी लगाया गया है, पर नागार्जुन उससे कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहते हैं। यह उनका कलात्मक ह्रास नहीं बल्कि जनता की भाषा को अधिकाधिक अपने काव्य में स्थान देने का प्रयास है। मेरी कविताओं पर अपनी सम्मति भेजते हुए नागार्जुन ने लिखा था : **"चलनी और सूप भी अपना-अपना प्रयोग करवाके रहेंगे।"**

'युगधारा' में ही प्रकाशक ने पुनः लिखा है कि **"नागार्जुन की हिन्दी-रचनाओं के मूल्यांकन में उनकी मैथिली कवि-कर्म का पर्याप्त परिज्ञान सिद्ध होगी।"** हमारे एक साहित्यिक मित्र ने मुझे लिखा था : **"आये दिन अधिकांश आलोचक नागार्जुन के साथ यह अन्याय करते हैं कि उन्हें मात्र क्रान्तिकारी कविताओं का रचयिता रूस-चीन की विरुदावली गाने वाला कवि मान बैठे हैं। इस तथ्य को मैं अंशतः सत्य मान सकता हूँ, किन्तु पूर्ण सत्य तो यह कभी हो ही नहीं सकता। सचाई यह है कि नागार्जुन की ऐसी रचनाओं की भी कमी नहीं जो नारेबाजी और क्रान्तिकारी भावनाओं से सर्वथा दूर हैं एवं जिनमें मानव-हृदय की अनेक शाश्वत संवेदनाओं को बड़ी ही सुष्ठु एवं मधुर अभिव्यक्ति मिली है। नागार्जुन एक ओर जहाँ जनवादी वस्तुबोध से उद्दीपित रचनाएँ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रियतमा का सिन्दूर, तिल-तिल भात और नन्हे की दन्तुरित मुस्कान भी भूल नहीं पाते।"** मित्र का यह कथन नागार्जुन की मैथिली एवं हिन्दी की सम्पूर्ण रचनाओं के पारायण करने से बिलकुल सार्थक सिद्ध होता है। प्रथम मैथिली कविता-संग्रह 'चित्रा' में कहीं-कहीं स्वाभाविक अनुराग की पंक्तियाँ प्रखर होकर प्रवाहित हो गई हैं। कवि अपनी प्रिया से दूर बम्बई में है, उसे प्रिया का पत्र मिलता है। पत्र मिलने के बाद गार्हस्थ्य-स्नेह की धारा इन पंक्तियों में उमड़ पड़ती है :

"झट आउ गाम,
नहिं आबी तँ हमरे सप्पत;
जँ होए एकों रत्ती सिनेह बेटाक हेतु
जनु अनठबियौ
भ जाउ बिदा चिट्ठी पबैत देरी तुरन्त
से लिखलनि ए अपनहिं हाथें बउ आक माया।"

जीवन का इससे मधुर प्रेम-गीत और क्या हो सकता है। करुणा की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति सच्ची भाषा में सभी नहीं कर सकते। यह बात सही है कि नागार्जुन ने छायावादियों की तरह जीवन से अपने को विमुख करके व्यक्तिवादी प्रेम-गीत नहीं लिखे। इनकी अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताओं में जो Universality है वही चीज इनकी अनुरागपूर्ण कविताओं में भी है। और यही नागार्जुन की प्रतिभा का द्योतक भी। इनकी कविता में प्रत्यक्ष जीवन के उन सभी छवि-चित्रों की अभिव्यक्ति हुई है, जो सत्य है। कल्पना के सुनील गगन में नागार्जुन केवल उड़ना ही नहीं जानते, उन्हें धरती और जीवन का भी सोच है। इन पंक्तियों में नागार्जुन की कल्पना-शक्ति है और बिम्ब उपस्थित करने की क्षमता देखें :

"अमल-धवल गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा है
छोटे-छोटे मोती - जैसे, अतिशय शीतल वारि-कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम कमलों पर गिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

हिन्दी के कुछ आलोचक नागार्जुन की कविता में मैथिली से आये प्रचलित शब्दों को न पकड़ सकने के कारण उनकी भाषा को उबड़-खाबड़ कहते हैं। नागार्जुन ने एक कविता में लिखा है :

"राह चलते लोग रुक-रुक पास आते
बाँचते हैं परस्पर को ताकते हैं।"

'बाँचते' और 'ताकते' ये दोनों शब्द विशेषकर मैथिली में प्रयुक्त होते हैं। छायावाद की सीमित भाषा-शैली को मानने वालों को यह अच्छा नहीं लगे, पर इन्हीं दो शब्दों के कारण इस पंक्ति में एक लोच-सा आ गया है। कविता से आत्मीयता टपकती है। लोकल कलर Local colour उभरकर आया है।

नागार्जुन की कविता में Local colour भाषा-शैली के कारण भी आ जाता है— 'बाग पोखर चौर-चाँचर' इत्यादि शब्द धरती की धड़कन का परिचय देते हैं। ये शब्द कतिपय स्थलों पर कवि को स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त करने पड़ते हैं। क्योंकि उनके बदले हिन्दी में कोई ऐसा शब्द नहीं है जो रखा जा सके। मैथिली के ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जिनका हिन्दी करना कठिन है। उसे उसी रूप में नागार्जुन रखते हैं। इनकी कविता में मैथिली के मुहावरे, उपमा-उपमेय, अलंकार इत्यादि भी धड़ल्ले से प्रयोग में आते हैं। इनकी कविता में Legend एवं Image भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जब नागार्जुन कहते हैं :

"कैसी लगती है—
'पंचवर्षीय' योजना ?
'हिडिम्बा' की हिचकी 'सुरसा' की जँभाई।"

'हिडिम्बा' और 'सुरसा' दोनों को समझने के लिए पौराणिक गाथाओं का सहारा लेना होगा। ऐसा करना भी हिन्दी के भण्डार को भरना है। वस्तुतः नागार्जुन आधुनिकता के प्रचार के लिए मैथिली और हिन्दी दोनों साहित्यों में समान रूप से आदर की दृष्टि से देखे जायँगे।

नागार्जुन जी ने जो आज करना चाहा है वह कोई अजीब-सी बात नहीं है। इसे भारतेन्दु ने प्रचारित करना चाहा था। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति और साहित्य' में लिखा है : **"भारतेन्दु ने एक घोषणा प्रकाशित की थी कि जनता में नवीन चेतना फैलाने के लिए ग्रामीण भाषाओं का सहारा लेना चाहिए। गीत ग्रामीण भाषा में लिखे जायें और गायकों से उन्हें गवाया जाय।"** शायद डॉ० रामविलास शर्मा ने ही लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि **"द्विवेदी-युग के संस्कार ने भारतेन्दु युग की सजीवता नष्ट कर दी।"**

पर जिसे, मेरे विचार से पुनः नागार्जुन ने पुनरुज्जीवित किया। जिसकी ओर दिशा-निर्देशन सम्भवतः निराला ने किया, पर उसका प्रचार और प्रसार नागार्जुन के सिर ही पड़ा। नागार्जुन जी का 'चना जोर गरम' ऐसी ही एक रचना है जो लोक-गीत की तरह आज चारों ओर प्रचारित हो गई है। नागार्जुन जी गीतों और संगीतों में भी ऐसी सरल ग्रामीण भाषा चाहते हैं, जिसकी ओर उन्होंने मुझे संकेत किया था।

नागार्जुन ने अपने कृतित्व पर विचार व्यक्त करते हुए इन पंक्तियों के लेखक को बताया था कि 'कोर्ट की दीवार' शीर्षक रचना मेरी तीन सर्वश्रेष्ठ कविताओं में एक है। यह मेरा अपना चुनाव है।

आज के काव्य की भाषा-शैली और वस्तु पर विचार करते हुए कवि ने कहा था कि इस युग में किसान, मज़दूर, डाक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर, बेईमान सेठ, कर्मचारी सब आपके पाठक हैं, मात्र बुद्धिजीवी ही आज के साहित्य का पाठक नहीं। इसलिए विकास के क्रम से गुँथा हुआ जो काव्य होगा वही ठीक होगा। वह सर्वसाधारण के लिए मान्य होगा! उन्होंने आगे बतलाया कि आज मराठी इत्यादि अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार का प्रयोग चल रहा है। मराठी के एक खण्ड-काव्य में 'एंजेल्स' एवं डार्विन के विकास-सिद्धान्त का बड़ी सफलता से प्रयोग किया गया है। इस दिशा में कार्य होना चाहिए। आखिर न होगा तो साहित्य आगे कैसे बढ़ सकता है। आज मात्र तुक्कड़ों का जमाना नहीं। जन-गीत और जन-काव्य का जमाना है। ऐसा केवल मैं नहीं कहता, जनता कहती है, जो कि एक सफल आलोचक भी है। आज 'दिनकर' की तुक्कड़बाजी में भूसा अधिक मिलता है, अनाज कम। इस जन-काव्य की सृष्टि के लिए अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है—किताबी और—जन-जीवन दोनों का अध्ययन।

"मैं-मैं की परिधि में देखने से आत्म-हत्या की भावना साहित्य में उत्पन्न होगी पर यह वास्तविकता नहीं है। १९५४ के लिए 'मैं' नहीं चाहिए। वह काव्य के लिए बहुत बड़ा दोष एवं ऊर्जस्वित अहम्‌वाद है। आज कविता जन-समुदाय के लिए हो।"

तीसरी बात नागार्जुन ने कविता के External रूप (बाहरी रूप) के सम्बन्ध में बताई थी। **"आज छन्दों में एक ललकार और स्वरों में दृढ़ता होनी चाहिए।"**

नागार्जुन की कविता के सम्बन्ध में एक भ्रम यह भी है कि उनकी कविताएँ प्रयोगवादी हैं। लेकिन नागार्जुन की कविता का रूप प्रयोग होते हुए भी प्रयोगवादी नहीं है। वह प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करते। समकालीन जीवन एवं कार्यों की आलोचना करने के लिए वे जो काव्य के उपकरण काम में लाते हैं—वह स्वतः प्रयोग-सा हो जाता है। उनका सिद्धान्त भी प्रयोगवादी सिद्धान्तों से मेल नहीं खाता—वह वस्तुतः प्रगतिवादी जीवन-दर्शन के गायक हैं। और प्रगतिवादी कला के प्रयोगात्मक पक्ष का निखार उनकी कविता में स्पष्ट है। वे जीवन को गतिशील मानते हैं और मानवता के भविष्य में विश्वास करते हैं। पर प्रयोगवादी जीवन को गतिहीन एवं प्रकृतिवाद की तुलना पर तौलना चाहते हैं—जिससे नागार्जुन का गहरा विरोध है। वे स्पष्टता से प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया शील मनोवृत्ति को समझते हैं। यही कारण है कि लाख प्रयोगवादी कहे जाने पर भी वे प्रयोगवादी दर्शन से प्रभावित नहीं हुए; क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका मस्तिष्क साफ है। प्रयोगवाद के अन्तर्गत जितने भी कवि आते हैं (कम-से-कम प्रथम और द्वितीय सप्तक के कवि) सबका दिमाग एक कुण्ठित कलाकार का मस्तिष्क है—किसी में दर्शन की स्पष्टता नहीं है। हालाँकि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वे काफी प्रगतिशील थे और उस ओर बढ़ रहे थे। परन्तु ऐसा लगता है (उनके काव्यों को पढ़ने से) कि उनका मार्ग असमय ही अवरुद्ध कर दिया गया। और इसके लिए पूर्णरूपेण 'अज्ञेय' एवं अज्ञेय का प्रयोगवाद उत्तरदायी है। अगर ऐसा न होता तो कालान्तर में ये कलाकार गम्भीर वैज्ञानिक क्रान्तिकारी भावनाओं को साहित्य में स्थान देते एवं उन सभी प्रश्नों का उत्तर काफी सतर्कता से देते जो प्रश्न अक्सर युग साहित्यकार से पूछा करता है। निस्सन्देह प्रयोगवादियों ने युग के किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहा है। आधुनिक काव्य (छायावाद से) के पृष्ठपोषक, उदार समालोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आज से कई वर्ष पूर्व 'प्रयोगवादियों' की इस ह्रासमूलक प्रवृत्ति के प्रति अनास्था प्रकट की थी।[1] पुनः वाजपेयी जी ने 'आलोचना', अंक १९ में उसी अनास्था की पुनरावृत्ति करते हुए प्रयोगवाद के अग्रणी (१)[2] कवि अज्ञेय की कविता का उद्धरण देकर उसे प्रभावहीन कविता बतलाया है। कविता में यह प्रभावहीनता प्रयोगवादियों की शास्त्रीय अज्ञानता, कुण्ठा, निराशा और घुटन आदि का द्योतक है। (वाजपेयी का मत)

पर नागार्जुन की कविता में प्रयोग का यह दोष नहीं हालांकि वे प्रयोग की परम्परा में आवश्यकता से अधिक विश्वास रखते हैं। पुराने कवियों की घिसी-पिटी अभिव्यञ्जना और टेकनीक की आलोचना करते हुए इस पंक्ति के लेखक को नागार्जुन ने लिखा था : **"कविता की नई टेकनीक में बिहार के कवि बुरी तरह पिछड़ रहे हैं, कवि-कर्म शिथिल चेतना और फूहड़ शब्द-शिल्प का शिकार बन रहा है...."**

वस्तुतः आज (१९५७ में) यदि समस्त प्रयोगवादी [नई कविता (१) भी] साहित्य का अध्ययन किया जाय अर्थात् 'तार सप्तक' के बाद की कविता-धारा का अध्ययन करते हुए प्रयोग-काव्य की खोज की जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित होगा कि अब तक दो प्रकार के प्रयोग हिन्दी में होते आये हैं—प्रथम श्रेणी में प्रगतिशील कवियों का प्रयोग और दूसरी श्रेणी में प्रयोगवादी कवियों का प्रयोग सामने आता है। नागार्जुन का प्रयोग प्रथम श्रेणी का है, जिसकी परम्परा अपना सम्बन्ध भारतीय जन-साहित्य से रखती है। **"यही मार्ग भारतीय साहित्य का प्रशस्त मार्ग है। इसी मार्ग पर हमारे महान् पूर्वज सन्त कवि, भारतेन्दु, 'प्रसाद', प्रेमचन्द और छायावादी कवि चले थे। इसी परम्परा का विकास आज के प्रगतिशील लेखक, राहुल, यशपाल, भगवत शरण उपाध्याय, अमृतराय, नागार्जुन, अश्क, सुमन, और रांगेय राघव आदि कर रहे हैं।"**[3]

---

१. आधुनिक साहित्य
२. वस्तुतः प्रयोगवाद के प्रथम हिन्दी-कवि शमशेर सिंह हैं।
३. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

कवि और सामाजिक दायित्व

: १ :

मालार विन्दम् चतुर्वेदी

आज काव्य को अपरिभाषेय मानकर विद्वान् उसे अनेक प्रकार से समझने का प्रयास करते हैं। क्योंकि आज का युग सामाजिक समस्याओं का है, अतः काव्य एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर काफ़ी विवाद चल रहा है। इस विवाद में प्रवेश करने से पूर्व यह सभी चीन होगा कि हम प्रथमतः काव्य की सीमा निश्चित कर लें। प्रत्येक संगीतात्मक या पद्यात्मक, लिखित अथवा मौखिक साहित्य को हम कविता नहीं कहते। साधारणतः गाँवों में गाये जाने वाले गीत 'लोक-गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार सिनेमा के गीतों को भी कुछ अंश तक 'लोक-गीत' की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि लोक-गीतों में अनेक स्थलों पर उत्कृष्ट काव्यत्व के दर्शन होते हैं, तथापि हम उन्हें कविता की संज्ञा नहीं देते। यहाँ हम उसी कविता का परिशीलन करेंगे, जिसे परम्परानुसार कविता शब्द से समझा जाता है। जैसे कालिदास-कृत 'रघुवंशम्', तुलसी-कृत 'रामचरित मानस' एवं प्रसाद-कृत 'कामायनी' आदि।

इस प्रकार की कविता को भी आज विद्वान् 'समाज का दर्पण' या उसकी अनुकृति अथवा आलोचना मानते हैं। कुछ विद्वान् कविता में समाज का प्रतिनिधित्व या उसका अथवा समाज का दर्पण कहते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से, आलोचक समाज की मिथ्या दुहाई देकर, समाज की कविता के प्रति, एवं विशेष रूप से अपने प्रति आस्था बनाये रखने का प्रयास करते हैं। परन्तु यह सब-कुछ या तो आलोचकों की अदूरदर्शिता का परिणाम है या वे समाज को जान-बूझकर धोखा देते हैं—समाज से कविता को येन केन प्रकारेण सम्बद्ध कर देना चाहते हैं। किन्तु अध्ययन के क्षेत्र में किसी भी वैज्ञानिक सत्य की घोषणा करने में हिचकिचाना अथवा मिथ्या प्रचार करना वास्तव में एक अपराध है।

कविता का स्रष्टा कौन है, कविता का सृजन कैसे होता है, तथा कविता में क्या सृजित होता है ? इन तीन प्रश्नों का उत्तर, यदि हम ठीक-ठीक प्राप्त कर लें तो प्रतीत होगा कि सामाजिकता, कविता में नहीं के बराबर होती है। कविता का स्रष्टा कवि है, जो प्रथमतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो व्यक्ति मात्र है ही, साथ ही सामाजिक नाम से व्यवहृत 'व्यक्ति' का अपवाद रूप भी है। प्रश्न उठता है कि कैसे ? उत्तर स्पष्ट है कि समाज में जिस प्रकार के मनुष्यों का बहुमत है, कवि उनसे बिलकुल निराला है। बाह्याचार व्यवहार में सभी प्राणी, जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं तथा जिनसे मिलकर समाज अस्तित्व में आता है, समान हैं; परन्तु कवि-जीवन एक विशेष प्रकार का होता है जैसा कि अन्य व्यक्तियों का नहीं। जिस प्रकार एक विशेष जीवन-यापन-प्रणाली के कारण मनुष्य-समाज अन्य जन्तु-समाजों से अपने-आपको भिन्न मानता है, उसी प्रकार कवि, सम्पूर्ण मानव-समाज से अपने व्यक्तित्व को भिन्न रखता है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके दर्शन के अनुसार आँका जा सकता है। हम देखते हैं कि समाज का बहुजन किसी-न-किसी बहुश्रुत व्यक्ति के दर्शन का अन्धानुकरण करता है। परन्तु कवि चिर-संवेदनशील और चिन्तनशील प्राणी है। वह अपने दर्शन एवं आदर्श का निर्माण स्वयं अपनी चिन्तनशील शक्ति एवं नित्य-नूतन निर्मिति करने वाली प्रतिभा के अनुसार करता है। अतएव समाज में कवि उसका अपवाद रूप होकर रहता है। शायद इसीलिए समाज अपने युग के श्रेष्ठ कवियों को सदा से विक्षिप्त की संज्ञा देता आया है। क्योंकि पागल मनुष्य होते हैं, पशु नहीं। आपके समाज में मनुष्य या तो कार्यक्रम की चाबी से चलने वाली मशीन है या दो पैरों से चलने वाला पशु है, जो अपनी आदत तथा रूढ़ि-दत्त वृत्तियों का गुलाम है। ऐसे व्यक्तियों की समाज में कमी नहीं है जिनके सम्पूर्ण जीवन में एक भी विचार या अनुभूति उनकी स्वयं की नहीं होती। यदि कुछ अंश तक चिन्तनशील व्यक्ति हैं भी तो वे उस चिन्तन-शक्ति का दुरुपयोग अपनी स्वाभाविक वृत्तियों (Insticts) की तृप्ति में ही करते हैं। मनुष्य शब्द के अर्थ को सिद्ध करने वाले प्राणी आज के समाज में बहुत कम हैं। साथ ही कवि नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों में सच्चा क्रान्ति-दर्शी कवि, यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि विरला ही है, एवं वह कवि वास्तव में आज के समाज के बहुजन का अपवाद ही है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि एक असामाजिक प्राणी है। यह सत्य है कि कवि समाज में ही जन्म लेता है एवं एक प्रकार से समाज ही उसका जीवन-दाता है। परन्तु जीवन-दान की क्रिया ही व्यक्तित्व का स्वरूप नहीं है। दान पर दाता की छाप रह सकती है, परन्तु वस्तु वह दूसरे की हो जाती है। वास्तव में कवि स्वयंभू है। अपने व्यक्तित्व का निर्माण वह स्वयं करता है। समाज हर बार कवि के संवेदनशील हृदय पर आघात करता है, परन्तु कवि उससे मरता नहीं; जागृत होता है एवं इसी जागृति में जब प्रतिभा का सम्पुट लगता है तब ही कवि का निर्माण होता है। यहाँ प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे (Goethe) के शब्द याद आते हैं, जिनमें नवोदित कवि को इसी प्रकार की जागृति प्राप्त करने की सलाह दी है। "वह कहता है कि "The young poet must do some sort of violence to himself to getout of the more general idea. No doubt this is difficult, but it is the very life of Art."

मनोविज्ञान की एक यह भी सिद्धि है कि कवि द्वि-व्यक्तित्व-सम्पन्न प्राणी है (A man of double personality)। एक है साधारण (Normal) मानव-रूप और दूसरा है कवि रूप; जिसमें सृजनशीलता (Creativity) प्रधान रहती है। कवि के अतिरिक्त समाज में द्वि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व सम्पन्न प्राणी और भी पाए जाते हैं; जैसे दार्शनिक, नेता, धोखेबाज, चोर आदि। ये सभी अपने साधारण (Normal)) रूप से समाज में समाजोचित व्यवहार करते हैं तथा अपने असाधारण (Abnrrmal) रूप से स्वार्थ-सिद्धि की योजना (Moticration) बनाते हैं, तथा योग्य समय प्राप्त होने पर व्यवहार भी करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि असाधारण व्यक्तित्व का सम्बन्ध अचेतन मन से रहता है, जब कि साधारण व्यक्तित्व का सम्बन्ध चेतन मन से रहता है। अचेतन मन के प्रकाशन के अवसर तब ही सम्भव हैं जब कि चेतन-मन सुप्त प्राण हो या अचेतन मन की भावना अधिक प्रबल हो। इसीलिए असाधारण व्यवहार के अवसर बहुत थोड़े आते हैं। इसीमें कविता करने का समय भी शामिल है। कवि के व्यक्तित्व की यह विशेषता उसे समाज के बहुजनों से भिन्न सिद्ध करती है।

इसके अतिरिक्त साधारणतः समाज में मनुष्यों की आत्मानुभूति बहुत कम होती है; जबकि कवि की यह प्रथम आवश्यकता है। आजकल यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि समाज को उसके दुःखों को समझाने के लिए नेता या समाज-सुधारक आदि किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, तथा समझाने के पश्चात् भी उसका ज्ञान सबको नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि आज के समाज का बहुजन लोक-जीवन के सुख-दुःख से परिचित नहीं है। इसीलिए दुःख का प्रतिकार या प्रतिकार का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जिन्हें अपने-आपका अनुभव न हो। परन्तु कवि की विशिष्टता यह है कि वह स्वात्मानुभूति के साथ-साथ परात्मानुभूति भी कर सकता है। परात्मानुभूति में कवि की कल्पना-शक्ति का योग रहता है एवं उसके प्रकाशन में प्रतिभा का।

इसके अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व के विकास में एक ऐसा तत्त्व है जो उसे सभी प्राणियों से भिन्न कर देता है, तथा वह तत्त्व है सार्वजनिकता (Universality) का। उसके सुख-दुःख तथा उसकी अनुभूतियों का जन्म व्यक्तिगत हो सकता है, परन्तु उनका प्रकाशन सदैव विश्व-व्यापी होता है। अरस्तू अपने ग्रन्थ (pocties) में काव्य तथा इतिहास का भेद बताते हुए कहता है कि "...For poetry tends to express the Universal, the history the particular." (Poetics chapl. IX. 3-4.) क्योंकि अन्ततोगत्वा कवि का व्यक्तित्व देशकालातीत विश्व-व्यापकत्वपूर्ण हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि कवि का जीवन, दर्शन एवं आदर्श आदि सभी कुछ समाज से निराला, मौलिक एवं विलक्षण होने के नाते, उस समाज के सामान्य स्तर और उस स्तर की प्रवृत्तियों से भिन्न कोटि का होता है।

कविता के स्रष्टा को देख लेने के पश्चात्, अब विचारणीय है कि कविता का सृजन कैसे होता है? कवि अपने साधारण तथा कभी-कभी असाधारण रूप से समाज में रहता है तथा अनुभव प्राप्त करता है। यह अनुभूति उसकी बिलकुल निजी निधि होती है। अतः वह उसके व्यक्तित्व से अभिन्न होती है। जब कोई विशेष अनुभूति, एक योग्य मानसिक भूमिका को प्राप्त करती है तब वह एक असह्य आवेग में परिणत हो जाती है, एवं तब कवि को उसका प्रकाशन कविता की भाषा में करना पड़ता है। क्योंकि मानसिक जगत् का प्रकाशन सदा एक विशेष प्रकार के संकेतों के माध्यम से होता है (जैसा कि स्वप्न आदि में होता है) अतः बाह्य सांसारिक संकेतों से उनका सम्बन्ध हो भी सकता है और नहीं भी। अतः उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

मानसिक संकेतों को बुद्धिगम्य बनाने के लिए कवि को अपनी प्रतिभा का योग भी उस प्रकाशन में करना पड़ता है। इस प्रकार कविता का सृजन होता है। इस प्रसङ्ग में David stafford clark के कवि के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में से कुछ शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं : "Those who suffer them, are aware of an urge to seek release and expiration, to communicate something of the source and nature of their feelings and thereby in some degree to gain peace. This as we have seen, is precisely the kind of tension, which drives many to their doctor or confessor, it may well drive others to write or to paint or to sculpt or to compose, with varying degree of talent' (From "Psychiatry to day." Page 278)

कवि समाज में उसीके द्वारा निर्मित अपने एक आवरित व्यक्तित्व में रहता है, अर्थात् कवि जिस रूप से समाज में रहता है अथवा उसका अध्ययन या अनुभव करता है, उसी रूप में उसका प्रकाशन नहीं करता। कवि की अनुभूति एवं कविता में उसका प्रकाशन, वास्तव में दो भिन्न वस्तु हैं; जिसका विशद अध्ययन मनोविश्लेषण-विज्ञान का कार्य है। कवि को जो अनुभव समाज या प्रकृति से प्राप्त होता है उसकी अनुरति कवि चाहे जिस प्रकार से कर सकता है तथा उसका प्रकाशन भी ऐच्छिक रीति से करा सकता है। इस प्रकार वह किसी भी रूप में समाज का ऋणी नहीं रहता। क्योंकि अनुभूति में कर्ता का स्वत्व प्रधान रहता है। ज्ञान दूसरे की वस्तु हो सकती है एवं हमारे पास आकर भी पराई रह सकती है, जब तक कि उसकी अनुभूति हमें न हो! इसीलिए एक वस्तु का ज्ञान सभी व्यक्तियों को समान हो सकता है, परन्तु अनुभूति सदा भिन्न-भिन्न होती है। आशय यह है कि कविता का सृजन सदा व्यक्तिगत रूप से ही होता है।

अब प्रश्न है कि कविता में क्या सर्जित होता है? बिलकुल वस्तुपरक दृष्टि (Objectively) से देखा जाय तो स्पष्टतः कविता में जो-कुछ है वह कवि के व्यक्तित्व का कुछ-न-कुछ अंश है। चाहे वह कवि की अनुभूति हो या विचार, दर्शन हो या आदर्श। कवि-कृत प्रकाशन का यदि वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसमें कवि की इच्छा, कल्पना एवं विचार का मिश्रण या उनका शुद्ध रूप होता है परन्तु सदा इनकी भूमिका के रूप में कोई-न-कोई भावना या अनुभूति रहती है। कवि का आदर्श, जो कि उसकी इच्छा, कल्पना एवं विचारों का मूर्त रूप होता है, उसकी अनुभूति भी कवि की होती है। क्योंकि उसके प्रकाशन में किसी भी ऐसी वस्तु को नहीं खोजा जा सकता जिसका मानसिक अनुभव उसे न हो, चाहे उसमें सामाजिकता या सांसारिकता का स्पर्श हो या न हो।

कविवर रवीन्द्र टैगोर के शब्दों में कहा जाय तो, "the Principal object of Art is the expression of personality" ("What is Art?" निबन्ध से) अर्थात् कविता में कवि का देशकालातीत विश्व-व्यापकत्वपूर्ण व्यक्तित्व ही प्रकाशित होता है। और उस प्रकाशन का भी विश्लेषण यदि हम करें तो स्पष्ट होगा कि प्रथमतः कवि जो-कुछ वास्तव में है उसका प्रकाशन करता है, दूसरे जो कुछ वह इच्छा करता है उसका प्रकाशन करता है और तीसरे वह जिसकी कल्पना करता है; उसका प्रकाशन करता है। अर्थात् कुछ ऐसी भी सीमाएँ कवि के व्यक्तित्व की होती हैं जिनसे आगे कवि कल्पना भी नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ यदि तुलसी के काव्य को लें, तो उसमें उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन है। दूसरे

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके काव्य में, उनकी चरम कामना, आदर्श भक्ति का प्रकाशन है एवं अन्तिम रूप में उनकी कल्पना, कामना एवं विचारों का चरम रूप राम एवं रावण में हम देखते हैं। राम एवं रावण न तो ऐसे थे जैसे कि मुगलकालीन कवि ने उनका चित्रण किया है एवं न ही तुलसी के राम-रावण, वाल्मीकि के राम-रावण का अनूदित रूप ही हैं। वास्तव में यहाँ हमें तुलसी की कल्पना की चरम सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् तुलसी के व्यक्तित्व के प्रकाशन के वे माध्यम हैं। सारांश यह कि कविता में कवि अपने आदर्श व्यक्तित्व का ही सृजन करता है।

जब कविता का स्रष्टा (कवि) एक असामाजिक प्राणी है, एवं उसका सृजन व्यक्ति-रूप में होता है, जब उसमें कवि के आदर्श व्यक्तित्व का सृजन होता है, तब कविता एवं समाज का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है। वास्तव में आज के आलोचकों की यह मान्यता कि समाज एवं कविता में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध है, भ्रामक एवं अवैज्ञानिक है।

यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता एवं समाज के सम्बन्ध को सिद्ध करने वाले सभी सिद्धान्त पाश्चात्य काव्य-मीमांसकों के हैं एवं आधुनिक भारतीय विद्वान् उसका अन्धानुकरण कर रहे हैं। संस्कृत के काव्याचार्यों ने ऐसी भूल कहीं भी नहीं की है। केवल काव्य के अधिकारी की चर्चा करते हुए रसिक एवं सभ्य सामाजिक का उल्लेख है। परन्तु काव्य-शास्त्रों में वर्णित रसिकों की संख्या आज के शिक्षित समाज में भी नगण्य है। प्रमाण रूप में केवल आजकल विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं में होने वाले कवि-सम्मेलन आदि की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा। अतः यह कहना उचित होगा कि न कविता में समाज है, और न समाज के लिए कवि। समाज चाहे तो कविता का उपभोग या उपयोग कर सकता है, परन्तु इससे कवि-कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि समाज का बहुमत मूर्खों या सभ्य शब्दों में अरसिकों का बना हुआ है।

: २ :

डॉ० प्रेमशंकर

साहित्य को सबसे अधिक ख़तरा उन नारों से होता है, जो समय-समय पर लगाए जाते हैं। धर्म, दर्शन और राजनीति से इनका सूत्रपात होता है। जीवन और समाज की दुहाई देते हुए धर्म प्रचारक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक नेता साहित्य को भी एक बनी-बनाई रेखा के भीतर रखना चाहते हैं। इतिहास में ऐसे अवसरों का अभाव नहीं है जब पर्याप्त समय तक धर्म और दर्शन ने साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण किया है। संस्कृत में बौद्ध धर्म से प्रभावित 'बुद्ध-चरित' आदि की रचना हुई। जातक कथाओं की एक परम्परा ही चल पड़ी। धर्म की यह शक्ति इतनी प्रबल थी कि महान् कवि भी इससे पूर्ण मुक्ति न पा सके। संस्कृत में शैव और वैष्णव कवियों की अलग-अलग परम्पराएँ हैं। हिन्दी में सगुण, निर्गुण कवि हैं जिन्होंने अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है।

साहित्य पर धर्म का अंकुश विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। आस्था, विश्वास, श्रद्धा, दैवी प्रेरणा, भक्ति-भावना किसी सीमा तक धर्म-भावना के ही पर्याय हैं। मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यों-ज्यों तर्क-बुद्धि का प्राधान्य हुआ धर्म का स्थान स्वतन्त्र चिन्तन और विचारणा को प्राप्त हुआ। धार्मिक अनुशासन में साहित्य देवी-देवताओं से उलझा रहा है। मानवों का विभाजन भी सुर-असुर के रूप में किया जाता है। देव-दानव-संघर्ष की कथा प्रायः सभी महाकाव्यों में कमो-वेश मिलती है। 'आदर्श' की स्थापना के पीछे साहित्य की यही धार्मिक मनोवृत्ति काम करती दिखाई देती है। कालान्तर में धर्म पूर्णतया साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर नहीं चला गया, किन्तु इतना अवश्य हुआ कि कवियों में दार्शनिकता और बौद्धिक जीवन-दृष्टि की प्रवृत्ति अधिक आ गई।

दर्शन को धर्म के प्रति एक विद्रोह नहीं कहा जा सकता। धर्म में दार्शनीकरण की प्रवृत्ति का समावेश उन अवसरों पर भी किया गया है, जब उदार-पन्थी विचारक खुले-आम धार्मिक कट्टरता का विरोध नहीं कर सकते थे। प्रोफेसर ए० जे० आर्बरी ने अपनी पुस्तक 'सूफ़ीवाद' में सूफ़ी धर्म और साहित्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि उनके प्रतिबिम्बवाद और प्रतीक-योजना तथा दार्शनीकरण के पीछे एक सुरक्षित कक्ष में पहुँचने की मनोवृत्ति है। ज्यों-ज्यों समाज की विचार-धारा धर्म के बन्धनों से मुक्त होती गई, साहित्य का दर्शन भी अधिक स्पष्ट और मुखर होता गया। यह प्रवृत्ति उस आरम्भिक काल में दिखाई देती है जब समाज ने धार्मिक मान्यताओं में सन्देह किया था। साहित्य में हम इसे मानवतावाद कह सकते हैं। इसमें धर्म के स्थान पर कतिपय मानवीय मूल्यों को प्रमुखता मिलती है। यह प्रवृत्ति पर्याप्त सीमा तक धर्म-निरपेक्ष कही जायगी। इसमें तर्क और विचार का आग्रह अधिक होता है। स्वतन्त्र विचारों के पल्लवन के साथ साहित्य में यह प्रवृत्ति प्रबल होती जाती है। प्रायः सभी साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में मानवीकरण करते हैं।[1] टालस्टॉय ने अपने अधूरे आत्मकथात्मक उपन्यास में उसके नायक निकोली के मुख से कहलवाया है : "आरम्भ से ही मेरी आदत थी कि मैं प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करने लगता था। दार्शनीकरण की अपनी प्रवृत्ति के कारण मैं घण्टों सोचता रहता था।"

साहित्य में यह मानवीकरण प्रायः समाज में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक अथवा राजनीतिक वादों से भी परिचालित होता है। समाज में प्रचलित एक विशिष्ट विचार-धारा, दर्शन अथवा राजनीतिक मत इतने प्रभावशाली और शक्तिमान हो जाते हैं कि कभी-कभी साहित्य उनका अनुगामी बनकर रह जाता है। साहित्य के लिए यह भयावह स्थिति होती है। इतिहास से ज्ञात होता है कि यद्यपि समय-समय पर समाज ने धार्मिक कठोरता के प्रति अपना विरोध दबे स्वरों में प्रकट किया था, किन्तु एक बड़ी लम्बी अवधि तक धर्म ही हमारे सामाजिक जीवन का प्रमुख नियामक बना रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में जो पुनर्जागरण (रिनेसाँ) का युग आया, इसमें प्रथम बार ईश्वर और धर्म को छोड़कर साहित्य नई भूमि पर आया। विज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ एक सर्वथा नया जीवन-दर्शन विश्व-समाज में विकसित होने लगा। इतना अवश्य है कि नया ज्ञान-विज्ञान आज भी धर्म का पूर्ण स्थान नहीं ग्रहण कर सका, क्योंकि जितने व्यापक सामाजिक स्तर पर धर्म ने कार्य किया था, उतना विज्ञान द्वारा सम्भव नहीं हो सका। इसी कारण साहित्य और समाज दोनों में

१. No man was ever a great poet, without being at the same time a profound philosopher.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म के स्वरों को पूर्णतया विलीन नहीं किया जा सका। रिनेसाँ में बुद्धि और ज्ञान का जो स्रोत प्रवाहित हुआ, उसने धर्म के स्थान पर राजनीति को समाज का नियामक बनाया। विचारों के असंख्य द्वार खुलते ही अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ साहित्य और समाज में दिखाई देने लगीं। स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि कभी कभी दो पूर्णतया परस्पर-विरोधी विचार-धाराएँ भी देखने को मिल जाती हैं।

सामाजिक जीवन में राजनीतिक प्रवेश अनेक दृष्टियों से साहित्य के लिए एक महत्त्व पूर्ण घटना है। इस युग में सत्ता मठाधीशों के हाथ से निकलकर राज्य-संचालकों के हाथ में आ गई। इंगलैण्ड का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कुछ समय तक चर्च और राज्य में संघर्ष चला। कालान्तर में जनता और उसके प्रतिनिधियों ने राजा के दैवी अधिकार को चुनौती दी। राजनीतिक प्रभुता के युग में साहित्य में स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति प्रबल होती दिखाई देती है, यद्यपि उस पर अब भी एक प्रकार का राजनीतिक प्रभाव बना रहा। साम्यवाद, नाज़ीवाद आदि के आगमन में तो 'सेन्सर' क्रमशः ज़ोर पकड़ता गया। समाज में ज्यों-ज्यों राजनीति के तत्त्व प्रबल होते गए साहित्यकार के लिए असम्पृक्त, निर्विकार मनीषी अथवा विचारक की भाँति तटस्थ रहकर किसी आदर्श लोक का निर्माण करना असम्भव हो गया। उसे प्रथम बार अपने राजसिंहासन से उतरकर नये परिवर्तनों को पास से देखना पड़ा। अंग्रेज़ी कवि मिल्टन (१६२५) ने तो क्रॉमवेल की सरकार में सक्रिय भाग तक लिया। मिल्टन के पूर्व शेक्सपियर की रचनाओं में भी अपने युग की अवस्था अंकित हुई है। मध्य युग से एलिजाबेथियन युग का अन्तर स्पष्ट करते हुए एडवर्ड डाउडन ने अपनी पुस्तक 'शेक्सपियर' में लिखा है : **"पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के युग में जीवन एक वास्तविक वस्तु हो गया था। मध्ययुग का आतंक और विवाद लौकिक सुख का त्याग आध्यात्मिक इच्छा की अतृप्ति और उसका शोक, धर्म में सन्देह पर प्रतिबन्ध तथा इन्द्रिय-निग्रह; ये सब जो जीवन के प्रमुख रूप थे, समाप्त हो गए।"** शेक्सपियर और मिल्टन के अनन्तर रचनाकार आए, उन्हें किसी-न-किसी रूप में समाज और उसकी राजनीति का पर्यवेक्षण करना पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में डॉ० जान्सन के सहयोगियों ने वैचारिक आन्दोलनों में सदैव भाग लिया। इसी प्रकार फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के अनन्तर व्यक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित हुई, उसने भी साहित्य पर अपना व्यापक प्रभाव डाला। वर्ड्स्वर्थ उस क्रान्ति से प्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ ही था। रोमाण्टिक कवि कल्पनाशील होते हुए भी राजनीति से परिचालित कवि हैं। बॉयरन ने तो उसमें सक्रिय भाग लिया था। राजनीतिक क्षेत्र में फ़ासिज्म और साम्यवाद के आगमन से साहित्यकारों पर राजनीति का अंकुश किंचित् कठोर हो गया। सांस्कृतिक आन्दोलनों की ओट में इटली और जर्मनी के फ़ासिस्ट नेताओं ने साहित्य को एक बँधी-बँधाई सीमा से जाने पर बाध्य किया। सम्पूर्ण समाज और साहित्य का आर्थिक आधार पर आकलन करते हुए मार्क्स ने एक स्थान पर लिखा है : **"वह आशावाद, जिसमें देश के अनेक तथाकथित क्रान्तिकारी भी विश्वास करते हैं, इस कृति ('मज़दूर वर्ग की अवस्था') बड़ी निर्ममता से उद्घाटित हुआ है। यद्यपि कतिपय स्थलों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से (सम्भवतः मार्क्स का तात्पर्य आर्थिक आधार से ही है) यह पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं है; फिर भी इसका महत्त्व घटा नहीं है। यह एक गम्भीर द्रष्टा**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भय कार्यकर्ता, तटस्थ आलोचक, एक महान् कलाकार और इनके सबके ऊपर एक ऐसे व्यक्ति की रचना है जो हर प्रकार के बन्धन का विरोधी है ।.....इस प्रकार की कृतियाँ (Flerowsky) की तथा तुम्हारे गुरु (Chernyshevsky) की रचनाएँ रूस को गौरव प्रदान करती हैं और यह प्रमाणित करती हैं कि तुम्हारा देश भी उसी प्रकार हमारे देश के सामान्य आन्दोलन में भाग ले रहा है ।" ये मार्क्स के विचार हैं, जो एक महान् चिन्तक था। आगे चलकर जब मार्क्सवाद राजनीतिक सेनानियों के हाथ में पड़ गया, तब 'सर्वहारा वर्ग के समाजवादी साहित्य' के नाम पर जो कुछ अच्छा-बुरा लिखा गया, उसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

ऊपर के इस ऐतिहासिक क्रम को संक्षेप में केवल इसीलिए उठाना पड़ा, क्योंकि सम्भवतः कुछ विद्वान् यह मत रखते हैं कि 'किसी सतयुग' में साहित्य समाज से पूर्णतया असम्पृक्त था। साहित्यकार (विशेषतया कवि) का समाज के प्रति कोई दायित्व न था। वह एक चिन्तक-मात्र था। इसके लिए 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि विशेषण पेश किये जाते हैं। सम्भवतः यह धारणा अत्यधिक आदर्शवादिता अथवा जीवन से पलायन-वृत्ति के कारण बन गई है। समाज सदैव धर्म, अध्यात्म, दर्शन अथवा राजनीति से अनुशासित रहा है और साहित्य, जो समाज का ही एक मानसिक और भावात्मक प्रकाशन है, क्रमशः धर्म, दर्शन और राजनीति की पगडंडियों से होकर गुज़रा है। प्रश्न केवल इतना ही है कि साहित्य किस सीमा तक समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। क्योंकि साहित्यकार रेडियो कमेण्टेटर-मात्र नहीं है। जो 'आँखों देखा हाल' आपको सुनाता है। ज्ञान का साहित्य अथवा शास्त्र समाज को तथावत् चित्रित कर सकता है। इतिहासकार, राजनीतिज्ञ आदि किसी सीमा तक इसी अर्थ में सामाजिक लेखक हैं। यद्यपि वे भी भविष्य-द्रष्टा हो सकते हैं। किन्तु दूसरे ललित साहित्य अथवा काव्य समाज को ज्यों-का-त्यों 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' नहीं अंकित कर सकता। यहाँ हम मुख्यतया काव्य अथवा रचनात्मक साहित्य को लेकर ही समाज से उसके सम्बन्ध की चर्चा करना चाहेंगे।

साहित्य, रचनात्मक साहित्य और समाज का सम्बन्ध मूलतया अभिव्यक्ति का प्रश्न है। वह सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। समाज के विषय में सभी लेखकों की एक प्रतिक्रिया होती है। किन्तु इस प्रतिक्रिया का रूप सर्वत्र एक नहीं होता। अपने समय के समाज के प्रति प्लेटो की भी एक प्रतिक्रिया थी। किन्तु 'सत्य' और 'नैतिकता' का मोह उसे इतना अधिक था कि वह केवल बौद्धिक और तार्किक स्तर पर ही सोच सकता था। इसी कारण उसने 'आदर्श राज्य' में कवियों का बहिष्कार किया, और होमर का भी विरोध किया। रचनात्मक साहित्यकार, विशेषतया कवि अधिक संवेदनशील प्राणी है। बहुत अधिक तटस्थ, निरपेक्ष होना उसके लिए किंचित् कठिन है। जहाँ तक समाज को देखने-सुनने का प्रश्न है प्रायः सभी लेखक अपनी शक्ति के अनुसार उसका अध्ययन करते हैं, किन्तु आगे चलकर उस सामाजिक चित्र को प्रस्तुत करने की विधि में अन्तर हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया कुछ ऐसी होती है कि रचनाकार साहित्य-सृष्टि के पूर्व अपने मानस में उन सभी चित्रों को ले आता है, जिन्हें उसने कुछ समय पूर्व देखा था। वह अपनी बुद्धि से यह निर्णय करता है कि इनमें से कौन-से चित्र ऐसे हैं, जिन्हें प्रस्तुत करने पर 'सार्थक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति' हो सकेगी। इस प्रकार किसी सीमा तक रचनाकार के मानस-जगत् में एक द्वं की-सी स्थिति आ जाती है। वह समस्या मूलतया 'संचयन' अथवा वस्तु के चुनाव से सम्ब रखती है। सम्भवतः इसी कारण अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में 'प्लॉट' को इतना महत्त दिया है। यद्यपि समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वास्तव में वह तो समस्या आरम्भ है। सामग्री के चुनाव में रचनाकार फोटोग्राफर से भिन्न होता है। वह केवल उन तथ्यों और सत्यों को अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील होता है, जिन्हें उसने अपनी चेतना आत्मसात् कर लिया है। यही कारण है कि साहित्य की अभिव्यक्ति रागात्मक होती है- रस-सम्पन्न! मनोविज्ञान काव्य-सृजन के जिन चार चरणों की क्रमशः अनुभूति, पल्लवन अभिव्यक्ति और प्रभाव-चर्चा करता है, उनमें पल्लवन का बड़ा महत्त्व है। अभिव्यक्ति देने के पूर्व इसी दौरान में वह निर्णय करता है कि उसे क्या रखना है, और क्या फें देना है।

साहित्यकार केवल ऐसे सत्य का उद्घाटन नहीं करता, जिस पर उसने विचार-म किया है। वह अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति करता है। केवल चिन्तन सत्य के सहारे मह साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं। अपनी कृति को अधिकाधिक प्राणवान और सशक्त बनाने लिए रचनाकार अनुभूत सत्य को उसकी पूर्ण तीव्रता में अंकित करता है। अपना उद्दे निश्चित कर लेने के अनन्तर वह ऐसे प्रमाण एकत्र करता है ताकि चित्र अधिक-से-अधि विश्वस्त (convincing) हो सके। इस प्रकार साहित्य में समाज की जो तस्वीर आती वह रागात्मक, सोद्देश्य और कटी-छँटी होती है। उदाहरणार्थ हम युद्ध के दौरान में रचे साहित्य को ले सकते हैं; जिसमें उस समय की सम्पूर्ण विभीषिका, निराशा और पशुता केवल एक संकेत रूप में अंकित किया गया है। किन्तु साहित्य का यह संकेत कितना सा है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि 'ध्वनि-काव्य' सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता रचना-विधान, साहित्य-सृजन के चरण किसी गणित के प्रश्न को सुलझाने की रीति किंचित् भिन्न होते हैं। साहित्य-सृष्टि के नपे-तुले, यान्त्रिक नियम नहीं बनाए जा सक अपने रागात्मक स्वर की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न साहित्यिकों ने विभिन्न मार्ग बनाए जो कभी-कभी स्थूल दृष्टि से देखने पर एक-दूसरे के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उन सृजन-प्रक्रिया ऐसी ही है जैसे अनेक अन्वेषी विभिन्न दिशाओं से आते हुए एक ही के बिन्दु पर मिलते हों। साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्द-सृष्टि ही है—जिसकी अनेक विधि हो सकती हैं।

समाज की साहित्यिक तथा अन्य अभिव्यक्तियों में सृजन-प्रक्रिया के कारण जो अ दिखाई देता है, उसे समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि साहित्य 'रस' का नि करता है जब कि अन्य शास्त्र केवल 'आसव' से भी काम चला सकते हैं। साहित्य में विभि ज्ञानराशियों को उनके सांस्कृतिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक रूप में नहीं प्रस्तुत कि जाता, किन्तु 'साहित्यिक रूप' में ही उनका अंकन होता है। इस वक्तव्य की किंचित् व्याख अपेक्षित होगी। साहित्य और काव्य जीवन और संसार में बिखरी हुई विभिन्न चिन्त धाराओं की अवहेलना नहीं कर सकते, किन्तु वे उनके व्याख्याता-मात्र बनकर नहीं रह जाते दर्शन को छन्द की नपी-तुली पंक्तियों में लिपिबद्ध कर देने-भर से वह रचना काव्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं प्राप्त कर सकती। इसके लिए तो यह अपेक्षित है कि उस दर्शन के अनुरूप ऐसे जीवन-दृश्य उपस्थित किये जायँ, जिनके माध्यम से वह विशिष्ट दर्शन बोलता हो। गीता का कर्म-वाद श्लोकों में बँध जाने-मात्र से काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। मूलतः वह एक दर्शन-ग्रन्थ है। किन्तु गीता से ही अनुप्राणित 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म का जीवन-दर्शन जीवन-चित्रों के साथ आने के कारण काव्य की सीमा छू लेता है। साहित्य में जिस समाज और जीवन की अभिव्यञ्जना होती है, उसके अनुरूप चरित्र-सृष्टि की जाती है। पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण पर जो इतना बल दिया गया है, उसका एक कारण यह भी है कि उनके माध्यम से एक विशिष्ट जीवन-दर्शन अपने सजीव रूप में बोलता है। इसी कारण पात्र कभी-कभी एक प्रतिनिधि का कार्य करते हैं और उन्हें अमरत्व मिलता है। मार्लो अपने नाटक में फाउस्ट के मुख से अपनी प्रेयसी के लिए 'हेलेन' शब्द का प्रयोग करवाता है। वही हेलेन, जिसके कारण अनेक महल जल गए थे।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसे प्लेटो ने 'अनुकृति-मात्र' कहकर टाल दिया है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि साहित्यकार सृष्टि की भी युग-सृष्टि करता है। कारण यह है कि वह सृजन के समय उसमें अपना व्यक्तित्व भी सन्निहित कर देता है। इस 'व्यक्तित्व' को यदि साहित्य-सृष्टि से निकाल लिया जाय तो वास्तव में उसमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसी कारण साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व सबसे प्रमुख स्थान का अधिकारी है। इसी आधार पर हम महान् और साधारण साहित्य में अन्तर जान सकते हैं। महान् साहित्यकार अपने युग और समाज का आकलन करते हैं। और महाकाव्य का रचनाकार तो एक युग की बिखरी हुई सांस्कृतिक चेतना को ही लिपिबद्ध कर लेता है। यह कार्य उनके व्यक्तित्व के कारण ही संभव है, साहित्य की युग-आकलन की प्रक्रिया इतिहासकार आदि से भिन्न होती है। वह घटना-क्रम से न उलझकर मूल चेतना को ही ग्रहण कर लेता है और उसे ही मांसल अभिव्यक्ति देता है। इसी कारण सोमरसेट मॉम ने एक स्थान पर लिखा है कि 'महान् साहित्यकार को इतना अवसर नहीं रहता कि वह वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करे।' वह केवल वे ही दृष्टान्त जुटाता है जो युग की मूल चेतना का आभास देते हों। विलियम जार्जों का एक उपन्यास है 'द ट्वेण्टीफिफ्थ आवर'। उसका नायक युद्ध बन्दी के रूप में सैकड़ों मील तार के नीचे से गुजरता है! अन्त में युद्ध की समाप्ति पर जब वह सौभाग्य से अपनी पत्नी और बच्चों से मिलता है तो वह देखता है कि सभी के मुख पर एक गहरी विषाद की छाया है। उस परिवार का चित्र लेते हुए एक अमरीकन फोटोग्राफर कहता है: "हँसो, जरा हँसते रहो!" यह हँसने के प्रयास पर तीखा व्यंग्य बनकर आया है। साधारण लेखक विवरणों से उलझकर रह जाते हैं, और यह समझते हैं कि वे युग का अंकन कर रहे हैं। यह क्रिया कुछ-कुछ मुगल चित्र-कला की भाँति है, जिसमें पच्चीकारी तो बहुत है पर उसमें आत्मा का पता नहीं चलने पाता। साधारण लेखक बहाव में आ जाते हैं। वर्तमान उन्हें अभिभूत कर लेता है। यह एक प्रकार से उनके व्यक्तित्व की पराजय है। किन्तु महान् लेखक समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक शृंखला का कार्य करते हैं।

प्रश्न है कि समाज साहित्य की गति-विधि का किस सीमा तक संचालन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः लगाए जाने वाले नारों में एक प्रमुख नारा यह है कि साहित्य समाज का है, साहित्य-कार समाज का है। एलबर्ट से माल्ज ने अपनी पुस्तक The Citizen Writer में लिखा है: "वह (लेखक) पूर्णतया समाज के प्रति उत्तरदायी है; क्योंकि समाज, मनुष्य-जाति उसे उत्तर-दायी ठहराती है।" मैंने जान-बूझकर एक ऐसे देश के समाजवादी लेखक को लिया है, जहाँ पर साम्यवाद अभी नहीं आया है और सम्भवतः शीघ्र आने की कोई आशा भी नहीं है। कम्युनिस्ट देशों के नेता तो इस प्रकार के नारे बराबर लगाया ही करते हैं। चाउ-एन-लाइ ने एक बार लगभग सात सौ प्रतिनिधियों के समक्ष भाषण दिया था, जिसका विषय था: 'जनता की मुक्ति का युद्ध और कला तथा साहित्य की समस्याएँ'। यह भाषण एक पुस्तक (The Peoples New Literature) में संगृहीत है। उसमें उसने स्पष्ट कहा है कि साहित्य का उद्देश्य 'जनता की सेवा' (Serving the People) है। पुस्तक में जो लेख संगृहीत हैं उसके अन्त में वह भी कोष्ठक में दे दिया गया है कि सभी प्रतिनिधि खड़े हो जाते हैं, और बड़े जोर से तालियाँ बजती हैं। इस प्रकार के स्थूल सिद्धान्त मानकर चलने वाला साहित्य 'पत्रकारिता' की संज्ञा पा सकता है! वह एक सामयिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। शॉ और शैक्सपियर के नाटकों की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। एक फेबियन समाज-वाद का चश्मा लगाए हुए अपने युग को धक्का देने में लगा रहा, पर दूसरे ने अपने युग को चिरन्तन अभिव्यक्ति दी।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसको सूक्ष्म रीति से देखना-परखना होगा। स्थूल ढंग से उसे नहीं समझा जा सकता। साहित्यकार अपने समाज का जो अंकन करते हैं, वह इतिहास-सिद्ध होता है। एक ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करने के कारण वह ऊपर से चिपकाया हुआ, अथवा एकांगी नहीं प्रतीत होता; उसमें एक तारतम्य आ जाता है, साथ ही उसमें शाश्वत उपादान भी सम्मिलित हो जाते हैं। वह चित्र, चिरन्तनता प्राप्त करता है, क्योंकि उसमें केवल 'सामयिक मूल्यांकन'-मात्र नहीं है। महान् लेखकों में एक असाधारण प्रतिभा होती है, जिसके सहारे वे एक इतिहास-सिद्ध यथार्थ को अवतरित कर लेते हैं। यही कारण है कि जहाँ वह सामाजिक यथार्थ युग का परिचायक होता है, वहीं वह युग-युग तक प्रवहमान भी होता है। महान् लेखक समाज के उन्हीं प्रश्नों से जूझते हैं जिनका महत्त्व सार्वभौमिक और चिरन्तन होता है। 'सेवा सदन' और 'गोदान' की समस्याओं में बड़ा अन्तर है। प्रश्न का समाधान करते हुए ये महान् लेखक किसी बने-बनाए नुस्खे से काम नहीं चलाते (जैसा कि प्रायः राजनीतिज्ञ करते हैं), बल्कि वे अपने चिन्तन से समस्या का हल पेश करते हैं। बीसवीं शताब्दी के कुछ उपन्यासों में गांधी और स्टालिन की जय हमें को मिलती है। जनता के प्रदर्शन को स्पष्ट करने के लिए यदि इन महापुरुषों का जय-जय-कार हो, तो किसी को आपत्ति न होगी, किन्तु कृति को जब एक विशेष राजनीतिक मत का प्रचार-साधन बना दिया जायगा, तब साहित्य का विद्यार्थी उसमें 'स्थूलता' की शिकायत अवश्य करेगा। रूसी उपन्यासों में जहाँ वस्तु-वर्णन की प्रशंसा करनी होगी, वहीं यह स्वीकार करना होगा कि वे फासिस्ट जर्मनों और पूँजीवादी अमरीकनों पर गालियों की वर्षा करते हैं। हिन्दी में नागार्जुन के कई उपन्यास अपने सजीव चित्रण में मार्मिक होते हैं, भी अन्त में इस दुर्घटना का शिकार हो गए हैं। समर्थ साहित्यकार अपनी आँखों पर रंगीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चश्मा लगाकर समाज को नहीं देखता। वह उसे अपनी उदार और स्वतन्त्र दृष्टि देता है। जब कभी प्रचार के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले नारों के पीछे साहित्य को ले जाने का प्रयास किया जाता है, साहित्य अपने गौरव से वंचित हो जाता है। साहित्य तो हमारे जीवन की असंख्य सम्भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं का रागात्मक चित्र है, भला उसे कटघरे में कैसे बाँधा जा सकता है! महान् साहित्यकार कभी 'फरमायशी' नहीं हो सकता! एक बार गेटे से उसके ड्यूक ने युद्ध के लिए कुछ प्रयाण-गीत (मार्चिंग साँग) लिख देने को कहा। गेटे ने तुरन्त उत्तर दिया : "बिना मानव को घृणा किये, मैं युद्ध के गीत कैसे लिख सकता हूँ। ड्यूक, आपकी जानकारी के लिए मैं यह बता दूँ कि मैंने प्रेम-गीत भी उसी अवस्था में लिखे हैं जब मैंने प्रेम किया है।"

समाज की साहित्यिक अभिव्यक्ति को ठीक से न समझ पाने के कारण जहाँ रचना और सृजन में व्यवधान आ जाता है; गतिरोध तक की शिकायत की जाती है, वहीं उसके मूल्यांकन में भी बड़ी अराजकता प्रस्तुत होती है। साहित्य को जनवादी, प्रतिक्रियावादी, समाजवादी, व्यक्तिवादी आदि खेमों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार का कृत्रिम और यांत्रिक विभाजन तभी सम्भव है जब मनुष्य और जीवन का भी इसी प्रकार बँटवारा कर दिया जाय; क्योंकि आखिरकार साहित्य उसीकी तो अभिव्यक्ति है। सम्भव है एक बार महान् रचनाकार धर्म अथवा राजनीति के कठोर शासन की अवहेलना कर जाय; वह 'सेन्सर' और 'बैन' की चिन्ता न करे, किन्तु किसी धार्मिक अथवा राजनीतिक वाद के प्रबल होने के कारण उसकी कृतियों का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता! कारण स्पष्ट है। उस महान् लेखक की चेतना ने नारों के पीछे चलने से इन्कार कर दिया है, फिर उसका समादर वादग्रस्त समीक्षक कैसे कर सकते हैं। समीक्षा एक पूर्वग्रह और पक्षपात से बँध जाती है। उदाहरणार्थ हम लेनिन के उस निबन्ध को लेना चाहेंगे, जो उन्होंने टॉलस्टाय पर लिखा है। विश्व के महानतम लेखकों में टालस्टाय का स्थान सुरक्षित है, सभी उनकी महत्ता स्वीकार करते हैं। लेनिन ने इस महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है : **"टालस्टाय ने अपने युग का सफल चित्रण किया है। उन्होंने आमने-सामने को देखा और समझा है—एक महान कलाकार की दृष्टि से, एक महान् विचार के मस्तिष्क से। संक्षेप में यही तथ्य है, जो उनकी कृतियों को इतना गरिमामय बनाता है। मानवता के कलात्मक विकास में यह एक क्षण और है।"**[1] किन्तु लेनिन टॉलस्टाय की शिकायत भी कम नहीं करते। वे कहते हैं : "टालस्टाय अपने युग के ऐतिहासिक क्रम, विकास-रेखा और युग-शक्तियों को पहचानने में पूर्णतया असफल रहे। 'अन्ना केरिनिना' में जो वस्तुएँ उन्हें सबसे अधिक पसन्द आईं, वे हैं 'खलिहान की बातें, मजदूरों की दलील' आदि। साहित्य की व्याख्या के लिए मार्क्सवाद ने जो आर्थिक आधारभूमि, भौतिक दृष्टि प्रदान की है, वह सर्वथा स्तुत्य है, किन्तु साहित्य के विशाल क्षेत्र का आकलन करने के लिए उसे 'अन्तिम शब्द' मानने में स्वतन्त्र द्रष्टा को किंचित् संकोच होगा। पूँजीवादी युग में जो कुछ लिखा गया है, वह सारा-का-सारा 'अस्पृश्य' नहीं घोषित किया जा सकता। साहित्य में सामाजिक अभिव्यक्ति का अन्तर यहीं स्पष्ट दीखने लगता है। हमारी इन्द्रियाँ जिस 'गन्दगी' को समाज में देखने से मुख मोड़ लेना चाहती हैं, वहीं जब

१. Lenin, Collected Works xv

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष आती हैं, तब मानस पर एक 'रसात्मक प्रभाव' पड़ता है। साहित्यकार जब आपके समाज की कल्पना-समन्वित तस्वीर आपके सामने हाजिर करता है तो आपको वह 'अनुकृति' सत्य और यथार्थ से भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। साहित्य में समाज को मूर्त्त करने की यह सृजन-प्रक्रिया किंचित् जटिल और सूक्ष्म है, तब भला उसका मूल्यांकन इतने सीधे-सादे ढंग से कैसे हो सकता है।

साहित्य और समाज के प्रश्न से साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। वह युग गया जब साहित्यकार को 'ऋषि' अथवा 'प्रॉफेट' कह देने-भर से काम चल जाता था। बदली हुई परिस्थितियों में लेखक के व्यक्तित्व को समाज से पूर्णतया असम्पृक्त करके नहीं देखा जा सकता, देखना उचित भी नहीं है। लेखक का जीवन उसके साहित्य से पूर्णतया विलग नहीं किया जा सकता। बॉयरन ने ग्रीस-युद्ध में भाग लिया था। गोर्की कारागार में डाल दिये गए थे। कॉडवेल स्पेन के गृह-युद्ध में काम आए। ये सभी घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि साहित्यकार समाज के बहुत निकट भी आए हैं। उन्होंने सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग भी लिया है। उनके ये सामाजिक कर्म उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को एक विशिष्ट गौरव प्रदान करते हैं। किन्तु जब हम किसी साहित्य की परीक्षा करेंगे तब हमें यह ध्यान रखना होगा कि कहीं हम लेखक के जीवन-चरित से अभिभूत न हो जायँ। कॉडवेल स्पेन के गृह-युद्ध में न मरकर यदि रोग-शय्या पर ही समाप्त हुआ होता तो भी लगभग उनतीस वर्ष की अवस्था में साहित्य को अपनी तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखने वाले उस समीक्षक का महत्त्व साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी के लिए कम न हो जाता। यह स्वाभाविक ही है कि एक कार्यकर्त्ता अथवा नेता के रूप में समाज की सेवा करने वाले अथवा उसमें सक्रिय भाग लेने वाले साहित्यकार का आदर जनता में उस साहित्यकार की अपेक्षा अधिक होगा जो मूक साहित्य-सेवी रहा है। गोर्की और माओ को सम्भवतः इसी कारण साम्यवादी देशों में अधिक पूजा जाता है। एक ही श्रेणी के दो लेखकों में इस प्रकार की विशिष्टता यदि समाज-सेनी साहित्यकार को दी जाय तो उचित है। किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। समीक्षा के क्षेत्र में सामाजिक कार्यों को घसीटा जाता है। साहित्य की अपेक्षा लेखक के नेतृत्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। किन्तु इतना निश्चित है कि लेखक का चरित्र उसके साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्णायक नहीं बन सकता। क्योंकि कभी-कभी वे एक दूसरे के विरोधी बनकर भी आ सकते हैं। निकृष्ट चरित्र महान् साहित्य की सृष्टि कर सकता है और एक साधु पुरुष साधारण साहित्य का जनक हो सकता है। चरित्र व्यक्तिगत पूँजी है जब कि साहित्य एक सामाजिक सम्पत्ति है। साहित्यकार का कृतित्व (साहित्यिक) समाज के लिए उसके सामाजिक कृतित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है। और इसी कारण साहित्य की परीक्षा साहित्यिक मूल्यों के आधार पर करना ही उचित है, जो इस बात को ध्यान में रखकर बनाए जायँ कि समाज को साहित्य में अभिव्यक्ति देने की सृजन-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप क्या है।

इस प्रकार इतना निश्चित है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी, किंचित् समस्यामूलक है। यह रिश्ता सीधा-सादा नहीं है। साहित्य-समाज व्यापक समाज से अपना जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उसमें साहित्य और कला के रचना-विधान का महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। साहित्य समाज की अवहेलना नहीं कर सकता। लेखक स्वयं एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रहता, साँस लेता है। जब सर्वत्र जीवन है तो वह भागकर जायगा कहाँ? बस, एक ही स्थान है, वह है व्यक्ति का अपना अहं, जिसे कॉडवेल ने 'स्वयं (अथवा अहं) का संसार' कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रकार का कुण्ठाग्रस्त साहित्य मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर इधर पर्याप्त मात्रा में चल निकला है। मनुष्य को शव-परीक्षा की जो प्रणाली मनोविश्लेषण शास्त्र बताता है उसे ज्यों-का-त्यों साहित्य में नहीं लाना चाहिए। मनुष्य और समाज में सब-कुछ है, किन्तु साहित्य 'कल्याण' का ध्यान रखकर चलता है। वह दोष भी ऐसे ही प्रस्तुत कर सकता है जो कल्याण-नियोजन में सहायक हों। 'शाइलॉक' की सृष्टि का उद्देश्य है, उस मनोवृत्ति की भर्त्सना। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देकर चलने वाले लेखक प्रायः यह दावा करते हैं कि वे व्यक्ति की चेतना की मुक्ति चाहते हैं! वे मानव-मन का उद्घाटन करेंगे। यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति-मन की परीक्षा भी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही करनी उचित होगी; और व्यक्ति-चेतना की मुक्ति के नाम पर 'यौन-साहित्य' का निर्माण तो किसी भी प्रकार जायज नहीं है। एक छोटे-से समाज की परिक्रमा करने वाला साहित्य 'अपने विशिष्ट समाज' में भले ही मनोरञ्जन का साधन बना रहे, किन्तु वह व्यापक सामाजिक चेतना का स्वर नहीं बन सकता। इस व्यापकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उसमें सार्वजनिक प्रभाव हो। साहित्य जनता का हो, समाज से—व्यापक समाज से—उसने प्रेरणा अवश्य ली हो, किन्तु वह समाज अथवा जनता को सामने रखकर, उसकी वासना-पूर्ति का साधन-मात्र बनकर न रह जाय। लोकप्रिय साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह महान् भी हो। सामान्य जनता की स्वीकृति साहित्य की महत्ता की निर्णायक नहीं बन सकती। साथ ही यह भी है कि क्लिष्ट साहित्य महान् का पर्याय नहीं होता। साहित्य के सामाजिक तत्त्व निस्सन्देह उसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं, पर इनकी परीक्षा बहुत समझ-बूझकर करनी होगी। विशुद्ध शास्त्रीय अथवा सौन्दर्यवादी दृष्टि से साहित्य को परखकर उस पर अन्तिम निर्णय दे देना भी ठीक नहीं है।[1] सामाजिकता का तो ध्यान रखना ही होगा, किन्तु सृजन-प्रक्रिया को दृष्टि-पथ में रखकर; क्योंकि यही साहित्य में समाज के प्रकाशन का मेरुदण्ड है, जो उसे अन्य रचना-प्रकारों से वैशिष्ट्य प्रदान करता है।

---

१. To stand outside art is to stand inside society. Illusion and Reality, Page 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' और 'शैव मत'

'बौद्ध धर्म-दर्शन' प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री और विचारक दिवंगत आचार्य नरेन्द्रदेव की गवेषणापूर्ण कृति है।

आचार्यजी भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्येता थे और उन्होंने विशेष रूप से बौद्ध-धर्म और दर्शन का अध्ययन किया था। प्रायः आजीवन इस विषय पर वे मनन और चिन्तन करते रहे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे बौद्ध-धर्म पर एक आकर-ग्रन्थ की रचना करें। किन्तु जहाँ विद्या से उनको इतना अनुराग था वहाँ वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों में होने के कारण राजनीतिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते थे। अतः उनको पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता था कि अपने ग्रन्थ को अन्तिम रूप देकर उसे मुद्रणार्थ भेजें। उनके देहावसान के समय तक यह ग्रन्थ छप न सका था। उनकी आत्मा को अवश्य ही सन्तोष हुआ होगा कि बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके लिए बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् बधाई की पात्र है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक बहुत ही व्यापक और ठोस रचना है। इसके प्रारम्भ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित भूमिका तथा स्वयं लेखक द्वारा लिखी हुई उनकी जीवनी है। इसके पश्चात् ग्रन्थ पाँच खण्डों और बीस अध्यायों में विभक्त हुआ है। 'प्रथम खण्ड' में पाँच अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में बुद्ध की जीवनी है। द्वितीय में बुद्ध का मूल उपदेश, तृतीय में पालि बौद्धागम, चतुर्थ में निकाय-विस्तार तथा पंचम में स्थाविरवाद की साधना वर्णित है। 'द्वितीय खण्ड' के षष्ठ अध्याय में महायान का उद्गम और उसकी विशेषता, सप्तम में बौद्ध संस्कृत-साहित्य और उसका परिचय, अष्टम में महायान के प्रधान आचार्य, नवम में महायान के तन्त्रादि साहित्य एवं दशम में महायान की साधना तथा चर्या—इन विषयों का निरूपण हुआ है। 'तृतीय खण्ड' के एकादश अध्याय में बौद्ध दर्शन की भूमिका, द्वादश में कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त, त्रयोदश में कर्म-फल के सिद्धान्त तथा चतुर्दश में विभिन्न बौद्ध-सिद्धान्तों में निर्वाण के रूप का विवेचन किया गया है। 'चतुर्थ खण्ड' के पंचदश अध्याय में वैभाषिक नय, षोडश में सौत्रान्तिक नय, सप्तदश में आर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंग के विज्ञानवाद, अष्टादश में वसुबन्धु के विज्ञानवाद तथा उनविंश में माध्यमिक नय का दिग्दर्शन किया गया है। 'पंचम खण्ड' में एक ही विंश अध्याय है, जिसमें बौद्ध-न्याय का विश्लेषणात्मक परिचय है। अन्त में बृहत् शब्दानुक्रमणी दी गई है। उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि इस ग्रन्थ में यथासम्भव बौद्ध धर्म तथा दर्शन से सम्बद्ध सभी विषयों पर विद्वान् लेखक ने अपना विचार प्रकट किया है। राजनीतिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी आचार्य जी ने मूल तथा अर्वाचीन प्रचुर सामग्री का उपयोग अपने ग्रन्थ-प्रणयन में किया है। अतः हिन्दी में प्रकाशित बौद्ध धर्म पर यह सर्वांगीण ग्रन्थ है। इसमें आचार्य जी के प्रगाढ़ अध्ययन, लम्बे अनुभव और प्रौढ़ प्रतिभा का प्रचुर परिचय मिलता है। बौद्ध-धर्म के महत्त्व-पूर्ण आदर्शों को उन्होंने अपने जीवन में उतारने की साधना भी की थी। इसलिए उनकी लेखनी की अपेक्षित सजीवता इस ग्रन्थ में परिस्फुटित हुई है।

इस विशाल ग्रन्थ का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी कई स्थल ऐसे हैं, जहाँ मतभेद के लिए स्थान है। प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति की दो धाराओं की चर्चा की गई है। दो धाराएँ ब्राह्मण और श्रमण मानी गई हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समीचीन नहीं है। मूल में 'श्रमण' वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा में ही एक आश्रम था, जो परवर्ती संन्यास के समकक्ष था और इसमें वर्णाश्रम धर्म तथा कर्मकाण्ड का परित्याग आवश्यक था, क्योंकि वर्णाश्रम तथा कर्मकाण्ड का सम्बन्ध जीवन के प्रवृत्ति मार्ग—गार्हस्थ धर्म से है और श्रमण या संन्यास का सम्बन्ध जीवन के निवृत्ति मार्ग से। यही प्राचीन 'श्रमण' शब्द बौद्ध 'भिक्षु' के अर्थ में रूढ़ हो गया। किन्तु इसका सम्बन्ध न तो सम्पूर्ण समाज से था और न समस्त भारत देश से। इसलिए श्रमण वृत्ति को एक प्रकार का 'यति-धर्म' तो कह सकते हैं किन्तु एक स्वतंत्र सांस्कृतिक धारा नहीं। ब्राह्मण और श्रमण का निरोध भी पीछे का है, जिसमें वैदिक परम्परा का गृहस्थ ब्राह्मण निष्क्रिय और मुण्डित भिक्षु को अशुभ और असामाजिक मानता था; सामाजिक दृष्टि से तो संन्यासी भी मृत ही समझा जाता था। भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध-धर्म एक दार्शनिक सम्प्रदाय और एक विशिष्ट साधना का मार्ग था, स्वतन्त्र एवं अपने में परिपूर्ण सांस्कृतिक धारा नहीं। यही कारण है कि इसकी पृथक् सामाजिक स्थिति न होने से यह मध्ययुग में अपने मूल स्रोत में विलीन हो गया; केवल बाहर के देशों में ही स्थानीय भिन्नताओं और विशेषताओं के साथ वह सम्प्रदाय रूप से जीवित रहा।

दूसरे अध्याय में 'बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता' का प्रतिपादन किया गया है। प्रायः यह मानना परिपाटी-सी बन गई है कि बुद्धपूर्व वैदिक धर्म में सार्वभौमिक तत्त्व नहीं थे, जिनकी पूर्ति बुद्ध ने की। जहाँ तक सामान्य नैतिक धर्म और मोक्ष का सम्बन्ध है वैदिक धर्म में इनका द्वार सदा और सभी के लिए मुक्त था। विशिष्ट धर्म का सम्बन्ध वर्णाश्रम से था, जो अधिकार-भेद पर आधारित था। यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध ने सामान्य धर्म पर अधिक बल दिया, जो उनके समय में उपेक्षित हो रहा था। इसी प्रकार मध्यम मार्ग (संयम, समुच्चय अथवा समन्वय), शिक्षात्रय (शील, समाधि तथा प्रज्ञा) समुत्पादन (कार्य-कारण-परम्परा अथवा कर्म-सिद्धान्त), अष्टांगिक मार्ग (दार्शनिक तथा नैतिक सन्तुलन का मार्ग), पंचशील (प्राणातिपातविरति-अहिंसा; अदत्तादान-विरति-अस्तेय; काम-मिथ्याचार-विरति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्य; मृषावाद-विरति-सत्य तथा सुरामैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति-मादक-द्रव्य-त्याग) आदि सिद्धान्त भारतीय परम्परा में थे और उपनिषदों में इनका पूरा महत्त्व स्वीकार किया गया है। भगवान् बुद्ध के समय में यह परम्परा रूढ़ हो रही थी। इन सिद्धान्तों को लोक-भाषा द्वारा जनता तक पहुँचाने का श्रेय उनको है। ऐसा लगता है कि विभज्जवादियों की प्रधानता के कारण सम्प्रदायों के विकसित होने पर प्राचीन परम्परा से भेद महायान के उदय तक बढ़ता गया।

तृतीय अध्याय में बुद्धदेशना की भाषा पर विचार किया गया है। आचार्यजी का मत है, **"जो कुछ हो भाषा की बनावट को देखते हुए हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पड़ती है और इसके विकास में संस्कृत का अच्छा-खासा हाथ है।"** (पृ०२७ पैरा २)। यह विचार सम्भवतः वेस्टरगार्ड और कुह्न के आधार पर किया गया है, जो पालि के मूल रूप को उज्जयिनी से इस कारण से जोड़ते हैं कि सिंहल में मूल बौद्ध धर्म के प्रचार करने वाले अशोक के पुत्र महेन्द्र का जन्म उज्जयिनी में हुआ था, जहाँ की बोली वे बोलते थे। किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि महेन्द्र की माता विदिशा-राजकुमारी थी और स्वयं महेन्द्र विदिशा में रहते थे और उन्हींके आवास के लिए विदिशा (भिलसा) के पास (सम्भवतः साँची में) विहार बनवाये गए थे। इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध स्वयं शाक्य जनपद में उत्पन्न हुए थे और सबसे अधिक श्रावस्ती में निवास करते थे। पालि के इन मूल प्रवर्त्तकों के अतिरिक्त रचना की दृष्टि से भी पालि मध्यदेशीय भाषा है। प्रसार के समय पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव पड़ा। क्योंकि सिंहल में गुजरात और बंगाल से जाकर लोग बस गये थे, अतः पालि पर गुजराती और बंगाली प्रभाव भी सम्भव है।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में बौद्ध संघ के विकास और महत्त्व पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। यह अभाव भी खटकता है। परन्तु ये सब ग्रन्थ के मौलिक विषय की दृष्टि से गौण बातें हैं। वास्तव में प्रस्तुत रचना बड़े महत्त्व की और विद्वन्मण्डल में समादरणीय है।

●

दूसरी कृति डॉक्टर यदुवंशी की 'शैव मत' है।

शैव मत भारत के प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसने भारतीय मानस को अनादि काल से आज तक प्रभावित किया है। अंग्रेज़ी तथा कतिपय भारतीय भाषाओं में इस विषय पर बहुमूल्य गवेषणात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इस बात की आवश्यकता थी कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी इस प्रकार का ग्रन्थ प्रकाशित हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इस आवश्यकता की सफल पूर्ति करता है।

ग्रन्थकार ने अपने विवेच्य विषय को आठ अध्यायों और छः परिशिष्टों में बाँटा है। प्रथम अध्याय में वैदिक रुद्र के सौम्य तथा उग्र रूप का विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार उग्र रूप के प्रति भय, आशंका और प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। द्वितीय अध्याय में सिन्धुघाटी-सभ्यता के धार्मिक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है और यह स्पष्ट किया गया है कि ये तत्त्व आर्यों के धार्मिक जीवन में आत्मसात् कर लिये गए। तृतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय में ब्राह्मण-उपनिषद्-काल में उत्पन्न भक्ति-धारा से प्रभावित रुद्र के शिव रूप के विकास का विवेचन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में, वैदिकोत्तर शिव ने किस प्रकार विविध आर्येतर तत्त्वों को अपने में ग्रहण किया और इससे अनेक रूप के विविध अंगों की कैसे उत्पत्ति हुई, इस विषय पर विचार किया गया है। पंचम अध्याय में मुख्यतः शिव के पौराणिक स्वरूप और उपासना-विधि पर प्रकाश डाला गया है। साथ-ही-साथ शैव मत के प्रचार, देवालयों तथा प्रतिमाओं का भी वर्णन एवं निरूपण किया गया है। शैव से शाक्त तथा गाणपत्य मतों की कैसे उत्पत्ति हुई, इसका भी उल्लेख हुआ है। षष्ठ अध्याय में परवर्ती विविध औदीच्य तथा दाक्षिणात्य शैव सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव और परस्पर संघर्ष का इतिहास है। सप्तम अध्याय में शैवमत के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण और तुलनात्मक अध्ययन है। अष्टम अध्याय में बाहर के देशों—दक्षिण-पूर्व एशिया—में, शैव धर्म के प्रसार उसके स्मारकों का उल्लेख है। प्रथम चार परिशिष्टों में प्राचीन ग्रन्थों से मूल पाठ दिये गये हैं, शेष दो में भारतीय तथा विदेशी उत्कीर्ण लेखों से शैव मत-सम्बन्धी अवतरण उद्धृत हैं।

ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य शैव मत के धार्मिक पक्ष का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करना है, उसके गहन दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत निरूपण करना नहीं। इस सीमा के भीतर सन्देह नहीं कि लेखक ने बहुत ही सरल शैली एवं प्राञ्जल भाषा में अपने विषय का प्रतिपादन किया है। शैव मत की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अनेक मतवादों का प्रचार हुआ है, विशेषकर इसके वैदिक तथा वैदिकोत्तर और आर्य तथा आर्येतर तत्त्वों को लेकर। परस्पर-विरोधी वादों के बीच पर्याप्त संयम और सन्तुलन से काम लिया गया है। केवल भावना और तर्क का अवलम्बन न करके उपलब्ध तथ्यों के सहारे ही ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले गए हैं। किन्हीं स्थलों में इन निष्कर्षों से मतभेद हो सकता है, परन्तु लेखक की वैज्ञानिक तथा तटस्थ पद्धति से उनका मूल्य विशेष रूप से बढ़ जाता है।

किसी भी मत, वाद अथवा संस्था की उत्पत्ति, और विकास का विवेचन और निर्धारण कठिन है, क्योंकि उसका मूल स्रोत अतीत में छूट जाता है और उसके विकास-क्रम में बहुत-सी प्रासंगिक ग्रन्थियाँ आ जुटती हैं, जिसके कारण सामान्य अध्येता को पूर्वाग्रह से अपने को बचा पाना सरल नहीं। सबसे दुरूह होता है परवर्ती भेदों और कारणों का स्वरूप-निर्धारण। भारतीय दर्शन में भेदों के तीन प्रकार माने गए हैं—(१) स्वगत, (२) सजातीय और (३) विजातीय। स्वगत भेद वह है जो मूल प्रकृत रूप में ही विकास की आवश्यकताओं के कारण अपने-आपमें होता है; इसके लिए बाहरी सम्पर्क अथवा आघात की आवश्यकता नहीं होती। सजातीय भेद वह है जो एक ही मूल के विविध तत्त्वों में प्रासंगिक कारणों से उत्पन्न होता है। विजातीय भेद वह है जो मूलतः बाह्य अथवा विदेशी होता है। इसके कारण सम्पर्क, आघात और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसका परिणाम है या तो पराजय तथा आरोप अथवा आदान-प्रदान तथा समन्वय। भारतीय मतों और वादों के अध्ययन में प्रायः ऐसा हुआ है कि जहाँ भी उनमें भेद दिखाई पड़ा, तुरन्त भौगोलिक, जातीय, धार्मिक अथवा राजनीतिक, भेद की कल्पना कर ली जाती है, जो स्वगत और सजातीय विकास के पक्ष को दबाकर ऊपर आ जाती है और वर्तमान पूर्वाग्रही संघर्षों को प्रोत्सा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हित करती है। अतः तीनों प्रकार के भेदों पर जागरूक और सन्तुलित दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त भेदों के अध्ययन का एक उदाहरण पर्याप्त है। 'ऋग्वेद' में रुद्र की कल्पना और भावना की गई है। पहले उन्मेष में उनके उग्र और भयंकर रूप का वर्णन है। क्रमशः उनके शिव रूप का विकास हुआ। इसी प्रकार उनकी पूजा-पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। शैव परम्परा मूलतः वैदिक अथवा आर्य है या वैदिकेतर अथवा आर्येतर, यह प्रश्न काफी विवादग्रस्त है। विकास वैदिकोत्तर है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु रुद्र का शिव रूप स्वयं मूलतः उनमें निहित है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। प्रासंगिक प्रभाव भी पड़े हैं, इसको भी मानने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु शिव को आर्येतर मानना न तो तार्किक दृष्टि से आवश्यक है और न इनके लिए कोई प्रमाण ही है। दुरूह यज्ञों का परित्याग करके सरल पूजा-पद्धति को अपनाने के लिए भी विजातीय कारण आवश्यक नहीं, इसके लिए स्वानुभव पर आधारित परिवर्तन ही पर्याप्त है। काल-क्रम से शैव मत में परिवर्तन हुआ है और इसने बहुत से सजातीय और विजातीय तत्त्वों को भी आत्मसात् किया है, जिससे विविध स्तर के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। व्रात्यों की उत्पत्ति का प्रश्न भी शैव मत से सम्बद्ध है। 'अथर्ववेद' (मण्डल १५) में व्रात्य की विस्तृत स्तुति तथा वर्णन है। वैदिक संहिता में व्रात्य का यह उच्च स्तर ही उसके आर्य और वैदिक होने का प्रमाण है। सामान्य धारा से भेद होने मात्र से विजातीय अथवा विदेशी उत्पत्ति का मत इस भ्रान्त धारणा पर अवलम्बित है कि वैदिक धर्म एकरूपी अथवा एकरंगी था। वास्तव में वेदों में विविध एवं विभिन्न धाराओं का संकलन हुआ था, अतः उनमें एक-दूसरे के विरोधी और परस्पर विषम तत्त्व भी पाए जाते हैं। व्रात्य और आर्येतरों में अन्तर था। परम्परागत संस्कार या कर्मकाण्ड का पालन न करने से आर्य ही व्रात्य हो जाता था, जो पुनः वैदिक संस्कार व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर वैदिक समाज में प्रविष्ट होता था। आर्येतर जातीय दृष्टि से पृथक् था। किन्तु आर्य होने के लिए उसे प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी, वह क्रमशः सामाजिक समन्वय से आर्य बन जाता था। व्रात्य के अनुचरों में मागध की गणना होने से कुछ लोग व्रात्यों को पौर्वात्य समझते हैं और इस कारण से मूलतः उनको आर्येतर मानते हैं। परन्तु मागध प्रारम्भ में ही मगध में रहते थे अथवा उनके बसने के कारण मगध नाम पड़ा, यह कहना कठिन है। प्रायः 'जन' के बसने से ही मूल जनपदों के नाम पड़े, पीछे जनपदों से जनपद की परम्परा बहुत ही परवर्ती है। इसी प्रकार अन्य विवादग्रस्त समस्याओं के बारे में भी व्यापक तथा जागरूक समीक्षा वांछनीय है।

ग्रन्थकार ने शैव मत के ऐतिहासिक निरूपण में प्रायः उसके सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। मूल ग्रन्थों तथा उत्कीर्ण लेखों से अवतरण तथा बृहत्तर भारत में शैव मत के प्रसार के वर्णन के कारण इस ग्रन्थ का मूल्य और बढ़ जाता है। आशा है कि इस प्रकार के शोध-ग्रन्थों के प्रणयन से ज्ञान की वृद्धि तथा समाज में उनका आदर होगा।[1]

---

१. 'शैव मत', ले० डॉ० यदुवंशी, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
'बौद्ध धर्म-दर्शन'; ले० स्व० आचार्य नरेन्द्र देव; प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

सूफ़ीमत एवं सूफ़ी साहित्य का अध्ययन

सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य के अध्ययन का प्रारम्भिक रूप हमें केवल जायसी-सम्बन्धी शोध-मूलक उल्लेखों में उपलब्ध होता है। गार्सां द तासी ने तो, इस कवि की चर्चा करते समय, इसका एक नाम 'जायसीदास' भी दिया है, इसे हिन्दुई में कवित्त और दोहरों की रचना करने वाला कहा है तथा इसकी 'पदमावत' के अतिरिक्त 'सोरठ', 'परमार्थजपजी' और 'घनावत' रचनाओं के भी नाम लिये हैं। उन्होंने 'पदमावत' की कई हस्तलिखित प्रतियों के पते भी अवश्य दिये हैं, किन्तु उस रचना के विषय में कोई आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। न तो उन्होंने उसमें लक्षित होने वाली विशिष्ट बातों की समीक्षा का प्रयत्न किया है और न इस कवि के रचना-कौशल पर ही कोई प्रकाश डाला है। तासी की 'इस्त्वार' का निर्माण ईस्वी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में हुआ था और उसके द्वारा 'हिन्दुई और हिन्दुस्तानी' के ज्ञात कवियों एवं लेखकों तथा उनकी उपलब्ध रचनाओं के केवल परिचय देने का ही, कदाचित्, सर्वप्रथम प्रयास किया गया था जिस कारण उनका ध्यान किसी दूसरी ओर न जा सका। डा० ग्रियर्सन ने भी एक वैसा ही प्रयत्न अपनी पुस्तक 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान' द्वारा, सन् १८८९ ई० में किया। परन्तु उन्होंने, जायसी का प्रसंग आने पर, उसकी 'पदमावत' वाली कथा के ऐतिहासिक आधार का भी प्रश्न छेड़ दिया, उसके भाषा पक्ष पर प्रकाश डाला तथा उसे पूरा साहित्यिक महत्त्व भी प्रदान किया। उनका तो कहना था कि 'पदमावत' हिन्दी-साहित्य का वस्तुतः सबसे अधिक अध्ययन योग्य ग्रन्थ है और उस कृति का मूल्य, एक मौलिक काव्य के रूप में भी, कुछ कम नहीं है। फिर भी डॉ० ग्रियर्सन ने उसकी विशेषताओं पर अधिक विचार नहीं किया और न उन्हें उसके तुलनात्मक अध्ययन की ही कोई आवश्यकता प्रतीत हुई।

जायसी के विषय में विशेष विस्तार के साथ लिखने का प्रयत्न, पहले-पहल बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण का लगभग अन्त होते समय किया गया। स्वर्गीय शुक्ल जी ने, सन् १९२४ ई० में, 'जायसी-ग्रन्थावली' का सम्पादन किया और उसके लिए 'भूमिका' लिखते समय, उन्होंने केवल जायसी के जीवन-वृत्त, 'पदमावत' के शुद्ध पाठ, कथानक, प्रबन्ध-कल्पना, काव्य-सौन्दर्य एवं भाषा आदि पर विशेष रूप में प्रकाश डाला, अपितु इसी प्रसंग में, उन्होंने इस काव्य-ग्रन्थ को, शेख कुतबन-जैसे सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं के साथ एक विशिष्ट वर्ग में स्थान देकर भी, परखने की चेष्टा की। फलतः, इसके अनन्तर, हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में प्रेमाख्यान के विषय को भी क्रमशः अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा और कहीं-कहीं इसके लिए एक नवीन प्रकरण की योजना तक आरम्भ कर दी गई। तदनुसार, नई खोजों के परिणामस्वरूप, इसके व्यापक अध्ययन की ओर भी हमारी प्रवृत्ति जगी और क्रमशः इस बात के स्पष्ट होने में भी देर न लगी कि लगभग एक-जैसी रचनाओं की एक लम्बी-सी परम्परा, जायसी के पूर्व से लेकर उसके पीछे तक भी, बराबर चली आई है तथा उसमें सूफ़ी प्रेमगाथाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी रचनाएँ सम्मिलित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जा सकती हैं जिनके रचयिताओं का सूफ़ी सम्प्रदाय के साथ कदाचित् किसी प्रकार का भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय इधर स्वयं सूफ़ी प्रेमगाथाओं के भी वर्ग की बहुत-सी ऐसी रचनाएँ मिलती जा रही हैं जिनका निर्माण दखिनी हिन्दी में किया गया है तथा जिनकी रचना-शैली में अधिक-से-अधिक फ़ारसी-साहित्य के आदर्श एवं परम्परा का अनुसरण लक्षित होता है।

इसी प्रकार, जायसी की 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तथा बहुत-से अन्य सूफ़ी कवियों की भी फुटकर रचनाओं के प्रकाश में आते जाने के कारण, इधर हमारा ध्यान अनेक ऐसी कृतियों के अध्ययन की ओर भी जाने लगा है जिन्हें प्रेम-गाथा नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिनके अनुशीलन द्वारा हमें सूफ़ियों के प्रेम-तत्त्व-विषयक सिद्धान्त एवं साधना का ज्ञान, प्रचुर मात्रा में, उपलब्ध हो सकता है। फलतः डा० लक्ष्मीधर शास्त्री ने शाहवर्कतउल्लाह की रचना 'प्रेम प्रकाश' का गम्भीर अध्ययन करके उसके आधार पर 'हिन्दी-साहित्य के लिए शाहवर्कतउल्लाह की देन' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया है जिससे इस धारणा को पुष्टि भी मिलती है कि हिन्दी के सूफ़ी-साहित्य का सम्यक् अध्ययन केवल प्रेमगाथाओं पर ही आश्रित नहीं रखा जा सकता। अतएव, जो अध्ययन पहले अकेले जायसी-विषयक परिचयात्मक उल्लेखों से ही आरम्भ हुआ था उसका बहुमुखी विकास हो चुका है तथा उसके वैसे प्रायः प्रत्येक अंग पर पृथक्-पृथक् भी ध्यान दिया जाने लगा है और स्वयं जायसी-सम्बन्धी अनुशीलन में भी कहीं अधिक व्यापकता एवं गम्भीरता आ गई है।

'पदमावत का काव्य-सौन्दर्य' सूफ़ी कवि जायसी की प्रसिद्ध प्रेमगाथात्मक रचना का 'अपने ढंग का पहला विस्तृत अध्ययन' है। 'विषय निर्देशिका' के अनुसार यह क्रमशः 'कथावस्तु का संघटन', 'रूप सौन्दर्य और अप्रस्तुत विधान', 'प्रकृति वर्णन का सौन्दर्य', 'रहस्यवाद का सौन्दर्य', 'पदमावत की सांकेतिकता', 'भाषा-सौन्दर्य', 'छन्द-विधान', 'चरित्र-चित्रण', 'सामाजिक स्थिति' एवं 'प्रेम का आदर्श' नामक शीर्षकों में प्रस्तुत किया गया है। ये शीर्षक उन दस प्रमुख अध्यायों का भी नाम निर्देश करते हैं जिनमें पुस्तक विभाजित की गई है और इनमें से प्रत्येक में एक से अधिक उपशीर्षकों का भी समावेश कर दिया गया है। पुस्तक के ग्यारहवें अथवा अन्तिम अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने 'पदमावत' में पाये जाने वाले कतिपय दोषों का दिग्दर्शन कराया है तथा उसीमें एक 'उपसंहार' देकर, उसके द्वारा उसने अपने वास्तविक वक्तव्य का सारांश दे देने की भी चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने पुस्तक के आरम्भ में एक पाँच पृष्ठों का 'आमुख' भी जोड़ दिया है, जिसमें प्रधानतः 'पदमावत' के विषय में अध्यावधि किये गए अध्ययन की एक रूपरेखा आ जाती है। इसी प्रकार पुस्तक के अन्त में दिया गया 'परिशिष्ट' 'भाषा सौन्दर्य' वाले अध्याय के लिए एक पूरक का काम करता है। पुस्तक वस्तुतः 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के दो प्रश्न पत्रों के स्थान पर लिखे गए प्रबन्ध का प्रकाशित रूप' है। इससे स्पष्ट है कि यह बड़े परिश्रम और मनोयोग पूर्वक लिखी गई है। इसमें 'पदमावत' के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन अनेक दृष्टियों से बड़े विशद रूप में किया गया है और लेखक का प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक का लेखक 'पद्मावत' को कमल 'एक महान् साहित्यिक कृति'-मात्र के ही रूप में देखना चाहता है, जिसमें **"अनेक लौकिक तथा साहित्यिक काव्य-रूढ़ियों के प्रयोगों द्वारा सौंदर्य-वर्धन किया गया है"**; और उसका बिना किसी हिचक के कहना है कि **"उसमें सर्वत्र कवि-कल्पना और सम्भावना का काव्य-सौंदर्य ही दर्शनीय है।"** उसने इसीलिए इस काव्य-ग्रन्थ की कहानी की ऐतिहासिकता पर विचार करने अथवा इसे सूफी धर्म के प्रचार का साधन ठहराने का भी घोर विरोध किया है। उसकी दृष्टि में 'पद्मावत' के सम्बन्ध में इस प्रकार की चेष्टा करना उसके प्रति अन्याय करना कहा जा सकता है। उसने इस बात को कई स्थलों पर दोहराया है—जैसे, **"उसकी ऐतिहासिक चीर-फाड़ बन्द होनी चाहिए"** (पृ० २४)। **"इतिहास का स्वर अब सर्वथा बन्द होना चाहिए और काव्य सौंदर्य का रसास्वादन अत्यावश्यक है"** (पृ० २६)। **"ऐतिहासिकता और भौगोलिकता का यह स्वर बन्द होना चाहिए"** (पृ० ११४)। **'ऐतिहासिक चीर-फाड़ करके इसे अनैतिहासिक घोषित करना इसके प्रति अन्याय होगा"** (पृ० २३२)। तथा इसी प्रकार, **"उसका सम्पूर्ण सौंदर्य काव्यात्मक है, धर्म-प्रचारात्मक नहीं"** (पृ० १२८)। और **"इतिहास, धार्मिक सिद्धान्त या किसी रूपक रूप का आरोप उसके प्रति अन्याय होगा। उसका सम्पूर्ण सौंदर्य काव्य का है"** (पृ० १३१) इत्यादि। लेखक ने इसके लिए एक प्रमुख कारण यह दिया है कि जायसी ने 'सम्पूर्ण पद्मावत में' 'अपने कवि होने का उल्लेख डंके की चोट पर' किया है तथा यह रचना **"कवि मुहम्मद जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।"** (पृ० २५ और १३१) और इसका समर्थन उसने, जायसी द्वारा अपने को कवि कहने से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पंक्तियों को उद्धृत करके किया है।

कहना न होगा कि लेखक ने अपने कथन पर कदाचित् आवश्यकता से अधिक बल दिया है, जिसके कारण उसकी भाषा कहीं-कहीं आदेशात्मक और आवेशपूर्ण भी हो गई है। कोई कवि यदि अपने प्रबन्ध-काव्य के पात्रों को ऐतिहासिक नाम देता है तथा उसके स्थल-विशेष वा घटना विशेष की चर्चा ऐतिहासिक तथ्य के अनुरूप करता दीख पड़ता है तो उसमें ऐतिहासिक बातों की संगति का पता लगाने वाला आलोचक हठात् अपराधी ही नहीं ठहराया जा सकता और न किसी आलोच्य ग्रन्थ में पाई गई अतैतिहासिकता के कारण उसका साहित्यिक मूल्य ही कम कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार 'पद्मावत' को सूफी धर्म के प्रचारार्थ निर्मित की गई रचना कह देने-मात्र से ही उसका महत्त्व, अनिवार्यतः, कम नहीं हो जाता। यह बात प्रायः निर्विवाद रूप में स्वीकार कर ली जाती है कि 'पद्मावत' की रचना, सूफी प्रेम-गाथाओं की उस परम्परा के ही अनुसार की गई है, जो जायसी के पूर्व से आरम्भ होकर, पीछे तक चली आई है। उन रचनाओं के कवियों ने एक विशिष्ट रचना-शैली का प्रयोग किया है तथा कभी-कभी उन्होंने उनकी प्रेम-कहानियों के 'रहस्य' का उद्घाटन तक किया है और यह भी स्पष्ट है कि स्वयं जायसी ने भी 'पद्मावत' के कई स्थलों पर उसकी कहानी पर अलौकिकता का रंग चढ़ाने की चेष्टा की है। ऐसी दशा में क्या इस बात की सम्भावना नहीं कि अपनी इस प्रेम-गाथा की रचना का उद्देश्य जायसी ने धर्म-प्रचार भी रखा होगा। यदि गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' उनके, 'स्वांतःसुखाय' निर्मित होते हुए भी, 'सुरसरि सम सब कँह हित', करने वाला बन सकता है तो 'जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति' वाले 'पद्मावत' के लिए भी हम क्यों नहीं कह सकते कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस सूफी साधक की ओर से दिये गए धार्मिक सन्देशों का वाहक भी होगा। इसके लिए उन्हें 'साम्प्रदायिकता' का प्रचार करने वाला भी ठहराना आवश्यक नहीं और न केवल इसीके कारण हम उनके काव्य-कौशल की उपेक्षा ही कर सकते हैं। यों तो, 'पद्मावत' की कतिपय पंक्तियों के आधार पर उन्हें कट्टर मुसलमान तक कह डालने का प्रयत्न किया जाता है और उनमें से दो निम्न लिखित हैं :

जगत वसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नाँउ ओहि लीन्हे॥
जेइ नहिं लीन्ह जरम सो नाऊँ। ताकहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ॥

लेखक की आवेशपूर्ण कथन-शैली के उदाहरण, इस पुस्तक के अन्तर्गत, कई अन्य स्थलों पर भी मिल सकते हैं। इसमें एक ही बात को अनेक जगहों पर, लगभग एक ही प्रकार के शब्दों में, दोहराया भी गया है; जिसे कदाचित् किसी विषय पर आवश्यकता से अधिक बल देना कहा जायगा, जैसे, पृष्ठ ११ पर 'सिंहलदीप पद्मिनी रानी' आदि 'पद्मावत' की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए, जो-कुछ कहा गया है उसका, उसी प्रकार एक बार फिर उद्धरण देकर, पृष्ठ २३ पर भी कथन किया गया है और इस वर्णन-शैली के अन्य कुछ उदाहरण, पृष्ठ १३८, १५९, १६२ आदि की तुलना करने पर भी, मिल सकेंगे। इसी प्रकार लेखक ने, पृष्ठ १९ और २१ पर, जो अमीर खुसरो की मसनवी 'दिवल रानी-खिज्र खाँ' की कथावस्तु को 'ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण' बतलाया है वह भी बहुत-कुछ भ्रमात्मक है। क्योंकि स्वयं खुसरो के ही अनुसार, **एक दासी ने लिखी हुई कहानी मुझे लाकर दी। मैंने विशेष परिश्रम से यह कहानी लिखी।**" मात्र पता चलता है (दे० 'ख० का० भारत' पृ० १७१)। इसके सिवाय लेखक का पृष्ठ १७७ पर यूसुफ को मजनूँ एवं फरहाद के सदृश, 'साधारण श्रेणी का नायक, बतलाना भी उचित नहीं प्रतीत होता। यूसुफ हजरत याकूब के प्रिय पुत्र थे और पीछे वे भी वन्दनीय नबी लोगों में ही गिने गए थे तथा उनकी कथा 'कुरानशरीफ' के १२वें पारे (सूरे यूसुफ) में पूरे विस्तार के साथ दी गई है। फिर पुस्तक के पृष्ठ १६ पर '१५४०' का '१९४०', पृ० ४५ पर 'साथ' का 'साख', पृ० १८० पर 'उदात्त' का 'उदास' और पृ० २२२ पर 'हिजानी' का 'हिसाबी' हो गया है; जो प्रेस की भूलों के कारण सम्भव है। किंतु जहाँ, 'कडवक' का परिचय देते समय "**अपभ्रंश के कवि अरिल्ल या यज्झटिका छन्द की कई पंक्तियाँ देने के पश्चात् ध्रुवक के रूप में एक द्विपंक्तिबद्ध छन्द दे दिया करते थे। इस पूरे शब्द को कड़वक कहते थे।**" (पृ० १६२)। कहा गया मिलता है वहाँ 'शब्द' शब्द को किसकी जगह छप गया मान लिया जाय, जल्दी स्पष्ट नहीं हो पाता।

फिर भी ऐसी त्रुटियाँ पुस्तक के मुख्य विषय 'पद्मावत' के काव्य-सौंदर्य-प्रदर्शन को सीधी प्रभावित करती नहीं जान पड़तीं। जो-कुछ अभीष्ट और प्रतिपाद्य है उसका वर्णन लेखक ने न केवल विस्तार के साथ, अपितु अच्छे ढंग से भी, किया है और यद्यपि उसके द्वारा सौंदर्य की दृष्टि से उद्धृत किये गए प्रत्येक उदाहरण के औचित्य के विषय में, सभी पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते तो भी इतना कहना सत्य से दूर न होगा कि इसमें उसे बहुत-कुछ सफलता मिली है।

'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य' नामक पुस्तक लखनऊ-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखित निबन्ध का प्रकाशित रूप है। इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय उन सूफी कवियों की रचनाओं का विशेष अध्ययन है, जिन्होंने जायसी के अनंतर, प्रेम-गाथाओं तथा स्फुट काव्यों के रूप में, लिखा था। जैसा इसके पहले कहा जा चुका है सूफियों की प्रेम-गाथा-परम्परा की ओर हमारा ध्यान, सर्वप्रथम, कदाचित् स्व० शुक्लजी ने आकृष्ट किया था और उन्होंने अपनी 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में पीछे ऐसी अनेक रचनाओं का कुछ-न-कुछ परिचय देने का भी प्रयत्न किया था। उन्होंने उस समय तक उपलब्ध सूफी-प्रेमाख्यानों के आधार पर शेख कुतबन की मृगावती (सन् १५०१ ई०) से लेकर शेख उसमान की 'चित्रावली' (सन् १६१३ ई०) तक का परिचय कुछ विस्तार के साथ दिया था और शेख नबी की रचना 'ज्ञान दीप' (सन् १६१९ ई०), कासिम शाह की 'हंसजवाहिर' (सन् १७३६ ई०), नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' (सन् १७४४ ई०) और फाजिल शाह की 'प्रेम रतन' की प्रायः चर्चा-मात्र ही कर दी थी तथा उसके साथ ही उन्होंने यह भी कथन कर दिया था कि **"शेख नबी से प्रेम-गाथा-परम्परा समाप्त समझनी चाहिए।"** परन्तु पीछे की गई खोजों के अनुसार जब ऐसी रचनाओं की संख्या में वृद्धि होती चली गई तो पता चला कि यह समय कवि नसीर के प्रेमाख्यान 'प्रेमदर्पण' (सन् १९१७ ई०) तक भी लाया जा सकता है और आलोच्य पुस्तक की लेखिका ने अपना प्रस्तुत निबन्ध, केवल ऐसी ही धारणा के आधार पर, तैयार किया है। इसके सिवाय इस पुस्तक की लेखिका ने इसमें अनेक ऐसी सूफी रचनाओं का भी एक अध्ययन सम्मिलित कर दिया है जिन्हें हम प्रेम-गाथा नाम नहीं दे सकते, किंतु जिन्हें सूफी कवियों की विचार-धारा अथवा मत समझने का हम एक बहुत उपयुक्त साधन ठहरा सकते हैं।

पुस्तक में दी गई 'विषय-सूची' के अनुसार इसमें पन्द्रह अध्याय हैं (यद्यपि मूल ग्रन्थ में भूल से अध्याय '३' की जगह '४' देकर फिर आगे भी उसकी क्रमिक संख्याएँ '१६' तक पहुँचा दी गई हैं) और, इस प्रकार, लेखिका ने वर्ण्य विषय को विविध खण्डों में विभाजित करके लिखा है। 'विषय-सूची' में फिर लगभग प्रत्येक खण्ड को, एक से अधिक विभिन्न प्रकरणों में भी विभाजित करके, दिखलाया गया है; किन्तु मूल ग्रन्थ के 'दशम अध्याय' तक ये सभी फिर नियमित रूप से दिये नहीं गए हैं और कहीं-कहीं पर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसको किस जगह से आरम्भ हुआ समझा जाय। 'षष्ठ अध्याय' में जो छः प्रकरणों के नाम, 'विषय सूची' में, लिखे हैं उनमें से तो कोई भी एक, मूल ग्रन्थ में शीर्षक बनकर, नहीं आ सका है। इसी प्रकार पुस्तक के शीर्षक वाले अंश 'हिन्दी सूफ़ी-कवि और काव्य' से जहाँ पता चलता है कि लेखिका ने उसके अन्तर्गत प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त स्फुट काव्यों की भी चर्चा की होगी वहाँ कतिपय अध्यायों के शीर्षकों से यह भ्रम होने लगता है कि 'सूफ़ी' एवं 'सूफी काव्य' शब्दों से कहीं उसका अभिप्राय केवल क्रमशः प्रेमाख्यानों के ही कवि एवं काव्य से न रहा हो। उदाहरण के लिए 'पंचम', 'षष्ठ', 'एकादश', 'द्वादश' एवं 'चतुर्दश' अध्यायों में वस्तुतः प्रेमाख्यान-साहित्य की ही चर्चा आई है, किन्तु उनके शीर्षकों के नाम अधिक व्यापक अर्थ वाले जान पड़ते हैं। इसके सिवाय 'त्रयोदश अध्याय' में जहाँ सूफ़ियों के स्फुट साहित्य का वर्णन किया गया है वहाँ वस्तुतः 'चतुर्थ अध्याय' के चौथे प्रकरण को ही अधिक विस्तार दे दिया गया जान पड़ता है और वह भी आलोचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक बनकर ही रह गया है। लेखिका को चाहिए था कि वह, सूफ़ी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों की उपलब्ध मुक्तक-रचनाओं के आधार पर भी, उनकी कवित्व-शक्ति के मूल्यांकन का प्रयत्न करती अथवा कम-से-कम उनकी विशेषताओं की ही समीक्षा करती ।

पुस्तक की रचना के उद्देश्य, उसके विषय-क्षेत्र की सीमा तथा उसमें दिये गए प्रकरणों की एक संक्षिप्त चर्चा पहले 'प्राक्कथन' में ही कर दी गई है। उससे पता चलता है कि लेखिका ने 'सूफ़ी-साहित्य की परम्परा के अध्ययन' को अपने निबन्ध का विषय बनाया है। इस प्रकार 'सूफी-काव्य' एवं 'सूफी-साहित्य' समानार्थक-से बन गए हैं, और कदाचित् इसी-लिए लेखिका ने पुस्तक के 'त्रयोदश अध्याय' का नामकरण भी 'सूफ़ियों का स्फुट साहित्य' रूप में किया है तथा उसमें सभी प्रकार के ग्रन्थों की चर्चा कर दी है। किन्तु यह भी, सम्भव है, कि लेखिका ने सूफ़ियों के स्फुट साहित्य में काव्यत्व का कोई उदाहरण ही न पाया हो। पुस्तक के 'पञ्चदश अध्याय' में, प्रत्यक्षतः, केवल सूफ़ी-प्रेम-गाथाओं का ही 'विशिष्ट अध्ययन' किया गया जान पड़ता है, किन्तु उसका शीर्षक 'प्रमुख कवि और काव्य' है। यहाँ पर भी लेखिका का प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत शाह वजफ़ अली सलोनी की रचना 'प्रेम चिनगारी' की चर्चा करना वैसा उपयुक्त नहीं जँचता। यदि लेखिका ने इसके अन्तर्गत मौलाना रूमी की दो मसनवियों के आ जाने के ही कारण इसे प्रेमाख्यान मान लिया हो तो उस दशा में या तो 'मसनवी' और 'प्रेमाख्यान' दोनों शब्द समानार्थक कहे जा सकते हैं अथवा 'प्रेमा-ख्यान' की ही कोई ऐसी व्यापक परिभाषा देनी पड़ सकती है जिसमें प्रेम-सम्बन्धी कोई भी प्रसंग सम्मिलित कर लिया जा सके। इसके सिवाय इस अध्याय के अन्तर्गत कतिपय ऐसे प्रेमाख्यानों की भी चर्चा आ गई है जिन्हें एक साथ ही 'सूफ़ी प्रेमाख्यान' भी कहना ठीक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'मोहिनी' (पृ० ३९९), 'नल दमयन्ती' (पृ० ४००-१), 'लैला मजनूँ' (पृ० ४०१-२), 'कलावती' (पृ० ४०२-३) आदि, जिनके विषय में स्वयं लेखिका ने भी यथास्थल संकेत कर दिया है। 'अज्ञात' कवि की 'कामरूप की कथा' की भी कम-से-कम यह एक विशेषता दीख पड़ती है कि उसमें दखिनी हिन्दी वाली ऐसी रचनाओं की भाँति फ़ारसी बहरों का प्रयोग किया गया है।

फिर भी जहाँ तक उपलब्ध सामग्री के अध्ययन तथा उसके आधार पर निबन्ध के प्रस्तुत करने का प्रश्न है लेखिका ने उसे बड़ी योग्यता के साथ पूरा किया है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में सूफ़ी मत के आविर्भाव एवं विकास का वर्णन करके, उसके द्वितीय अध्याय से, प्रायः सभी उल्लेखनीय बातों के समर्थन में, भरसक उद्धरण दिये गए हैं; जो प्रचुर मात्रा में हैं और जिनकी एक विशेषता यह है कि वे अधिकतर हिन्दी के सूफ़ी-कवियों की रचनाओं से ही लिये गए हैं। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में क्रमशः 'सूफ़ी दर्शन' एवं 'सूफ़ी-साधना' का परिचय केवल बाहरी ग्रन्थों के आधार पर भी दिया जा सकता था, किन्तु लेखिका ने उसके लिए प्रायः सभी प्रमाण अपने अध्ययन वाले प्रेमाख्यानों से ही, उद्धृत किये हैं। यदि यहाँ हिन्दी-सूफ़ी कवियों के फुटकर काव्य-ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया होता तो और भी उत्तम कहा जाता और वह कदाचित् अधिक उपयुक्त भी होता। लेखिका ने पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में प्रमुख सूफ़ी-कवियों की प्रबन्ध-रचनाओं का अध्ययन विशेष विस्तार के साथ उपस्थित किया है। वहाँ पर उसके प्रत्येक ऐसे कवि का, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ-न-कुछ परिचय दिया है, उसकी रचना में आई हुई कहानी का सारांश दे दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा फिर आगे, उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए, उन पर अपना एक आलोचनात्मक वक्तव्य भी जोड़ दिया है जिससे वर्ण्य विषय के मूल्यांकन में अच्छी सहायता मिल सकती है। पुस्तक का यह अध्याय स्वभावतः सबसे बड़ा हो गया है और इसके लिखने में विशेष परिश्रम भी किया गया दीख पड़ता है। जिस प्रकार यहाँ प्रबन्धात्मक रचनाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उस ढंग से यदि 'त्रयोदश अध्याय' के स्फुट साहित्य पर भी आलोचनात्मक विचार होता तो और भी अच्छा होता।

पुस्तक में, एकाध स्थलों पर, कुछ भ्रमात्मक बातें भी छप गई जान पड़ती हैं, जिनका संशोधन अपेक्षित है। उदाहरण के लिए पृ० १३५ पर शेख इब्राहीम फ़रीद को **'पन्द्रहवीं शताब्दी'** का **"सर्व प्रथमपंजाबी में लिखना आरम्भ'** करने वाला कहा गया है, पृ० १४१ पर उसका मृत्यु-संवत् "६१०" लिखा है तथा पृष्ठ ३०२ पर उसीके विषय में कहा गया है **"डॉ० मेकालिफ़ ने.....इनकी मृत्यु २१वीं रज्जब हिजरी १५६० अर्थात् सन् १५३ में निश्चित की है।"** परन्तु वास्तव में मेकालिफ़ ने अपनी पुस्तक 'दि सिखरिलिजन' (भा० ६) के पृ० ३५७-८ पर शेख फ़रीद की चर्चा करते समय, उसकी मृत्यु का, हिजरी सन् ९६० में होना कहा है, जो सन् १५५२-३ ई० अथवा सं० १६०९ में पड़ सकता है और पंजाबी साहित्य का इतिहास लिखने वालों में से कुछ ने बाबा फ़रीद शकरगंज (सन् ११७३-१२६५ ई०) के लिए (शेख इब्राहीम के लिए नहीं) कहा है कि वे **"लहन्दी में की गई कविता के सर्व प्रथम योग्य कवि वा लहन्दी-काव्य के पिता"** तक थे। इसी प्रकार पृ० ३५१ पर शेख उसमान की 'चित्रावली' का रचना-काल सन् १०२२ ई० और पृ० ४३१ पर कासिमशाह की रचना 'हंस जवाहिर' का निर्माण-काल 'सन् १७९३' मुद्रित हैं, जिन्हें क्रमशः 'सन् १०२२ हिजरी' तथा 'संवत् १७९३' होना चाहिए था। यह अशुद्धि कदाचित् प्रेस की भूल के कारण भी हो गई होगी।

'सूफ़ी मत : साधना और साहित्य' किसी परीक्षा के लिए लिखित निबन्ध वा थीसिस न होकर, एक स्वतन्त्र रूप से लिखा गया अध्ययन-ग्रन्थ है, जिसके विषय में उसके लेखक का कथन है कि उसने इसमें **"सहानुभूति और श्रद्धा लेकर" "सूफ़ियों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की है।"** जायसी-साहित्य को समझने के लिए लेखक ने **"सन् १९४९ ई० के प्रारम्भ में"** सूफ़ी मत का अध्ययन शुरू किया था और यह पुस्तक उसके उसी पठन-पाठन एवं चिन्तन का परिणाम-स्वरूप है। लेखक ने इसे १७ अध्यायों में समाप्त किया है, जिनमें से प्रथम पाँच द्वारा उसने इस्लाम एवं रहस्यवाद तथा संन्यास के साथ उसके सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन करके उसके अनन्तर अरब एवं ईरान की सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डाला है और फिर इस्लाम के विभिन्न सम्प्रदायों की भी चर्चा कर दी है, प्रकृत विषय इसके आगे वाले अध्यायों में आता है, जहाँ क्रमशः सूफ़ी-मत के आविर्भाव, उसके क्रमिक विकास तथा प्रारम्भिक सूफ़ी-साधकों का परिचय दिया गया मिलता है और तत्पश्चात् सूफ़ी-सिद्धान्त, सूफ़ियों के चरम लक्ष्य एवं साधक और साधना का वर्णन भी पाया जाता है। लेखक ने फिर यहीं पर, एक अध्याय में, सूफ़ी मत का अन्य धर्मों एवं मतों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया है और इसके आगे के चार अध्यायों में भारतवर्ष में सूफ़ी मत के प्रचार तथा यहाँ के विविध सूफ़ी सम्प्रदायों का विवरण देकर फिर अन्तिम अध्याय के अन्तर्गत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफ़ी-साहित्य की विशेषताओं की चर्चा करते हुए, कतिपय प्रसिद्ध सूफ़ी-कवियों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख भी कर दिया गया है।

इस प्रकार इस पुस्तक के अन्तर्गत प्रायः वे सभी बातें आ जाती हैं जिन पर प्रकाश डालना इसके लेखक का अभीष्ट था और उनसे भली भाँति अवगत कराने के उद्देश्य से, उसने, भूमिका रूप में, उन कतिपय विषयों की भी अवतारणा कर दी है जिनका पूर्व ज्ञान इसके लिए आवश्यक था। लेखक के अनुसार यह गलत होगा कि सूफ़ियों को किसी इस्लाम से पृथक् संगठित सम्प्रदाय विशेष का अंग माना जाय। वे मुस्लिम समाज के अन्तर्गत थे और इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों से अलग जाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे अपने सिद्धान्तों और क्रियाओं को 'कुरान' और 'हदीस' की दृष्टि से सदा परखा भी करते थे। किन्तु वे इन मान्य ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर उतना नहीं जाते जितना उनकी आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्याख्या का आधार ग्रहण करते थे। सूफ़ियों के सिद्धान्त बहुत-कुछ व्यक्तिगत आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित हैं जिस कारण उनके विभिन्न मत-मातान्तर तक हो गए हैं। यह अवश्य है कि, सूफ़ी मत के क्रमिक विकास की एक स्थिति विशेष में, बहुत-से सूफ़ी इस्लाम से पृथक् होकर सोचते भी जान पड़ते थे, किन्तु सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ने फिर उसे भली भाँति सँभाल लिया। सूफ़ीमत का प्रचार संसार के अनेक देशों में हुआ है और सूफ़ियों को विभिन्न मतवाद वालों के सम्पर्क में आने का अवसर भी मिलता रहा है। इस कारण अपने क्रमिक विकास की दशा में उसका दूसरों द्वारा किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होना भी अनिवार्य सा रहा है। लेखक ने इस सम्बन्ध में किये गए विभिन्न विद्वानों के अनुमानों का सप्रमाण उल्लेख किया है, और उनमें से प्रायः प्रत्येक की समीक्षा करते हुए भी, उनसे अपने को तटस्थ रखा है।

जहाँ तक सूफ़ी मत के प्रमुख सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने का प्रश्न है इस पुस्तक के लेखक ने, इस सम्बन्ध में भी, अच्छी सफलता पाई है। उसने प्रत्येक बात को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और इसके लिए न केवल उसने अवतरण दिये हैं, अपितु कहीं-कहीं आवश्यक प्रसंगों का भी उल्लेख कर दिया है। सूफ़ी-साधना के विविध अंगों को समझाने के लिए सूफ़ी साधकों के जीवन की प्रमुख घटनाओं का भी प्रासंगिक उल्लेख करते चलना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सूफ़ीमत की बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण पुस्तक के बारहवें अध्याय में भी किया गया है जहाँ इसे अन्य मतों से, विभिन्न दृष्टियों के अनुसार भिन्न ठहराते हुए भी, उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित हुआ भी बतलाया गया है तथा जहाँ पर संयोगवश हमें उनके दूसरे विविध रूपों का भी ज्ञान हो जाना सम्भव है। इस प्रकार लेखक के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है और इसका परिणाम भी गम्भीर एवं ज्ञानप्रद हो सकता है। परन्तु यहाँ पर हमारा ध्यान एक अभाव की ओर भी चला जाता है। लेखक को चाहिए था कि सूफ़ी-मत के सिद्धान्तों और साधना-सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन करते समय, कहीं-न-कहीं हमें उन विशेषताओं से भी अवगत कराता जो मूल सूफ़ीमत एवं उसके भारतीय विकसित रूप की तुलना करने पर निर्दिष्ट की जा सकती हैं तथा जो लेखक के वर्तमान अध्ययन की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण भी कही जा सकती हैं। पुस्तक के तेरहवें अध्याय में, 'भारतवर्ष में सूफ़ी मत का प्रवेश तथा भारतीय परिपार्श्व में सूफ़ी मत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा शीर्षक देकर भी, जितना ध्यान इस विषय के ऐतिहासिक परिचय की ओर दिया गया है उतना उसके सैद्धान्तिक प्रतिपादन अथवा उसकी विशेषताओं के स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया । लेखक का ध्यान इस ओर न जा सकने के ही कारण, कदाचित्, पुस्तक के अन्तिम अर्थात् सूफ़ी-साहित्य वाले अध्याय को भी बहुत-कुछ अधूरा ही रह जाना पड़ गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने यहाँ पर केवल फ़ारसी-काव्य की ही चर्चा की है और हिन्दी के प्रेमाख्यान अथवा ऐसे किसी अन्य साहित्य का नाम-मात्र तक नहीं लिया है। फिर भी उसे चाहिए था कि फ़ारसी सूफ़ी-साहित्य के नाते, कम-से-कम अमीर खुसरो-जैसे भारतीय कवियों तथा उनकी रचनाओं का भी कुछ अध्ययन प्रस्तुत कर देता।

पुस्तक के अन्त में दी गई 'सहायक ग्रन्थों की सूची' से पता चलता है कि उसने अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से सहायता ली है और यह बात इसके भीतर दिये गए विविध उपयुक्त उद्धरणों द्वारा भी प्रमाणित होती है, जिसके लिए लेखक का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। लेखक ने, उपलब्ध सामग्री के आधार पर, जो परिणाम निकाले हैं उन्हें उसने अधिकतर नपे-तुले शब्दों में ही व्यक्त किया है और वह उनके द्वारा अपने को कहीं पूर्ण प्रभावित सिद्ध करता भी नहीं जान पड़ता। उसकी भाषा बहुत स्पष्ट और संयत है तथा उसकी कथन-शैली में पर्याप्त सरलता के साथ रोचकता भी लक्षित होती है।

तीनों आलोच्य पुस्तकें सूफी मत एवं सूफ़ी साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन के पृथक्-पृथक् अंगों को उदाहृत करती हैं और ये, अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन करके मनोयोग पूर्वक लिखी गई तथा अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसार पूर्ण और पठनीय भी कही जा सकती हैं। इनकी त्रुटियाँ अधिकतर साधारण प्रकार की हैं और वे या तो बाहरी, प्रासंगिक अथवा प्रेस की भूलों के रूप में हैं, जिनके कारण इनके वास्तविक मूल्य में वैसी कमी नहीं आ सकती। इनके द्वारा सूफी मत एवं सूफी साहित्य के अध्ययन में निस्सन्देह श्री वृद्धि हुई है, जिस कारण इनके लेखक बधाई के पात्र हैं।[1]

शिव सहाय पाठक : 'पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य,' प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई।

डॉ० सरला शुक्ल : 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी-कवि और काव्य' प्रकाशक, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रामपूजन तिवारी : 'सूफ़ीमत : साधना और साहित्य' प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

जयवर्धन

: १ :

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार एक नवीन चेतना के प्रतीक हैं। इस नवीन चेतना में नए मूल्यों की शोध प्रबल है; और समग्र जीवन-चिन्ता को अग्रसर करना ही जैसे उपन्यास का धर्म बन गया है। जैनेन्द्र से पहले प्रेमचन्द तक का उपन्यास बहुत-कुछ वर्णनात्मक था और उसमें समाधान प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। प्रेमचन्द ने जहाँ कहानियों में वहाँ उपन्यासों में भी मध्यवर्ग, ग्राम और बदलते 'मानो' की नई समस्याओं को स्पर्श किया है, परन्तु उनकी साहित्य-चेतना संवेदनात्मक और कार्मिक थी, तात्विक नहीं। जैनेन्द्र मूलतः विचारक हैं। उन्हें विचारक-उपन्यासकार भी कहा जा सकता है। फलस्वरूप, उनके उपन्यासों में युग-चिन्तन का उत्कर्ष है, प्रश्न-ही-प्रश्न हैं, समाधान नहीं। वे जिज्ञासा को उभारते हैं और प्रश्न को खुला छोड़ देते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के अनुरूप ही उन्होंने अपने लिए नई उपन्यास-कला का भी निर्माण किया है। 'परख' से इस 'जयवर्द्धन' तक उनकी औपन्यासिक गतिविधि के लगभग तीन दशक हो जाते हैं। पिछले खेवे के उपन्यासकार जीवन-चित्रण में सक्षम थे और उनकी उपपत्तियाँ उपन्यास के अन्त में आती थीं और अधिकतः नीतिमूलक रहा करती थीं। जैनेन्द्र ने उलटी दिशा से आरम्भ किया; अर्थात् वे उपपत्तियों से जीवन-चित्रण की ओर बढ़े। कहा जा सकता है कि इससे उनके चरित्र दुर्बोध और रहस्यमय बन गए हैं और उन्हें किन्हीं अर्थों में प्राणवान नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र ने उन्हें जितना व्यक्तित्व देना चाहा है, उतना ही व्यक्तित्व उन्हें मिला है। अपने बल पर वे नहीं खड़े हैं। वे 'बहुत बेचारे' हैं। यही हाल घटना-चक्र का है। जो घटता है वह स्वाभाविक नहीं, अघटित है, उदाहरण-मात्र है; क्योंकि वह सिद्धान्त के भीतर से आता है, जीवन के भीतर से नहीं। इस प्रकार वस्तु-संघटन और चरित्र-चित्रण के योगायोग को तिलांजलि देकर जैनेन्द्र ने उपन्यास को जीवन-चक्र से मुक्ति दे दी है। इससे उसे तरलता भले ही मिली हो, और नई परम्परा का निर्माण वह भले ही कर सका हो, उसकी नई सीमाएँ भी स्थापित हुई हैं। जैनेन्द्र के लिए उपन्यास जीवन-प्रयोग नहीं, विचार-योग है। उसमें मन के दाव-पेंच हैं, न-पकड़ में आने वाले 'कुछ' को पकड़ में लाने का असफल प्रयत्न है, परन्तु स्वतन्त्र और प्राणवान जीवन-चेतना के अभाव में जीवन और कला का रस उनमें भरपूर नहीं मिलता। जैसे-जैसे जैनेन्द्र उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में आगे बढ़ते गए हैं, उनकी रूक्षता बढ़ती गई है, विचार हावी होते गए हैं और मनोविश्लेषण-शास्त्र की कुञ्जियाँ ही प्रधान हो गई हैं। अप्रत्याशित और अबूझ पर स्वस्थ कला का निर्माण असंभव प्रयत्न है। उपन्यास रस का मूल उत्स है मनुष्य का मानव-भाव, उसका संवेदनात्मक 'साहज्य'। यह सहज-रस जैनेन्द्र की परवर्ती रचनाओं में क्षीण होता गया है और 'सूत्र' प्रधानता पा गए हैं। 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह सक्षमता-अक्षमता साफ उभर आई है।

४४० पृष्ठों के इस बृहत्-काय उपन्यास में जैनेन्द्र ने हमें क्या दिया है? क्या कथा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या चरित्र ? क्या घात-प्रतिघात ? क्या मनुष्य की सहज-स्वाभाविक भाव-भूमि ? क्या विचार ? वह कौन-सी नवीनता है जिसे लेकर जैनेन्द्र 'जयवर्द्धन' को सार्थक कर सके हैं ? जयवर्द्धन की तरह ही क्या वे भी बद्ध नहीं हैं ? इस उपन्यास में उनका कलाचेता मन क्या खुला है और कहाँ खुला है ? ये कुछ प्रश्न हैं जो 'जयवर्द्धन' समाप्त करने पर मन में उठते हैं। स्वयं जैनेन्द्र को पृष्ठभूमि में रखकर ही इन प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

'जयवर्द्धन' की कथा को पहले लें। कथा दो स्तरों पर चलती है जिसमें एक राजनैतिक अथवा समष्टिगत है, दूसरा नितान्त व्यक्तिगत। एक का सम्बन्ध जयवर्द्धन के मन्त्री-पद-त्याग की समस्या से है और उन विचारों से है जो 'राज' को विकास का अन्तिम चरण नहीं मानते, भले ही वह लोक-तन्त्र हो, या कल्याण-राज, या राम-राज्य। यह द्वन्द्व विचार-क्षेत्र का द्वन्द्व है, जिसमें बाहर के कर्म-जगत् के राजनैतिक द्वन्द्व भी मिल गए हैं। राष्ट्रीय राजनीति की भूमि पर अनेक स्वार्थों एवं दलों के बीच जयवर्द्धन की स्थिति उलझती गई है और अन्त में उसे लगा है कि वह 'अपना' होना चाहता है तो उसे राज का त्याग आवश्यक है। फलस्वरूप वह मन्त्री-पद से अलग हो जाता है। एक प्रकार से यह उपन्यास जैनेन्द्र का दूसरा 'त्याग-पत्र' है और पहले 'त्याग-पत्र' की भाँति यहाँ भी नायक त्याग-पत्र देकर अपनी दुर्बलता को बहलाना ही चाहता है। जो हो, 'जयवर्द्धन' का आरम्भ दलीय स्वार्थों के संघर्ष से हुआ है और अन्त में जयवर्द्धन ने घोर विरोध से श्रान्त होकर पलायन का अहिंसक मार्ग ग्रहण किया है। समाधान है कि 'जयवर्द्धन' भारत की राजनीति में से निकल गए हैं। विरोधी दलों के नेता हैं आचार्य, स्वामी चिदानन्द, नाथ और लिज़ा तथा इन्द्रमोहन। आचार्य गांधीवादी हैं, स्वामी चिदानन्द भारतीयतावादी या प्रतिक्रियावादी, नाथ और लिज़ा चिदानन्द के विरोधी और अग्रगामी, इन्द्रमोहन हिंसाकर्मी व्यक्तिवादी। इस प्रकार जयवर्द्धन किसी भी दल में न बँधकर सबके लिए संकट बन गया है और उसे घेरकर पक्ष-विपक्ष स्थापित हो गए हैं। आचार्य जयवर्द्धन के प्रति विश्वस्त हैं, अतः उन्होंने ढील दे रखी है, परन्तु स्वामी चिदानन्द उन्हें अनैतिक समझते हैं और भारत के शीर्ष-पुरुष को वे अधर्मी के रूप में देखना नहीं चाहते। नाथ और लिज़ा इस प्रतिक्रियावाद के विरोधी हैं, परन्तु शासन-तन्त्र के क्षेत्र में वे लोकवाद से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं। इन्द्रमोहन आतंकवादी है, परन्तु जयवर्द्धन को वह दूर तक सहन कर सकता है। इस प्रकार राजनीति में कूट-चक्र की स्थापना हो जाती है, जो जयवर्द्धन को झकझोरकर उसे त्याग के लिए मजबूर करती है।

कथा की दूसरी भूमि व्यक्तिगत है जो जयवर्द्धन-इला के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता-अवैधता को लेकर चलती है। वास्तव में राजनैतिक द्वन्द्वों के साथ-साथ और मूल में प्रेम-चक्र ही हैं और सम्भवतः काममूलक निरोध ही राजनीति का द्वन्द्व बन गया है। इला आचार्य की कन्या है, जो माता के अभाव में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में पली है। बीस-बाईस वर्ष पहले स्वामी जी के आश्रम में ही पहली बार जयवर्द्धन का इला से परिचय हुआ था और उसकी स्मृतियाँ उसमें अब भी उसी तीव्रता से सजग हैं। स्वामी चिदानन्द के इला-सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्व से हम परिचित नहीं हैं, परन्तु उनका अतिनैतिक मन कदाचित् निरोधमूलक ही है। वे अपने से न लड़कर जयवर्द्धन पर रुष्ट हैं कि इला अविवाहित होकर भी उसके साथ रहती है। वे समझते हैं कि इला या जय को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त नहीं है, अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कि इला उनसे भागेगी नहीं। परन्तु अब अन्त में जयवर्द्धन और इला को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त हो जाता है और स्वयं जयवर्द्धन उनके अन्तर्मन को उनके सामने खोलकर रख देता है तो वे तरल हो जाते हैं और आशीर्वादात्मक बन जाते हैं।

रहे नाथ और लिज़ा। इनमें सूत्र-संचालन लिज़ा का ही है। वह भारत की राष्ट्रीयता को अपनाकर देश-सेविका बन जाती है और स्वामी चिदानन्द के विरोध में 'जय'-पक्षी दल की नेत्री है, परन्तु धीरे-धीरे वह श्रीनाथ से दूर भी होती जाती है और जय के पास आती जाती है। राज्य-सत्ता के प्रति उसमें तीव्र आकर्षण है और व्यक्ति जय नहीं, मन्त्री जय उसका लक्ष्य है। जय के मन में उसे लेकर संघर्ष उठा है, परन्तु वह स्वयं इला के बन्धन में बँधा है। आकर्षण और विकर्षक का यह द्वन्द्व लिज़ा के द्वैधपूर्ण, मुखर और तेजस्वी चरित्र को इला की अपेक्षा अधिक आकर्षक बना देता है। इला सतवन्ती है, सीता है, परन्तु कदाचित् इसीसे उसमें मानवीय तत्त्वों की कमी हो गई है। वह त्याग, तपस्या, औदार्य, प्रेम और बलिदान की प्रतिमूर्त्ति है। उसका प्रेयसी-रूप उसके मातृत्व-रूप के नीचे दब गया है। वह जय को सम्पूर्ण रूप से अपने ऊपर ओढ़ लेना चाहती है। यही जैसे उसके नारी-जीवन की सार्थकता हो। उसे लिज़ा से द्वेष नहीं है। वह जयवर्द्धन को व्यक्ति-रूप में पाना चाहती है, राजपति-रूप में नहीं। जयवर्द्धन का विश्वास वह प्राप्त कर सकी है, जो अन्त तक बना रहता है। यही उसका सम्बल है। उपन्यास के अन्त में जयवर्द्धन उसे भी छोड़कर चला जाता है, परन्तु इससे जयवर्द्धन ही छोटा होता है, इला का तप और भी चमक उठता है।

इन्द्रमोहन का भी इला के प्रति आकर्षण है और कदाचित् इला के ही नाते जयवर्द्धन उसे प्रिय रहा है। परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में निश्चित सूत्र उद्घटित नहीं करता। जो हो, यह स्पष्ट है कि उपन्यास का केन्द्र जयवर्द्धन में नहीं है, इला में है; क्योंकि उसीको लेकर सभी प्रमुख पात्रों में मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि हुई है और उनके मोचन पर ही कथा को परिणति प्राप्त हो सकी है। आचार्य पिता हैं, इसीसे जयवर्द्धन के प्रति उनका राजनैतिक अथवा दलीय विरोध कठिन होता हुआ भी गल गया है। ऊपर से भले ही उनके लिए इला त्याज्या हो, परन्तु उनका कारावास इला और जय से उन्हें बचाने वाला कवच ही सिद्ध होता है। स्वयं जय इस बात को जानता है और इसीसे बन्दी आचार्य उसके लिए सह्य ही नहीं, वरेण्य भी हैं। समानान्तर सन्दर्भ में यही स्थिति स्वामी जी की भी है। अन्तर यह है कि वे पिता नहीं हैं, प्रेमी हैं और अपने को वरेण्य समझते हैं। फलतः उनका आक्रोश इला पर कम है, जयवर्द्धन पर वे फूट पड़े हैं। इस प्रकार त्रिकोण नहीं, षट्कोण की सृष्टि हुई है और सुलझाव यदि कोई दिखलाई देता है तो यही कि जयवर्द्धन पद से हट जाय और इला से विवाह कर ले। इससे उसके लिए निजत्व-लाभ सम्भव हो सकेगा। परन्तु इन्द्रमोहन उग्र है और इतनी दूर तक जाने के लिए वह तैयार नहीं है; क्योंकि पद-च्युत जय उसकी माप से छोटा हो जाता है। वह जय को इला के त्याग पर तैयार करता है, जिससे वह बलिदानी हो और उसका बड़प्पन बचा रहे।

समस्त ग्रन्थ में कथा और विचार के ताने-बाने इन दो भूमियों को छूते हुए उलझे-उलझे चलते हैं; क्योंकि कोई भी पात्र अपने अन्तर्मन को स्वीकार करना नहीं चाहता। फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि विचार रोचक होते हुए भी बोझिल हैं और कथा के सूत्र अन्त तक जुड़ नहीं पाते। जैनेन्द्र सर्वज्ञ कथाकार नहीं बनना चाहते। इसीसे कथा स्वयं जितना खोलती है उतना ही वे मान लेते हैं। यह उनकी औपन्यासिक मुद्रा है। इस मुद्रा में आधुनिकता अवश्य है और मनोविश्लेषण-शास्त्र की नई मान्यताओं का समर्थन भी है, परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे हिन्दी-उपन्यास कोई महती शक्ति बन सका है। निस्सन्देह नए उपन्यास में रस की हानि ही हुई है। उसमें शिल्प, मनोविज्ञान एवं जीवन की नई गति-विधियाँ अवश्य हैं, परन्तु ये सब मिलकर भी न जीवन की समग्रता का स्थान ले सकती हैं, न औपन्यासिक रस, चरित्रों एवं घटनाओं के योगायोग की पूर्त्ति कर सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जयवर्द्धन का विचार-पक्ष प्रबल है, उसमें राजनैतिक भविष्य-चिन्तन है, या कहिये मनःकल्प (युटोपिया)। ५०-६० वर्षों बाद लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था भी अपूर्ण सिद्ध होगी और राज्य विकेन्द्रित तथा लोकधर्मी बनकर समाप्त हो जाना चाहेंगे। जयवर्द्धन का राजनैतिक व्यक्तित्व और राष्ट्रगत चिन्तन इसी नई स्वप्न-भूमि का उन्मोचन है। इस प्रकार उपन्यास की राजनैतिक समस्या निबन्धनीय है, उसे औपन्यासिक बनाना कहाँ तक उचित रहा है, यह कहना कठिन है। राजनैतिक 'थीसिस' को उपन्यास की रस-भूमि कैसे मिल सकती? फलतः चरित्र-भूमियाँ अस्पष्ट और वायवी हैं तथा कथा दीर्घसूत्री एवं जटिल है। वह कर्तृत्व में नहीं है, तर्क में है। तर्क ऊपर-ऊपर तिरता है, प्राणों को नहीं छूता। इसीसे 'जयवर्द्धन' यदि संवेदनीय नहीं है तो उसके लिए हम जैनेन्द्र को दोषी नहीं ठहरा सकते। उनकी औपन्यासिक गति-विधि इसी परिणति की सूचक है। एक तरह से वे अपनी विचारणा की बन्द गलियों में पहुँच गए हैं। जीवन के प्रति तारुण्यमयी, कुतूहली लालसा उनमें नहीं रही है। वे ताने-बाने उलझाते हैं कि सुलझाने पर वे अपूर्व लगें, परन्तु पाठकों के पल्ले गाँठें ही अधिक पड़ती हैं; क्योंकि जहाँ उलझन-चमत्कार है, वहाँ खुले मन का सौन्दर्य और रस कहाँ मिलेगा। ये सीमाएँ हैं, जो जैनेन्द्र को अपूर्व बनाती हुई भी उनकी जीवन-दृष्टि और कला-चेतना को बद्ध, रुग्ण और दांभिक बनाती हैं। यह अवश्य है कि इस पर भी वे अपने पात्रों की तरह ही निजी, आत्मिक और संग्रहणीय बन सके हैं। इसीमें उनकी ऐतिहासिकता भी है।

: २ :

'जयवर्द्धन' के आरम्भ में लेखक की कुछ पंक्तियों की जो फोटोस्टेट प्रतिलिपि छपी है, उसमें उन्होंने यह शंका प्रकट की है कि 'कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा'। उपन्यास द्रष्टा पात्र की डायरी के रूप में है, परन्तु लेखक यह मानता है कि रचना को 'विधिवत् उपन्यास' का रूप नहीं मिल सका है। इस कमी को वह प्रार्थनीय नहीं समझता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'जयवर्द्धन' को लेकर यह शंका बराबर मन में उठती रहेगी कि उसमें श्रेणीगत क्या है,—जीवनी, आत्म-कथा, उपन्यास, निबंध; इनमें वह क्या है जो 'जयवर्द्धन' नाम पा गया है। गद्य-साहित्य में ये अलग-अलग श्रेणियाँ हैं, कोटियाँ हैं, परन्तु इनकी सीमारेखाएँ निश्चित नहीं हो सकी हैं। जिसको 'विधिवत् उपन्यास' कहा जा सकता है, उसके पीछे निबंधों की प्रेरणा रही है और प्रारम्भिक उपन्यास समाज-व्यवहार-सम्बन्धी रोचक निबन्ध ही कहे जा सकते हैं। बाद में उपन्यास ने आत्मकथा की शैली भी अपनाई और अंततः चरित्र तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना-प्रवाह के वस्तुमत्तात्मक योगायोग को उपन्यास कहा गया। यह योगायोग भी किसी एक 'सूत्र' में बद्ध नहीं हो सका; क्योंकि न घटनाओं की अथ-इति है, न चरित्रों की। एक ओर एक हजार पृष्ठों का टाल्स्टाय का 'वार एण्ड पीस' उपन्यास है, दूसरी ओर ऐन्द्रे जीद की छोटी-सी रचना 'स्ट्रेट इज द गेट'। फलतः सुबद्ध और निर्बन्ध उपन्यास का विभाजन सामने आया और धीरे-धीरे उपन्यास को व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की जीवनी मान लिया गया। प्रेमचन्द ने यह घोषित किया कि भविष्य का उपन्यास 'जीवनी' होगा और जीवनी भी सामान्य नर-नारी की रहेगी। इस प्रकार उपन्यास विश्रृंखल एवं भिन्न-सूत्री तत्त्वों से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक एक निश्चित व्यक्तित्व की उपलब्धि कर सका और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों के समाप्त होते-होते उसका स्वरूप पर्याप्त निखर गया। परन्तु इसी समय के लगभग मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यास समग्र जीवन का चितेरा न रहकर अन्तर्मन का अन्वेषक बन गया। नए शिल्प-विधानों की आवश्यकता हुई और अंतर्मन को उद्घाटित करने के लिए पत्र, डायरी, वक्तव्य, अनेकपात्री संवेदनाओं या एक ही पात्र की अनेकसूची संवेदनाओं का सहारा लिया गया है। ये विधियाँ जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में अपनाई हैं और इन्हींके द्वारा उनकी रचनाएँ अंतरंगी और विचारगर्भित बन सकी हैं। जहाँ तक 'जयवर्द्धन' के शिल्प-पक्ष का प्रश्न है, वह जैनेन्द्र के मंतव्य के अनुरूप ही है। अमेरिकन पत्रकार श्री विलवर हूस्टन की २१ फरवरी २००७ संवत् से १० अप्रैल २००७ संवत् तक की डायरी के पृष्ठों का विस्तार ही उपन्यास परिकल्पित है। आलेख तथ्यगत है, परन्तु सत्य को उभारने के लिए कहीं-कहीं उसे कल्पना की मांसलता भी दी गई है, यद्यपि ऐसे प्रसंग कम आए हैं और वे उपन्यास की नीरसता को कम नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप डायरी का आलेख हिसाबी अधिक हो गया है और उसमें जीवन की दीर्घसूत्रता और व्यर्थता इतनी व्यापी है कि औपन्यासिक रस परिपक्वता नहीं पा सका है। 'जयवर्द्धन' विवरणात्मक उपन्यास है, यद्यपि विवरण मन का है, अंतरंगी है, तार्किक है। उसके पात्र आयु और कर्म दोनों में तारुण्य का अतिक्रमण कर चुके हैं। अतः उनके व्यवहार, चिन्तन और आदान-प्रदान संवेदनीय नहीं हैं। वे जैसे अपना जीवन जी चुके हैं या भीतर से चुक चुके हैं। ऐसे निःशेष पात्रों को लेकर क्या जीवन के साथ न्याय किया जा सकता है, या किया जा सका है? माना कि जगत् व्यावहारिक है, औपन्यासिक नहीं है; उसमें वह भी है जो निःशेष है और बैसाखी के बल पर चलता है, परन्तु उपन्यास में हम जीवन की यथातथ्यता नहीं चाहते, अनुरूपता चाहते हैं। यह अनुरूपता भी साहित्य-कोटि की हो, संवेदनमयी हो और संवेदनीय हो। यही 'जयवर्द्धन' की न्यूनता है। उपन्यास के पृष्ठों पर उतरने से पहले ही उसके पात्र जीवन जी चुकते हैं और अब उनके संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व पुरातन स्मृतियों तथा संकल्प-विकल्पों पर चलते हैं। वे एक महान् राष्ट्र की उत्तुंग ऊँचाइयों पर टिके रहते हैं, परन्तु उनके सुख-दुःख राष्ट्र के सुख-दुःख नहीं बन पाते। इसका फल यह होता है कि पात्रों की अंतरंगी और बहिरंगी दुनियाएँ दूर पड़ जाती हैं और उनके किसी भी प्रकार का गठबंधन संभव नहीं। पाठक के लिए यह ऊँचाई अबूझी है। वह चमत्कृति दे सकती है, रस-विभोर नहीं कर सकती। इस ऊँचाई पर न पात्रों में चरित्र का वेग रह सकता है, न घटना की तीव्रता ही अक्षुण्ण रह सकती है। सब-कुछ किताबी बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। जीवन छूट जाता है, 'मुद्रा' हाथ लगती है। 'जयवर्द्धन' में यही हुआ है।

परन्तु क्या हम इसके लिए जैनेन्द्र से शिकायत करें ? उनकी औपन्यासिक गतिविधि जानते हुए और उपन्यास के विकास की व्यापक प्रगति से परिचित होते हुए यह कहा जा सकता है कि 'जयवर्द्धन' जैनेन्द्र के अनुरूप ही हुआ है। उसमें जैनेन्द्र की तार्किकता है, सूक्ष्म आलेखन है, भाषा-वैदग्ध्य है, इन्द्रजाली वैचारिकता है, परन्तु न कथा की सरसता है, न कला की रंगीनी। बीते दिनों की स्मृति में इला द्वारा कुछ अश्रु-गीली रेखाएँ अवश्य भरी गई हैं और हूस्टन के प्रति लिजा के अप्रत्यागत, अप्रतिरोधित विस्मरण-प्रसंग में जैनेन्द्रीय भाव-स्फिोट की सरस पुनरुक्ति भी हुई है, परन्तु तर्क के मरु में ये भावुक क्षण न जाने कहाँ खो जाते हैं और कथा के टूटे धागे जोड़े नहीं जुड़ते। जैनेन्द्र अल्पसूत्री कथा को मनःविश्लेषणात्मक ऊहापोह के द्वारा अकल्पित दीर्घता दे देते हैं और धुँधली चरित्रभूमियों पर त्याग और बलिदान की तीव्र अनुभूति देना चाहते हैं। इसीसे जो स्वल्प मिलता है वह हृदय को तुष्ट नहीं कर पाता। उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में यह अतिवाद की सीमा तक नहीं पहुँचा था, क्योंकि कथा सरस हो और चरित्र विशिष्ट हों, इस पर उनकी आँख बराबर थी। परन्तु 'जयवर्द्धन' में एक-मात्र 'तथ्य' देने का आग्रह होने के कारण जीवन का 'सत्य' उनके हाथ से छन गया है, क्योंकि सत्य तथ्य को सरस और अनुभूतिपरक बनाकर ही सार्थक है। मात्र तथ्य-मात्र सत्य उपन्यासकार का उपजीव्य नहीं है, वह सुन्दरं हो, शिवं हो। 'जयवर्द्धन' में सुन्दरं कहाँ है, शिवं कहाँ है ? जैनेन्द्र कहेंगे कि सुन्दर और शिव सत्य में ही लीन हो गए हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कलाकार को क्यों चिन्ता हो। परन्तु फिर विचारक और कलाकार में अंतर कहाँ रह गया ? या जो निबंधनीय है, उसे 'उपन्यास' में क्यों बाँधा गया।

जो हो, यह स्पष्ट है कि इस रचना में जैनेन्द्र जहाँ तार्किकता और विचार-गुम्फन में अद्वितीय सिद्ध हुए हैं, वहाँ घटनाओं और पात्रों में उन्होंने जगह-जगह इतनी रिक्तता छोड़ी है कि वह पाठकों की ओर से भरी ही नहीं जा सकती। यह निश्चय ही कलाकार की पराजय है। इसमें व्यंजना की अस्वीकृति नहीं है, परन्तु श्रेष्ठ कला का व्यंग्य कलाकार की प्राणवान कल्पना के द्वारा रिक्त भरता चलता है। 'जयवर्द्धन' में बड़ी-बड़ी दरारें हैं जो भरी नहीं जा सकी हैं और जिनके पीछे से नैपथ्य का स्वाँग दुर्ग्राह्य बन गया है। परन्तु लिखा जाकर 'जयवर्द्धन आज इतिहास है और वह जहाँ हिन्दी-उपन्यास के आगे प्रश्नचिह्न लगा रहा है, वहाँ उपन्यास के पाठकों के लिए एक बड़ी चुनौती भी है। पता नहीं कि स्वयं जैनेन्द्र को यह विषम स्थिति वांछनीय होगी या नहीं; क्योंकि अस्वीकार पर किसी महान् साहित्य की रचना आज भी असंभव है और भविष्यत् युगों में भी असम्भव रहेगी।

: ३ :

आधुनिक पश्चिमी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र ने जीवन के नैरंतरिक प्रवाह को उपन्यास की चहारदीवारी के भीतर बाँधना चाहा है। यह प्रवाह तरल और सतत परिवर्तनशील है, 'फ्लक्स' है; अतः उसे घटनाओं, चरित्रों और शब्दों में बाँधना कठिन है। बाँधकर जीवन से बड़ी कोई सार्थकता उसे उपन्यासकार दे सकेगा, इसमें भी लेखक का विश्वास नहीं है। उसे जीवन ही चाहिए, कोरा जीवन; अप्रतिरोधित-अप्रत्याशित जीवन; जो बहुत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ अन्तर्मन में सीमित है और रेत की तरह उँगलियों में से छन जाता है। 'जयवर्द्धन' में दैनन्दिनी वाली शिल्प-विधि को ग्रहण करके लेखक ने जीवन का उतना ही देना चाहा है जितना विलवर हूस्टन के पल्ले पड़ सका है और कोई अपने को हूस्टन पर कितना खोलता ? जय, इला, आचार्य, स्वामी, इन्द्रमोहन, नाथ और लिज़ा सभी 'बद्ध' हैं, आत्मतुष्ट हैं, संकोची हैं। हूस्टन को जितना भी मिलता है, उतना वह दे देता है, अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि और तर्क-शक्ति से अपनी उपलब्धियों की भी सींवन उधेड़कर देखता है। परन्तु जब इतने से भी काम नहीं चलता तो उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में सर्वज्ञ उपन्यासकार का कर्तृत्व उसे स्वीकार करना पड़ता है। वह सिनेमा-शिल्प अथवा चक्र-मंच की विधि का उपयोग करता है और एक ही क्षण अथवा अनेक व्यक्तियों की एक ही प्रश्न-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को देने के लिए कल्पना का उपयोग करता है। यह वह जानता है कि इसमें तटस्थ, निर्विशेष कलाकार की अक्षमता है, परन्तु सत्य की तथ्यगत एवं आन्तरिक उपलब्धि की भी अपनी सीमाएँ हैं। अन्त में लेखक का कहना है : **"ये चित्र मैंने अपनी कल्पना से लिये हैं। फिर भी कल्पना निराधार नहीं है, संग्रहीत जानकारी के बल पर बढ़ती है। और उपाय उस ब्यूह और वेग को पकड़ने का है नहीं जिसमें से घटनाएँ विस्फोट की ओर बढ़ती चली गईं। किसी प्रकार रुक ही नहीं सकीं।।"** (पृ० ४१८) परन्तु जीवन की बहिर्गति (घटनाओं) के प्रति अविश्वास बीच में आ जाता है और जो घटा वह अबूझा ही बना रहता है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता पाठक को घटनाओं से उबारती नहीं, उसे त्रस्त कर देती है। वे कहते हैं : **"इस स्तब्ध अथाह के बीच घटनाएँ क्या हैं.....विचित्र लगता है, किन्तु उन्हीं में हम व्यस्त हैं।..... क्या उपलब्धि अपने भीतर इस अथाह और निस्तब्ध की अनुभूति ही है, महाशून्य में अपनी परमशून्यता की उपलब्धि। स्यात् वही है। वही, और मैं न सोचूँगा, केवल सोऊँगा।"** इस विचारणा में जीवन के प्रति उपन्यासकार की ज़िम्मेदारी का निर्वाह नहीं हो पाता और आलाप-संगति के स्थान पर झाले की निरर्थक कटुता ही पल्ले पड़ती है। सच तो यह है कि अस्तित्ववादी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र भी अपनी मान्यताओं में चक्कर लगाते थक गए हैं और अपने उपन्यासों पर सिद्धान्त की दाम-परची लगाकर उन्होंने अपने जीवन-बोध के प्रति अन्याय ही किया है; क्योंकि जीवन सिद्धान्त से बड़ा है और परे है। बालज़ाक, दोस्तोवस्की, टाल्स्टाय और प्रेमचन्द नैतिक और सामाजिक ध्येयों को लेकर कथा लिखते हैं, परन्तु ये सूक्ष्म ध्येय उनकी कथा से निष्कर्षित किये जा सकते हैं और उन्हें पीछे डालकर कथा और चरित्र-चित्रण का रसास्वादन भी किया जा सकता है। परन्तु जैनेन्द्र दार्शनिक धारणाओं को अपनी रचनाओं का अनिवार्य तत्त्व बना लेते हैं और विचारक कथाकार पर हावी रहता है। यह स्थिति शोचनीय रहती है और इसीसे 'जयवर्द्धन' को सुरूपता के स्थान पर विद्रूपता मिली है। पुराने उपन्यास में तर्कबद्धता और एकान्विति का आग्रह था और पहले कुछ पृष्ठों में ही नायक के चरित्र और मनस्तत्त्व से हम सुपरिचित हो जाते हैं। उसकी मूल-बद्ध वासना का हमें पता चल जाता है। यह वासना प्रच्छन्न भी हो सकती है और अतिरिक्त भी बन सकती है। नये परिवेश एवं नये पात्रों के घात-प्रतिघात से नायक का अभिध्येय प्रभावित अवश्य होता है, परन्तु उपन्यासकार इस परिवर्तन की कुञ्जी हमारे हाथ में धर देता है। 'जयवर्द्धन' में पात्रों की चरित्रगत ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए जैनेन्द्र को यह परम्परित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया अपनानी पड़ी है, परन्तु वे इतनी दूर तक असूत्र बढ़ते जाते हैं कि पाठक आशंकित हो जाता है और सब-कुछ आकस्मिक लगने लगता है। एक सीमा तक अस्तित्ववादी उपन्यास में भी यह कठिनाई सामने आती है, परन्तु जहाँ अस्तित्ववादी नायक अप्रत्याशित है, क्योंकि वह शून्य पट से आरम्भ करता है और कर्म में स्वतन्त्र है, वहाँ जैनेन्द्रीय नायक इतना सिद्धान्तबद्ध है कि उसकी कर्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है और वह विस्फोटित ही हो सकता है। उसके इस विस्फोट को समझने के लिए कई भूमियों पर निरन्तर 'फ्लैश-बैक' की योजना रहती है, और जब अन्य पात्रों में भी इसी कोटि की अप्रत्याशिता और इसी प्रकार का समाधान रहता है तो एक इन्द्रजाल ही बुन जाता है। 'जयवर्द्धन' में काम-ग्रन्थियाँ राजनैतिक ग्रन्थियों में परिणत हो गई हैं और इसीलिए राजनैतिक समस्या का हल व्यक्तिगत भूमि पर होता है। अर्थात् जयवर्द्धन की च्युति ही पात्रों को उबारती है। फलतः जयवर्द्धन का त्याग महोद्देशीय बलिदान नहीं बनता, वह मन का दुर्बल समझौता-मात्र रहता है। इला से भागकर क्या जयवर्द्धन स्वयं अपने से नहीं भाग रहा है? इसमें सन्देह नहीं कि 'जयवर्द्धन' में मानस-शास्त्र का सम्पूर्ण उपयोग हुआ है और पात्रों के कार्य-कलाप अतःप्रेरित हैं, परन्तु इससे पात्रों को वही होना पड़ा है जो जैनेन्द्र ने उन्हें होने दिया है। उन्होंने भाव-जगत् की एकता को तिलाञ्जलि दे दी है और भौतिक जगत् की यथार्थता का आभास देने के लिए विभिन्न घटनाओं अथवा एक ही घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को एक ही अध्याय सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। इससे विवेच्य में नयापन अवश्य आया है, वह कुछ आकर्षक भी बन सका है, परन्तु उपन्यासकार की शताब्दि-अर्जित सुबद्धता और परिपूर्णता पर आघात हुआ है। प्रेमचन्द तक कथा में मानव-मन की अन्तर्विधियों की खोज चली है और उपन्यासकार ने यथार्थ जगत् की विविधता में भाव-जगत् की एकरूपता का सर्जन किया है और फलस्वरूप मानवीय आचरण के नियमों का उद्घाटन हुआ है। परन्तु नया उपन्यास (जिसके प्रतिनिधि जैनेन्द्र हैं) प्रज्ञा के प्रति अनास्थी है और जीवन की दुर्बोधता तथा उलझन को उसने उभारा ही है, कम नहीं किया है। इसे हम उपलब्धि समझें या क्या? माना! जीवन अबूझ है, परन्तु अबूझता में रस कहाँ है और उपन्यासकार अबूझ देना चाहेगा तो रसोपलब्धि का क्या होगा? नये उपन्यास में जिस निर्वैयक्तिकता का आग्रह है, वह भाषा की एकतानता, सामान्यता तथा वर्णनों के अभाव में परिलक्षित है; क्योंकि मर्मभेद में वर्णन कहाँ सहायक हो सकेंगे। इसीसे नया उपन्यास कैफे, होटल या घर के सामान्य कक्ष तक सिमट गया है; जिसमें परिवेश की विचित्रता अनिवार्य नहीं रह जाती। फल यह हुआ है कि जीवन की विकृति, खण्डता और विच्छिन्नता ही नये उपन्यासकार का धर्म बन गई है और उसने कला को कैमरा बना दिया है। परन्तु कैमरा भी यथार्थ की समग्रता नहीं दे सकता। उसके लिए भी सीमा-निर्धारण और दृष्टिकोण आवश्यक है तथा प्रत्येक दृष्टिकोण के पीछे 'मूल्य' की समस्या है। जैनेन्द्र के चरित्र उनके मूल्यों में बँधकर ही सामने आते हैं और उनकी कथा उनके जीवन-दर्शन की विकृति-मात्र बन जाती है; 'जयवर्द्धन' इसका प्रमाण है।

पीछे हमने कहा है कि 'जयवर्द्धन' निबन्धनीय था, उपन्यासकीय नहीं। वास्तव में इस में उपन्यासकीय तत्त्व क्षीण हैं; और जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती उपन्यासों की पुनरावृत्ति ही उनमें हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक जीवन की वैचारिक भूमि इतनी त्वरापूर्ण और जटिल है, उसका उत्तर इतना व्युत्पन्न और समीपी होना चाहिए कि उपन्यास को सूर्यनमस्कार करना पड़ रहा है और इस प्रक्रिया में उसका कलेवर क्षीण और निस्तेज होता जा रहा है। इससे उसका स्वास्थ्य बढ़ा है यह अभी नहीं कहा जा सकता। पश्चिम में सार्त्र, कमस, मारिया और आइमे-जैसे उपन्यास-कार उपन्यास को छोड़कर नाटक, निबन्ध, लेख और वार्ता की ओर झुके हैं। यह कदाचित् इस अणु-युग की दुर्निवार्यता है कि उत्तर तुरन्त मिले और कला प्रयोगी, प्रगतिशील तथा ससंभ्रम हो, परन्तु नूतन और उत्तेजन के प्रति यह आग्रह क्या नये उपन्यास के बस की बात है, या इस क्षेत्र में उसकी अग्रगामिता सदैव बनी रहेगी? 'जयवर्द्धन' ऐसे ही अनेक प्रश्न उठाता है जो पश्चिमी साहित्य-जगत् में बराबर पूछे जा रहे हैं और अभी अनुत्तरित हैं।[1]

पुस्तकालय

१. जयवर्द्धन; लेखक—जैनेन्द्रकुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण-भारत के प्रथम हिन्दी उपन्यासकार
श्री 'आरिगपूडि'
की अनुपम मूल हिन्दी रचना

खरे-खोटे मू० ५)

दक्षिण-भारत के ग्राम्य-जीवन का अनुपम एवं सजीव
चित्रण अत्यन्त ही सरल व रोचक भाषा में।

हिन्दी-जगत् के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार
श्री गुरुदत्त की नवीन अन्यतम रचना

पन्नलता मू० ७)

सातवीं शताब्दी के भारत-खण्ड
के इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर।

★

भारती साहित्य सदन

३०/९०, कनाट सरकस, नई दिल्ली–१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

आलोचना

अं. ४०

R
दि ३५५
अं-२२५

और साहित्य	सम्पादकीय
विता : प्रयोग की समस्या	डॉ० शम्भूनाथ सिंह
न विकास-बोध के चार आयाम	राजेन्द्रप्रसाद सिंह
काव्यशास्त्र का मूल और औचित्य	डॉ० सूर्यकान्त
साहित्य-सृजन और आलोचना-सिद्धान्त	डॉ० रमेश कुन्तलमेघ
नया उपन्यास	डॉ० रामरतन भटनागर
कवि और सामाजिक दायित्व	डॉ० प्रेमशंकर, मालार विन्दम् चतुर्वेदी

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R
पुस्तक संख्या दि ३७आ
आगत पंजिका संख्या अं-२२,प्र-२
४४३३

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

लो च ना

अप्रैल, १९५७

एक अंक का ४)

अध्ययन : भारतीय लेखक

-नागार्जुन : जीवन और कृतित्व
प्रो० बेचन एम० ए० .... ७६

● निबन्ध

—नई कविता : प्रयोग की समस्या
डॉ० शम्भूनाथ सिंह ९
—नवीन विकास-बोध के चार आयाम
राजेन्द्रप्रसाद सिंह २५
-शास्त्र का मूल और औचित्य
.... ३७
आलोचना-सिद्धान्त
.... ५५

● प्रस्तुत प्रश्न

—कवि और सामाजिक दायित्व
मालार विन्दम् चतुर्वेदी ८४
डॉ० प्रेमशंकर ८८

● मूल्यांकन

—'बौद्ध-धर्म दर्शन' और 'शैव मत'
डॉ० राजबली पाण्डे ९८
—सूफी मत एवं सूफी साहित्य का अध्ययन
परशुराम चतुर्वेदी १०३
—जयवर्धन
डॉ० रामरतन भटनागर ११२

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना सम्पादकीय

समाज और साहित्य

समाज और साहित्य-जैसे विषय पर लिखने की आवश्यकता इसलिए आती है कि आये दिन साहित्य के स्वरूप और उसके आदर्श को लेकर अनेक प्रकार के अधूरे और अटपटे विचार प्रकट किये जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यकार के 'स्वातन्त्र्य' का ज़ोर-शोर से एलान किया जाता है, मानो उस स्वातन्त्र्य पर कोई बड़ा संकट आ पड़ा है या आने वाला है। जहाँ तक अपने देश की गतिविधि है, लेखकों के स्वातन्त्र्य पर न तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध है और न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आशंका है। यदि यह कहा जाय कि अपने देश में न सही, दूसरे कुछ देशों में लेखक के स्वातन्त्र्य की समस्या महत्त्व रखती है, और इसलिए हम यहाँ अभी से सतर्क रहना चाहते हैं; तो यह बात भी अधिक प्रासंगिक नहीं है। हम देखते हैं कि स्वातन्त्र्य की नई पुकार साहित्य की सीमा में कुछ ऐसे तथ्यों को रखने के लिए की जा रही है जो अतिशय असामाजिक होने के कारण बहुजन-समाज में स्वीकृत नहीं हैं। स्वीकृत न होने पर भी यदि वे तथ्य उपयोगी या आवश्यक प्रमाणित किये जा सकें, तो भी एक बात है। परन्तु जिस दिशा से यह स्वातन्त्र्य की आवाज उठी है, वहाँ आवश्यकता और उपयोग, जैसे तथ्यों का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ तो जो कुछ चाहें उसे कहने और लिखने के स्वातन्त्र्य की ही माँग है। प्रत्येक स्वातन्त्र्य के साथ उतनी ही मात्रा में दायित्व की भावना रहा करती है। पर यह नया स्वातन्त्र्य दायित्व की भावना से नितान्त अछूता है। हम मानते हैं कि प्रत्येक लेखक समाज और साहित्य के सम्बन्ध में खरे, विरोधी और व्यंग्यात्मक विचार भी रख सकता है और उन्हें व्यक्त करने का अधिकार भी रखता है। पर इस स्थिति में समाज की बुराइयों, वैषम्यों और अन्यायों का वस्तुचित्र लेखक के सामने रहना ही चाहिए, जिन्हें वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता और सामर्थ्य द्वारा साहित्य में व्यक्त करे। पर जिस स्थिति में सामाजिक वस्तु का—चाहे वह भली हो या बुरी—नितान्त अभाव हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लेखक सामाजिक जीवन से निरा निरपेक्ष होकर कुण्ठावश आत्मकेन्द्रित हो जाय और उन कुण्ठित भावनाओं और उद्गारों का समाज में प्रदर्शन करने लगे, तब किसी भी समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति ऐसे लेखक के इस अनुचित और अनैतिक कार्य पर आक्षेप कर सकते हैं। जिस प्रकार लेखक अपने लिए स्वातन्त्र्य चाहता है, उसी प्रकार समाज भी अपने लिए उक्त स्वातन्त्र्य से रक्षा पाने की माँग कर सकता है; और ऐसी माँग को कोई भी न्याय अस्वीकार नहीं करेगा।

ऊपर हमने लेखक के स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी जिस नई हलचल की चर्चा की है, उससे मिलती-जुलती दूसरी प्रकार की हलचलें भी आज के साहित्य-क्षेत्र में पाई जाती हैं। आस्था और अनास्था, रूढ़ि और मौलिकता अथवा नवीन और प्राचीन-जैसे शब्दों को लेकर भी कुछ इसी प्रकार की चर्चाएँ चल रही हैं। इन चर्चाओं में सबसे विलक्षण बात यह देखी जाती है कि इनमें वस्तुगत परिस्थितियों का कहीं उल्लेख नहीं किया जाता। केवल कुछ शब्दों का सहारा लेकर बहुत-कुछ बेपहचानी और बेमानी वस्तुओं का विज्ञापन किया जाता है, जिनसे यह भी पता नहीं लग पाता कि आखिर ये लेखक चाहते क्या हैं? यदि किसी वस्तु की माँग की जाती है तो उसका स्वरूप स्पष्ट शब्दों में अंकित करना चाहिए; पर कठिनाई यह है कि ये लेखक इस बात का पता नहीं देते कि वे चाहते क्या हैं। कभी-कभी तो हम यह भी नहीं समझ पाते कि वे कह क्या रहे हैं। दूसरे शब्दों में नई कृतियाँ और नये वक्तव्य न केवल अपने आपको अचीन्हा बनाते हैं, बल्कि शब्दों और अर्थों का भी अटपटा उपयोग करते हैं।

आस्था और अनास्था के प्रश्न को ही लीजिए। आस्था का सम्बन्ध किसी वस्तु से ही हो सकता है, इसी प्रकार अनास्था भी किसी वस्तु के ही प्रति हो सकती है। जहाँ तक आस्था और अनास्था का सम्बन्ध वस्तु के साथ रहा करता है, हम उसे भली भाँति समझ और पहचान सकते हैं। पर इसके आगे चलकर आस्था और अनास्था केवल एक प्रवृत्ति या मनोभावना के रूप में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में आस्था के औचित्य अथवा अनास्था के अनौचित्य को जानने और समझने का कोई साधन नहीं रह जाता। कुछ नए लेखक प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि वे आस्थावान हैं, आशा को छोड़ नहीं बैठे हैं। जब तक उनका यह आस्था और अनास्था-सम्बन्धी विवेचन केवल कथन की सीमा पर रहता है और वस्तु-तथ्य के उल्लेख द्वारा उसे वास्तविकता नहीं दी जाती, तब तक किसी कवि या लेखक के आस्थावान या अनास्था-वान होने का प्रश्न कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। सारी स्थिति को देखने पर मूलवर्ती तथ्य यह दिखाई देता है कि जो लेखक वस्तुतः असामाजिक और व्यक्तिमुखी होते जा रहे हैं, वे ही अधिकतर लेखक के स्वातन्त्र्य और उसकी आस्था-जैसे प्रश्नों को उठाया करते हैं और इस प्रकार वे 'कथन में कुछ और और कार्य में कुछ और' का आभास देकर अपनी स्थिति को और भी संदिग्ध बना लेते हैं। सारा प्रश्न लेखक के व्यक्तित्व, उसके विचार, उसकी कार्य-प्रणाली और क्रिया-कलाप का रह जाता है। जब तक आज के नवीन लेखक सामाजिक जीवन में ओत-प्रोत न होकर केवल दूर से ही साहित्यिक कर्त्तव्य की पूर्ति करते रहेंगे, तब तक उनकी रचनाएँ एक आन्तरिक असंगति से ग्रस्त रहेंगी और उनकी कृतियाँ रक्तहीन शरीर की भाँति किसी के काम न आ सकेंगी।

इस लेख के सन्दर्भ में यहाँ हमें विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्पष्ट करने के उद्देश्य से 'साहित्य' और 'समाज' दोनों शब्दों की व्याख्या करनी है। साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दिशा में ले जाने का प्रबल सामर्थ्य रखती हैं। यों, सामयिक साहित्य अनेक उद्देश्यों से लिखा जाता है। बहुत-सी वस्तुएँ केवल मनोरंजन या सामान्य जानकारी की भूमि पर रहा करती हैं। उनसे भी अधिक वस्तुएँ समाज में पाई जाने वाली हल्की भावनाओं की तृप्ति करती हैं। परन्तु जिस साहित्य की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, वह समाज की सर्वाधिक सजग और शक्तिशाली चेतना को प्रभावित करने वाला होता है। जो लेखक इस प्रकार के साहित्य के सृजन का लक्ष्य नहीं रखते, उनसे इस लेख का सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जो लेखक सामाजिक जीवन की सर्वश्रेष्ठ चेतना को गहराई में स्पर्श करके उसे प्रभावित करने का ध्येय रखते हैं, उनसे इस लेख का सम्बन्ध है। जिस प्रकार साहित्य की अनेक भूमियाँ और दिशा-विभाग हैं, उसी प्रकार समाज और सामाजिक जीवन के भी अनेक भावस्तर हैं। यहाँ हम समाज के उस अतिशय महत्त्वपूर्ण और गम्भीर भावस्तर की चर्चा कर रहे हैं जो राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का सारभूत अंश है। समाज के सामान्य जीवन के प्रसंग अथवा गतिविधियाँ अपना स्थान रखती हैं, परन्तु जिसमें सामाजिक जीवन को बनाने या बिगाड़ने की तीव्र शक्ति निहित है, हमारा प्रयोजन उसी विशिष्ट सामाजिक वस्तुसत्ता से है। हम इस निबन्ध में साहित्य के सर्वोच्च और सबसे अधिक शक्तिशाली तथा सारवान अंश का सम्बन्ध समाज के तदनुरूप मूल्यवान और शक्तिशाली अंश से देखना चाहते हैं। साहित्य के सर्वोत्तम अंश के कुछ उपकरण ऐसे हैं जो सदैव उसमें रहते हैं, किन्तु कुछ अंश ऐसे भी हैं जो गत्यात्मक हैं और समय-समय पर आविर्भूत और संचरित होते हैं। इस प्रकार समाज और सामाजिक जीवन के श्रेष्ठ आदर्श स्थायी भी हैं और परिवर्तनशील भी। कुछ आदर्शों के सम्बन्ध में हमें कभी द्विविधा नहीं होती और कुछ आदर्श नये सामाजिक परिवेशों में नया रूप और आकार ग्रहण करके आते-जाते रहते हैं। साहित्य के इस स्थायी और गतिमान रूप के साथ समाज के भी स्थायी और गतिमान आदर्शों को मिलाकर देखने पर ही साहित्य और समाज-सम्बन्धी विवेचन सार्थक होगा।

इस अन्तिम बात को हम एक उदाहरण लेकर स्पष्ट करना चाहते हैं। हिन्दी-साहित्य जब द्विवेदी-युग को पार करके नये युग में प्रविष्ट हुआ, तब साहित्य और समाज के रूपों और आदर्शों में नये परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे। द्विवेदी-युग के साहित्यिक और सामाजिक आदर्श उपयोगितावादी और सुधारवादी रहे हैं, स्वभावतः इन आदर्शों में सामाजिक पक्ष की प्रमुखता रही है। उसके पश्चात् आने वाले युग में क्रान्तिकारी व्यक्तिगत भावना और वैयक्तिक आदर्श का उत्कर्ष देखा गया। यदि केवल इतने आधार पर कोई यह कहने लगे कि द्विवेदी-युग का काव्य सामाजिक चेतना से सम्पन्न है, जब कि परवर्ती काव्य व्यक्तिमुखी और आत्मगत है, तो ऐसा कहना वास्तविकता से बहुत दूर होगा। इस कथन में द्विवेदी-युग के सामाजिक आदर्शों और परवर्ती युग की वैयक्तिक भावना-भूमि की तुलना किसी सम्यक् धरातल पर नहीं की जा रही। यदि कोई समीक्षक इन सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों की भिन्नता देखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहने लगे कि गुप्त जी का काव्य सामाजिक होने के कारण अधिक उदात्त है और प्रसाद का काव्य उनकी वैयक्तिक चेतना से सम्पन्न होने के कारण वैसा नहीं है, तो इस विवेचन में न तो साहित्यिक आदर्श की स्थापना हो सकेगी और न सामाजिक जीवन की वास्तविकता ही समझी जा सकेगी। स्पष्ट है कि यहाँ हम साहित्य और जीवन के स्थायी और गतिशील रूपों एवं सम्बन्धों को समझने में असमर्थ हैं। यह ऊपरी विवेचना भ्रान्तिमूलक होगी। साहित्यिक और सामाजिक तथ्य की गहराई में जाने पर यह स्पष्ट होगा कि प्रसाद के काव्य में सामाजिक जीवन के अधिक मूल्यवान और गम्भीर तत्त्वों का आकलन हुआ है; इसलिए उनका काव्य न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। समीक्षक का कार्य यह है कि वह साहित्य और समाज के इन स्थिर और गतिशील सम्बन्धों के आकलन द्वारा किसी रचना का मूल्य निर्धारित करे।

पूछा जा सकता है कि साहित्य और समाज के बीच में वे स्थिर और गत्यात्मक सम्बन्ध क्या हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गई, और उन सम्बन्धों की गहराई से क्या आशय है तथा उस गहराई की पहचान क्या होगी? प्रसाद के 'कामायनी' काव्य को सम्मुख रखकर ही हम इस प्रश्न का उत्तर देंगे। 'कामायनी' में नारी और पुरुष की संघर्षमयी जीवन-कथा कही गई है, जिसमें सुख और दुःख की चरम स्थितियाँ आती हैं और काव्य उन स्थितियों से परिचालित होकर दोनों दिशाओं में दूर तक पींगें भरता है। यह काव्य की भावात्मक स्थिति है जो सुख और दुःख की गहराइयों में जाने के कारण अतिशय उदात्त हो उठी है। परन्तु सुख और दुःख के ये गहरे झोंके हम जिस काव्य में अनुभव करते हैं, वह एक सुन्दर हिंडोले की भाँति एक मजबूत डाल में एक मजबूत रस्सी से बँधा हुआ है। वह मजबूत रस्सी बौद्धिक या दार्शनिक चेतना की रस्सी है, जिसमें बँधे होने के कारण यह काव्य इतने गहरे और ऊँचे झोंके दे पाया है। और यह दार्शनिक चेतना की रस्सी जिस मजबूत डाल से बँधी हुई है, वह नैतिक संवेदना की डाल है। प्रसाद के 'कामायनी' काव्य की नैतिक भूमिका कितनी सुदृढ़ है, यह इतने से ही जान सकते हैं कि इस काव्य की नायिका 'कामायनी' नैतिक तत्त्व की ही प्रतिनिधि है। ऊपर के इस संक्षिप्त विश्लेषण से हम यह समझ सकते हैं कि श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रातिभ तत्त्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्त्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्त्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नहीं, ये तीनों तत्त्व गहरे अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्त्वों के दुहरे रूपों से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगढ़ चेतना में इन तीनों तत्त्वों का समावेश रहता है।

समाज और साहित्य के इस अनिवार्य सम्बन्ध को समझने के लिए यदि हम इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश करें तो देखेंगे कि प्राचीन साहित्य युग-विशेष के सर्व-श्रेष्ठ सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधि रहा है। कला की सृष्टि ही सामाजिक जीवन के सौन्दर्य से प्रभावित होकर हुई है। प्राचीन कवि और कलाकार असाधारण महत्त्व के व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होकर अपनी रचना में प्रवृत्त हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'होमर' के काव्य को ग्रीक-समाज काव्य-ग्रन्थ तो मानता ही था, उसे धर्म-ग्रन्थ और नीति और आचार का आदर्श भी मानता रहा है। ग्रीक-समाज अपने सम्पूर्ण जीवनादर्श 'इलियड' महाकाव्य में प्राप्त कर सका था। इसी प्रकार वाल्मीकि के काव्य में भारतीय समाज के सम्पूर्ण आदर्श निहित हुए हैं। हम मानते हैं कि उस समाज में और आज के समाज में भिन्नता है; फिर भी वाल्मीकि के काव्य को पढ़कर आज भी हमें उन मूल्यवान सामाजिक आदर्शों का बोध होता है जिन्हें हम अपनी चिरन्तन सम्पत्ति मानते हैं। वाल्मीकि के काव्य में तत्कालीन समाज की छाया के साथ मानव-जीवन के कतिपय स्थायी आदर्शों का प्रभावशाली आलेख भी है। यही साहित्य की युग-सापेक्षता और युग-निरपेक्षता है। समाज बदलता है, सामाजिक आदर्श बदलते हैं परन्तु कतिपय मूलभूत जीवन-तथ्यों में परिवर्तन नहीं आता। इन्हीं मूलभूत-जीवन-तथ्यों को हम मानवतावाद अथवा मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की स्थायी देन कह सकते हैं। काव्य श्रेष्ठत्व का प्रमुख उपादान उसमें निहित यही मानवतावाद है। भारतीय आचार्यों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्य और साहित्य को 'रसात्मक' कहा है। 'रस' शब्द से भी उनका आशय उसी मौलिक और मूल्यवान मानव-भावना से है, जिसकी श्रेष्ठ काव्यों में सृष्टि होती है। जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस-शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है।

साहित्य की विविध ऐतिहासिक सरणियों को पार करते हुए जब हम वर्तमान समय पर पहुँचते हैं तब अपने चारों ओर नित्य नई साहित्यिक कृतियों और सामाजिक जीवन की नाना गतिविधियों को देखते हैं। इस निरन्तर बढ़ती हुई विविधता और अनेकरूपता से सहमकर हम कभी-कभी असमंजस में पड़ सकते हैं। परन्तु यदि हम अपनी ऐतिहासिक चेतना का प्रयोग करें तो देखेंगे कि इस असंख्य और अशेष विविधता में एक अन्तर्निहित एकता भी होनी चाहिए। वह एकता, जो समाज में मानवतावादी अनुभूति की एकता है तथा जो साहित्य में रस की एकता है। आज की साहित्यिक और सामाजिक अनिश्चयात्मकता में हमें अपनी ऐतिहासिक चेतना का प्रयोग करना ही होगा। आज साहित्यिक और सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के वाद और विचारधाराएँ प्रचलित हो रही हैं। ज्ञान के विस्तार के साथ नाना वादों का उत्पन्न होना स्वाभाविक भी है। विविध सामाजिक दर्शन अपनी स्वतन्त्र स्थापना पर बल देते हैं। विविध विज्ञान अपने आविष्कारों का आग्रह रखते हैं। ऐसी स्थिति में हमें सामाजिक जीवन के उन मूलभूत तथ्यों को समझने का प्रयत्न करना होगा जो आज के साहित्य पर प्रभाव डाल रहे हैं। तभी हम यह जान सकेंगे कि आज के साहित्य और आज के समाज में किस प्रकार का सम्बन्ध है।

राजनीतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करते ही हमारे देश में कई ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं, जिन्होंने कुछ समय के लिए राष्ट्रीय विकास को स्थगित और अवरुद्ध कर दिया। उनमें से एक विस्थापितों की समस्या थी। दूसरी दुर्घटना इससे भी कहीं अधिक महान् थी, राष्ट्रपिता गांधी जी के निधन की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्थापितों का प्रश्न तो समय पाकर हल हो गया—यद्यपि अब भी उसके अवशेष मिटे नहीं हैं; परन्तु गांधीजी के निधन से हमारे राष्ट्र का जीवन ही अन्धकार में पड़ गया। उनका व्यक्तित्व हमारे राष्ट्रीय चारित्र्य का प्रतीक था। उनकी प्रेरणा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को आन्दोलित करती थी। उनके न रहने पर सबसे बड़ी क्षति जो हमें उठानी पड़ी, राष्ट्रीय नैतिक-चेतना के ह्रास की है। कोई ऐसा आलोक-केन्द्र नहीं रह गया था जो हमें नैतिक दिशा-निर्देश कर सकता। राज-सत्ता और जन-समाज के बीच सम्बन्ध-सूत्र शिथिल होने लगे। राज-सत्ता अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित होती गई, सरकारी विभागों की संख्या बढ़ती रही और सरकारी माध्यम से ही जन-समाज से सम्पर्क स्थापित किया जाने लगा। तीसरी क्षति यह हुई कि देश के लिए अत्यावश्यक राष्ट्रीय ऐक्य का भाव क्षीण होने लगा; एक वर्ग की चेतना दूसरे वर्ग या वर्गों की चेतना से विच्छिन्न होने लगी।

हम यह नहीं कहते कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति की वही संघर्षात्मक पद्धति चलती रहती और शासन-सत्ता और जन-समाज के बीच मतभेद और अविश्वास का वातावरण बना रहता, बल्कि इसके विपरीत हम यह कह रहे हैं कि राज-सत्ता और जनता के बीच इस समय अधिक गहरे और आत्मीय सम्बन्धों की आवश्यकता थी। इन आत्मीय सम्बन्धों के अभाव में वर्तमान शासन की अनेक प्रगतिशील नीतियाँ भी आज उचित रीति से ग्रहण नहीं की जा रहीं। उदाहरण के लिए, अर्थनीति के क्षेत्र में आत्मनिर्भर राज्य का आदर्श अपनाकर शासन द्वारा समाज में आर्थिक समानता लाने की दिशा में जो उद्योग किये गए हैं उनका जैसा स्वागत होना चाहिए था, नहीं हुआ। हम देखते हैं कि समाज के किसी वर्ग में इस अर्थनीति के प्रति सन्तोष नहीं है। लोग नये आर्थिक साँचे के अनुरूप अपने को ढाल रहे हैं, नये 'यथार्थ' की अधिक अभिज्ञता उन्हें है, पर इस परिवर्तन के प्रति सार्वजनिक प्रतिक्रिया असन्तोष से रिक्त नहीं है। इसी प्रकार शासन द्वारा संचालित प्रथम और द्वितीय पंचवार्षिक योजनाएँ भी समाज में नये उत्साह की सृष्टि करने में उतनी सफल नहीं हुईं, जितना अपेक्षित था। हिन्दी के नये साहित्य में इन विशाल कार्यक्रमों को लेकर उचित परिमाण में, और उचित प्रतिक्रियाओं से समन्वित सृष्टियाँ नहीं हो रहीं। कुल मिलाकर हम अपने राष्ट्रीय परिवेश की उपेक्षा ही कर रहे हैं।

ऊपर के सामाजिक परिपार्श्व में हम यह देख सकते हैं कि समाज में किस प्रकार की विचार-धाराएँ प्रचलित हैं और साहित्य में स्थान पा रही हैं?—एक शब्द में आज की विचार-धारा यथार्थवादी कही जाती है; परन्तु इस विचार-धारा की कोई निर्धारित दिशा या गति नहीं है। हिन्दी-साहित्य में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण समाज के यथातथ्य चित्रण और सामाजिक स्थिति के व्यंग्यात्मक प्रदर्शन में दिखाई देता है। लेखक जिन चरित्रों को चित्रित करते हैं उनमें सामाजिक सहानुभूति की कमी या अभाव रहता है। उनका जीवन व्यक्तिनिष्ठ और अभावग्रस्त प्रदर्शित किया जाता है। उनमें किसी प्रकार की नैतिक शक्ति, कर्तव्यशीलता और उदारता का परिचय देना यथार्थवाद की व्यंग्यात्मक शैली के लिए वर्जित है। उपन्यासों और नाटकों के इस यथातथ्यवाद के अनुरूप अथवा उससे भी आगे बढ़कर कविता में नकारात्मक प्रतिक्रियाओं की भरमार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकारात्मक प्रतिक्रिया से हमारा आशय समाज और सामाजिक जीवन के प्रति लेखक की अनास्था से है। ऐसी काव्य-रचनाओं में समाज को अत्याचारी और अपराधी तथा व्यक्ति को नृशंस अपराधों से उत्पीड़ित चित्रित किया जाता है। सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की सद्वृत्ति नहीं है और न किसी सद्वृत्ति की सम्भावना है, यह अनेकानेक रचनाओं की वक्तव्य-वस्तु है।

इससे भिन्न एक दूसरे प्रकार का यथार्थवाद, जिसे प्रकृतिवाद भी कहते हैं, नये साहित्य में प्रचलित है। यह प्रकृतिवाद यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से स्वच्छंदतावादी काव्य-शैली के विरोध में संयमित और तटस्थ चित्रण के दृष्टिकोण को अपनाकर चला था परन्तु इस प्रकृतिवाद की परिणति 'नदी के द्वीप'-जैसी रचनाओं में हुई है, जिसकी वैचारिक भूमि अतिशय व्यक्तिवादी है और जिसके शृंगारिक चित्रण किसी भी स्वच्छंदतावादी (हिन्दी में छायावादी) लेखक की कल्पना के बाहर हैं। कला में संयम, तटस्थता और वैज्ञानिकता का दावा करने वाले प्रकृतिवादी नितान्त वैयक्तिक भावभूमि पर उतर आयँगे और अपने शृंगारिक चित्रणों से हिन्दी-साहित्य की समस्त शालीन परम्परा को मात दे देंगे, यह अपने-आपमें ही एक अनोखा अनुभव है।

नये लेखकों का एक समुदाय, जो सामाजिक यथार्थवाद अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुआ, अपने साहित्य-सृजन में उपर्युक्त दोनों वर्गों की अपेक्षा उदार और सामाजिक चेतना-सम्पन्न है। इस वर्ग के लेखकों में यदि कोई कमी रही है तो यही कि विचार की दृष्टि से इनकी कृतियों में एक सुनिश्चित मतवाद का ही अनुसरण किया गया है। कला की दृष्टि से ये कृतियाँ प्रचारात्मक और उपदेशात्मक अधिक हो गई हैं, जिसका अर्थ यह है कि लेखक अपने प्रत्यक्ष और व्यापक अनुभवों की अपेक्षा पुस्तकीय ज्ञान और मतवाद से अधिक परिचालित हुए हैं। परन्तु हम देखते हैं कि यह मतवादी दृष्टिकोण क्रमशः सामाजिक जीवन के वास्तविक अनुभवों द्वारा परिष्कृत होता जा रहा है। यथार्थवाद की एक मूलभूत कमी, जो इसमें अब भी शेष है वह है समाज की नैतिक सत्ता का अनादर। यथार्थवाद के आग्रह से पग-पग पर स्त्री और पुरुष को थोड़े प्रलोभनों में डिगते और नैतिक दृष्टि से अपदस्थ होते दिखाना समाज और संस्कृति के प्रति सम्मानित या उपयोगी दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपनी पिछले महत्त्वपूर्ण वक्तव्य में कहा है कि कोई भी भौतिकवादी दर्शन नैतिक जीवन-चर्या के लिए उचित या सम्यक् आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ है। उनकी यह बात इन यथार्थवादी लेखकों के चित्रणों से प्रमाणित हो जाती है।

एक और यथार्थवाद, जो मनोविज्ञान और मानसिक विश्लेषण के तत्त्व-ज्ञान पर आश्रित है, हिन्दी-साहित्य में प्रचलित हो रहा है। इस तत्त्व-ज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता यह देखी जाती है कि यह अपने-आपको सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की भूमिका पर रखता है और मानव-व्यवहार को समझने के लिए किसी अन्य मानवीय विद्या की आवश्यकता नहीं मानता। नये मनोविज्ञान-शास्त्र के कारण विश्वविद्यालयों तक में दर्शन और नीति-शास्त्र की शाखाएँ उपेक्षित होने लगी हैं। इस नये शास्त्र की सर्वसम्पूर्णता के थोथे दावे ने हिन्दी-साहित्य के कुछ नये लेखकों और समीक्षकों को दिग्मूढ़ बना दिया है। इस तत्त्व-ज्ञान की दूसरी विशेषता मानव की आदि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जात पाशव वृत्तियों को मानवीय व्यक्तित्व के मूल में स्थापित करना है। व्यक्ति का नैतिक और सामाजिक पक्ष केवल एक छद्मवेश है। ऐसे तत्त्व-ज्ञान को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मान लेने पर सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति की सारी सम्भवनाएँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि सामाजिक कर्तव्य के प्रेरक तत्त्व उपेक्षित होने लगते हैं। यह तथाकथित तत्त्व-ज्ञान बहुत अंशों में नियतिवादी भी है, क्योंकि मानव-व्यक्तित्व की स्वतंत्रता या स्वाधीन सत्ता इसमें स्वीकृत नहीं है।

नये साहित्य में प्रचलित इन यथार्थवादी विचार-प्रवाहों का मूल उत्स पश्चिम में है, किन्तु पश्चिमी विचारक यथार्थवाद की इन असंगतियों से परिचित होकर उनसे छुटकारा पाते जा रहे हैं। हमारे कहने का यह आशय कदापि नहीं कि हिन्दी-साहित्य की यह नई धारा हमारी अपनी सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थिति का परिणाम नहीं है, यह केवल पश्चिम का अनुकरण है। पर हमारे कहने का यह आशय अवश्य है कि पश्चिम के चिन्तक सतर्क होकर इन विचार-सरणियों का नये सिरे से निरीक्षण कर रहे हैं, जब कि हम अब भी उन्हें अन्तिम वाक्य मानने की मनःस्थिति में हैं। यदि हम साहित्य-विषयक यूरोप के नोबेल पुरस्कार को पश्चिमी साहित्यिक चेतना का श्रेष्ठ मानदण्ड मानें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की उपेक्षा करने वाले तथा-कथित श्रेष्ठ कलाकार भी इस पुरस्कार से वंचित रह गए हैं। थामस हार्डी-जैसे उच्च-कोटि के अंग्रेज औपन्यासिक भी अपनी दुःख-वादी जीवन-दृष्टि के कारण नोबेल पुरस्कार न पा सके। पिछले वर्षों में साहित्य-विषयक इस पुरस्कार के पाने वालों की सूची देखने पर यह धारणा बनती है कि किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन या कला-पद्धति का पीछा पकड़ने वाले साहित्यिकों की अपेक्षा स्वतन्त्र जीवन-अनुभव और उत्कट जीवन-आस्था से समन्वित साहित्य-स्रष्टा—जिन्होंने अपनी कृतियों में मानव की नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक चेतना को एक-साथ सम्मान दिया है—अधिक सम्मानित हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में भी, ऊपर उल्लेख किये गए सामाजिक परिपार्श्व के रहते हुए, कुछ श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं और की जा रही हैं। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक गतिविधि और वातावरण सदैव संतुलित और प्रेरणाप्रद ही हो। अनेक बार समाज की हीनताएँ भी लेखकों में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करती और श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण में हेतु बनती हैं। आवश्यक इतना ही है कि कलाकार या साहित्यिक की दृष्टि युग की सामाजिक हीनताओं से आक्रान्त और स्खलित न हो गई हो। ऐसे ही अस्खलित-चेता कवि और लेखक स्वप्नदृष्टा कहलाते हैं और अन्धकार में प्रकाश के ज्योतिवाही होते हैं। हमारे साहित्य में ऐसे संकल्पवान लेखकों की कमी नहीं है जो विपरीत सामाजिक परिस्थितियों में नये आलोक की योजना कर रहे हैं। ये लेखक सामाजिक हीनताओं से हार माने हुए नहीं हैं और न इन्होंने आस्था, विश्वास और संघर्ष के क्षेत्र को छोड़कर पलायन की वृत्ति अपनाई है। उनका व्यक्तित्व और उनकी जीवन-दृष्टि सन्तुलित है। ऐसे ही आस्थावान और सन्तुलित जीवन-दृष्टि वाले लेखकों के हाथों में हमारा साहित्य और सामाजिक जीवन सुरक्षित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉ० शम्भूनाथसिंह

नई कविता : प्रयोग की समस्या

'नई कविता' नाम के पीछे एक इतिहास है। सन् १९४३ में जब एक नये प्रकार और नये ढंग की कविताएँ 'अज्ञेय' के सम्पादकत्व में 'तारसप्तक' में प्रकाशित हुईं तो उनके रूप-शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोगों को देखकर तथा 'तारसप्तक' के सम्पादकीय तथा कवियों के वक्तव्यों में 'प्रयोग' शब्द के बार-बार व्यवहार को देखकर हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने इस नई काव्य-धारा का नाम ही 'प्रयोगवाद' रख दिया। इन कवियों में नवीन प्रयोग की प्रवृत्ति अवश्य बड़ी तीव्र थी। इधर कुछ दिनों से इन कवियों ने अपनी कविताओं के साथ 'प्रयोगवादी' विशेषण न लगाकर उन्हें नई कविता कहना प्रारम्भ किया है। इस प्रकार 'नई कविता' या नई कही जाने वाली कविता प्रयोगवाद की ही विरासत है।

प्रयोग वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपने पूर्व की समस्त ग्राह्य परम्परा को स्वीकार करता हुआ भी पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं से अपनी कविता को भिन्न रखता, उसमें नवीनता का पुट देता है। वस्तुतः कोई भी महान् कवि पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न नहीं होता। परम्परा कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार उसमें भी अन्तर्विरोध होता है। उसके भीतर दो तत्त्व होते हैं, एक विकासमान और दूसरा ह्रासशील। परम्परा के इसी ह्रासशील पक्ष का नाम रूढ़ि है। प्रतिक्रियावादी इन्हीं मृत और ह्रासशील रूढ़ियों की रक्षा के लिए परम्परा की दुहाई देते और हर प्रकार की नवीनता का विरोध करते हैं। परम्परा का विकासमान तत्त्व वह है जो परिवर्तित युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप तथा विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण अपने रूप में परिवर्तन करता चलता है। उसका यह रूपान्तर ही उसमें नवीनता का आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः कला या काव्य में नवीनता द्वारा आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही प्रयोग किये जाते हैं। इस प्रकार प्रयोग साधन हैं, साध्य नहीं।

प्रयोग और प्रयोगशील शब्दों का व्यवहार यूरोप में बड़े ही व्यापक अर्थ में; किन्तु कभी-कभी अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में भी, किया जाता है। व्यापक अर्थ में उन सभी प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्नों को, चाहे वे भाव, विचार और अनुभूति के क्षेत्र में नवीनता, ताज़गी, व्यापकता और गहराई लाने के लिए किये जायँ अथवा रूप-शिल्प की परम्परागत पद्धति का परिवर्तन करके नवीन पद्धति चलाने के लिए किए जायँ, प्रयोग कहा जाता है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार केवल रूप-शिल्प में निरुद्देश्य और अनावश्यक नवीनता उत्पन्न करने वाले प्रयत्नों के लिए होता है। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध प्रयोगशील उपन्यासकार फ़िलिप टायनबी ने लिखा है कि यूरोप के कुछ स्थानों में ऐसी पुस्तकें, जिनमें वाक्य सीधे नहीं बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहसपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकार की जाती हैं, चाहे उनका वस्तु-तत्त्व बहुप्रयुक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।[1] ये दूसरे प्रकार के प्रयोग निरुद्देश्य होते हैं, उन्हें प्रयोग के लिए प्रयोग कह सकते हैं। यदि यह सिद्धान्त सही है कि कला में वस्तु-तत्त्व और रूप-तत्त्व (भाव और कला पक्ष) अविच्छिन्न और अविभाज्य होते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु-तत्त्व के आग्रह के कारण ही कलात्मक प्रयोग किये जाते हैं। वस्तु-तत्त्व की नवीनता के कारण जब परम्परागत रूप-शिल्प अभिव्यक्ति का समर्थ और सफल माध्यम नहीं रह जाता तो उसे छोड़कर नवीन रूपाकार की योजना करनी पड़ती है। स्पष्ट ही साहित्यिक फ़ैशन के कारण नहीं, बल्कि अपनी आन्तरिक बाध्यता के कारण लेखक इस प्रकार के प्रयोग करता है। जिस प्रयोग के मूल में ऐसी कोई बाध्यता न हो उसे फ़ैशन या सफल प्रयोग का अनुकरण अवश्य मानना चाहिए। ऐसे प्रयोग केवल पाठकों को चौंकाकर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए होते हैं और वे साहित्य के केवल बाह्य रूप से ही सम्बन्ध रखते हैं, उसकी आत्मा से नहीं।

यदि सच पूछा जाय तो साहित्य में सदा से ही निरन्तर प्रयोग होते आए हैं, (यहाँ प्रयोग शब्द का व्यवहार मैं उपर्युक्त व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ।) इतना अवश्य है कि आज के युग में जिस मात्रा में प्रयोग हो रहे हैं और उनके स्वरूप में जितनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो रहा है, उतना और वैसा आज से (मेरा तात्पर्य बीसवीं शताब्दी से है) पहले कभी नहीं होता था। एक दृष्टि से साहित्य का इतिहास ही स्थिर रीतियों (conventions) और स्वच्छन्दता के संघर्ष का इतिहास है। साहित्य बारी-बारी से इन्हीं दोनों पथों पर, अग्रसर होकर विकसित होता आया है। पहला रास्ता निर्माण-कर्ताओं का और दूसरा साहसी विद्रोहियों और पथ के अन्वेषकों का होता है। ये दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। कुछ लोगों में प्रथम प्रवृत्ति प्रबल होती है और कुछ में द्वितीय। यदि इन दोनों प्रवृत्तियों का द्वन्द्व निरन्तर न होता रहता तो साहित्य का विकास ही न होता, और साहित्य अत्यन्त एकरस वस्तु बनकर रह जाता। स्वच्छन्दतावाद परम्परागत रीतियों के विरुद्ध विद्रोह करता है, पर इस विद्रोह की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं; ध्वंसात्मक और निर्माणात्मक। स्वच्छन्दतावादी

१. "A book which is printed upside down or in a particular print can still be aclaimed in some parts of Europe as a bold and interesting experiment, even if its matter is the most hackneyed imitation....."
Philip Toynbee—"Experiment—And the future of the Novel"—London Magazine—May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वंसात्मक इसलिए होता है कि वह प्राचीन मृत रीतियों से ऊब गया रहता है। साथ ही वह निर्माणात्मक भी होता है, क्योंकि उसमें नये रास्तों की खोज करके साहित्य को जीवन्त और सशक्त बनाने की प्रबल कामना होती है। परम्परागत काव्य-रीतियों के विरुद्ध विद्रोह इसलिए किया जाता है कि उनके कारण स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति, जो नवीनता की खोज करती है, बन्धनों में बँधी रहती है। अतः स्वच्छन्दतावादी के लिए प्राचीन काव्य-रूढ़ि, मृत छन्द और तुक, मृत शब्द-योजना, मृत विचार वस्तु आदि को तोड़ना या मोड़ना आवश्यक हो जाता है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आलोचक जान लिविंगस्टन लोवेस के अनुसार जब काव्य-रूढ़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं तो उस समय कवियों के सामने तीन रास्ते होते हैं—(१) या तो वे उन रूढ़ियों को अपनाकर ग्रामोफोन की तरह उन्हें दुहराते जाते हैं, (२) या अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उस मृत और खोखले रूपाकार में नई शक्ति और नया जीवन भर-कर उसका स्वरूप ही परिवर्तित कर देते हैं, (३) अथवा वे विद्रोह करके 'पुराने सिक्कों' को बिलकुल अस्वीकार कर देते और 'नये सिक्कों' का निर्माण स्वयं करने लगते हैं। किन्तु कला के क्षेत्र में क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है। रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके जो नई पद्धतियाँ निर्मित होती हैं वे स्वयं कालान्तर में रूढ़ि बनकर नई पद्धतियों के मार्ग में बाधा देने वाली हो जाती हैं; पहले की स्वतन्त्रता अब संकीर्णता का रूप धारण कर लेती है और नये विद्रोही उसे 'परम्परा का अत्याचार' कहने लगते हैं।[1] इस तरह क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया से साहित्य प्रत्येक युग में अपना अभिनवीकरण करता चलता है। अंग्रेजी के एक नये आलोचक डॉ० एच० वी० रुथ ने अंग्रेजी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के बाद होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखकर काव्य के मूल में निहित आश्चर्य-तत्त्व को आवश्यक बताया है। उनके अनुसार **"कला को सदैव नवीन स्वरूप देते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव आश्चर्य-तत्त्व पर निर्भर करता है। एक बार जब कलात्मक अभिव्यक्ति की पद्धति की ताज़गी या नवीनता समाप्त हो जाती है तो पाठक या सहृदय उससे विमुख होकर अपने दैनिक कार्यों में लग जाता है। कला या साहित्य में वह एक नई दृष्टि खोजता है पर ऐसी बासी अभिव्यक्तियों में उसे केवल स्थूल रूप का ही दर्शन होता है। इसलिए किसी महान् पुस्तक में नवीनता द्वारा चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि पाठक प्रारम्भ में ही आगे पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय और उसे विश्वास हो जाय कि अनुभूतियाँ व्यापक और गम्भीर छवियों के निर्माण तथा कारयित्री प्रतिभा की क्रीड़ा की**

---

१. "Poets may set the conventions going with the detachment of a photograph, and even absent themselves, to all intents and purposes, entirely. Or, they may exercise creative energy, as we have seen, upon dead forms, empty shells, and bring about a metamorphosis, Or, finally, they may rise up in revolt, repudiate the old coinage altogether, and more or less definitely set themselves to minting new."
John Livingston Lowes—Convention and Revolt in Poetry—third edition—page 92.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री-मात्र हैं।"[1]

उपर्युक्त कथन की सत्यता के प्रमाण अंग्रेजी और हिन्दी-साहित्य, विशेषकर काव्य के इतिहास से खोजे जा सकते हैं। अंग्रेजी कविता में पूर्ववर्ती रूढ़ियों से विद्रोह करके नवीनता लाने के लिए तीन बार आन्दोलन के रूप में सशक्त प्रयत्न हुए। १६६२ ई० में रायल सोसाइटी की स्थापना के समय उसके उद्देश्यों की जो घोषणा हुई उसमें पूर्ववर्ती कविता की शैली की स्फीति, अवान्तर कथन आदि पद्धतियों को छोड़कर स्वाभाविक, सरल और संक्षिप्त अभिव्यक्ति तथा जनता की भाषा के प्रयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यह अंग्रेजी के रीति-युग (Age of form) का प्रारम्भिक काल था, जब कि मध्यकालीन स्वच्छन्दतावादी कविता अपनी नवीनता और ताजगी खो चुकी थी। यह नवीन रीतिवादी या अभिजात (Classical) कविता भी जब सौ वर्ष बाद रूढ़िबद्ध हो गई तो १८ वीं शताब्दी के अन्त में आधुनिक युगीन पूँजीवादी स्वच्छन्दतावाद ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। सर्वप्रथम वड्सवर्थ और कालरिज के लीरिकल बैलेड्स द्वारा यह विद्रोह अभिव्यक्त हुआ। इसके दूसरे संस्करण की भूमिका में, जिसे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का घोषणा-पत्र कह सकते हैं, वर्डसवर्थ ने लिखा था कि **"इन कविताओं को पढ़कर परम्परागत काव्य की अलंकृत भाषा और शब्दावली के अभ्यस्त पाठक आश्चर्य और अटपटेपन का अनुभव करेंगे। वे इसमें अपनी मान्यता के अनुरूप कविता खोजने का प्रयत्न करेंगे और उसे न पाने पर कहेंगे कि आखिर इन रचनाओं को कविता क्यों कहा जाय?"** वड्सवर्थ ने भी उस भूमिका में यही घोषणा की थी कि इन कविताओं में साधारण जीवन से घटनाओं और परिस्थितियों का चुनाव करके उन्हें यथासम्भव जनता की स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त किया गया है, इसी कारण इनमें वह शब्दावली नहीं मिलेगी जिसे अब तक साधारणतया काव्यात्मक पदावली कहा जाता रहा है। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा ने रीतिवादी काव्य-प्रवृत्ति को समाप्त अवश्य कर दिया, किन्तु विक्टोरिया के काल में उसकी भी अपनी रूढियाँ बन गईं, उसकी नवीनता और ताजगी भी समाप्त हो गई। उस युग के स्वच्छन्दतावादी कवियों के मुहावरे, अभिव्यक्ति की शैली, कल्पना, छन्द-योजना आदि सभी धीरे-धीरे अपना जादू खोते गए और तब १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हापकिन्स ने सर्वप्रथम उन रूढियों के विरुद्ध विद्रोह किया। आगे चलकर बिम्बवादी (Imagist) आन्दोलन ने और उससे भी आगे बढ़कर इलियट, एजरा पाउण्ड, आडेन, डाइलन टामस आदि प्रयोगशील कवियों ने गतानुगतिक काव्य-रूढ़ियों को बिलकुल छोड़कर नवीन रूप-शिल्प का सहारा लिया। इन नये कवियों का

१. "Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits. He looks for a vision and sees only phenomena. So a great book must always come with a shock of novelty, convincing the enquirer that he is only at the beginning of things, and that experiences are only materials to play with and reconstruct into a deeper or wider perception."
Dr.H.V. Routh—'English Literature and Ideas in the Twentieth Century', Page 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी यही नारा था कि काव्य की भाषा बोल-चाल की भाषा होनी चाहिए और पूर्ववर्ती कवियों के घिसे-पिटे और खोखले शब्दों का व्यवहार नहीं होना चाहिए, साथ ही नये युग की जटिल समस्याओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, नये प्रतीकों, नये उपमानों और नये छन्दों के माध्यम से होनी चाहिए। इस नई प्रयोगशील काव्य-धारा में अनेक प्रकार की उपधाराएँ या प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो बीसवीं शताब्दी के विभिन्न दशकों में बारी-बारी से आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त होती रही हैं। पर वे मुख्यतया दो विभागों में रखी जा सकती है, १९३० तक की कविता में नव-रीतिवादी (Neo-classical) प्रवृत्ति प्रबल थी और उसके बाद पुनः नव स्वच्छन्दतावादी (Neo-Romantic) प्रवृत्ति प्रबल हो गई। किन्तु उन सबके बारे में विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

हिन्दी-कविता के इतिहास में भी रूढ़ियों और उनके विरुद्ध विद्रोह का यही क्रम दिखाई पड़ता है। समूचा सन्त-काव्य सामन्ती लौकिक-काव्य की ऐहिक प्रवृत्तियों और स्थूल शास्त्रीय रीतियों के विरुद्ध विद्रोह का काव्य है। यह विद्रोह केवल काव्यगत विद्रोह नहीं है बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक विद्रोह की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस काव्य की भी विशेषता यही है कि उसमें जनता की भाषा में व्यक्ति की आध्यात्मिक प्यास को वाणी दी गई है। भक्ति-काल (पूर्वमध्यकाल) में यह विद्रोही स्वर बहुत प्रबल रहा। सूर, तुलसी, मीरा आदि ने काव्य को वह पूर्णता दे दी जो अंग्रेजी में शेक्सपियर और मिल्टन ने दी थी, पर उसका यह विपरीत परिणाम भी हुआ कि परवर्ती कवियों के लिए उस दिशा में उनसे आगे जाना कठिन हो गया। साथ ही आध्यात्मिक अथवा धार्मिक कविता ने जो नया मार्ग निर्मित किया था, वह लौकिक भावना वाले कवियों के अधिक काम का नहीं था। अतः रीतिकाल में लौकिकता की प्रवृत्ति धार्मिक काव्य-प्रवृत्ति को पीछे हटाकर फिर प्रबल हो गई। भक्ति-काल में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बलवती थी और रीतिकालीन काव्य में शास्त्रीय रीतिबद्धता की। इस तरह पूरे मध्यकाल में स्वच्छन्दता और रीतिबद्धता का यह संघर्ष दिखाई पड़ता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रहीं। अंग्रेजी काव्य की तरह यहाँ की एक प्रवृत्ति ने दूसरी प्रवृत्ति को पूर्णतया समाप्त नहीं कर दिया। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनः जागरण के आन्दोलनों के साथ रीतिकालीन काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध फिर विद्रोह हुआ, जिसका संक्रमण-कालीन स्वरूप द्विवेदीयुगीन कविता की भाषा, छन्द-योजना और विषय-वस्तु के चुनाव में दिखाई पड़ता है।

परन्तु रीतिवाद (Formalism) के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद के विद्रोह का वास्तविक और तीव्र रूप तो १९१८ के बाद की छायावादी कविता में ही दिखाई पड़ता है। जैसे अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता का घोषणा-पत्र लिरिकल बैलेड्स की भूमिका है, उसी तरह हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त के पल्लव की भूमिका को छायावादी आन्दोलन का घोषणा-पत्र मानना चाहिए। उसमें पन्त ने रीतिकालीन छन्द-योजना, अन्त्यानुप्रास-पद्धति, घिसी-पिटी अप्रस्तुत योजना, कृत्रिम भाषा और सीमित भाव-क्षेत्र की विस्तार के साथ कटु आलोचना की है और इस तरह पूर्ववर्ती काव्य-रूढ़ियों से मुक्ति का मार्ग-निर्देश किया है। छायावाद ने रीति-कालीन काव्य-रूढ़ियों से विद्रोह तो किया किन्तु आगे चलकर उसके रूप-शिल्प की भी अपनी विशेष-रूढ़ियाँ स्थिर हो गईं। अतः सन् १९३५ के बाद छायावाद के विरुद्ध भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह का स्वर उठने लगा, जो आगे चलकर नई कविता के आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब ब्रजभाषा और रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए खड़ी बोली में युगानुरूप विषयों पर कवित्त-सवैया को छोड़कर संस्कृत के वर्ण-वृत्तों या अन्य मात्रिक छन्दों में काव्य-रचना करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया तो यह उस काल के लिए बिलकुल नया प्रयोग था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने हरिऔध की समासबहुला, तत्सम पदावली वाली भाषा को द्विवेदीयुगीन प्रयोग मानते हुए लिखा है : **"खड़ी बोली के कवियों के लिए वह वस्तु नये प्रयोग के रूप में ही आई। इन्हें (खड़ी बोली के कवियों को) सांस्कृतिक शब्दावली के अनभ्यस्त चयन का नया कार्य करना पड़ा।"**[1] 'हरिऔध' ने ठेठ हिन्दी और मुहावरेदार भाषा में भी पद्य-रचनाएँ कीं और उन्हें भी प्रयोग के रूप में ही लेना चाहिए। यहाँ इतना ही कहना है कि तत्कालीन परिस्थितियों में द्विवेदीयुगीन कवियों ने ये प्रयत्न काव्य को रूढ़ि-मुक्त करने के लिए ही किये। उन्हें पूर्ण सफलता भले ही न मिली हो, किन्तु आगे चलकर छायावाद युग के कवियों ने उनके प्रयोगों से लाभ अवश्य उठाया। रीतिकालीन काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की यह प्रक्रिया द्विवेदी-युग में ही नहीं समाप्त हो गई, वह उसके बाद भी चलती रही। कारण यह था कि रीतिकालीन कविता की रूढ़ियों को तो द्विवेदी-युग की कविता ने छोड़ दिया किन्तु उसकी विशेषताओं—कोमल कान्त पदावली, व्यंजकता, सरसता और कसावट को अपने भीतर नहीं ला सकी। अतः विद्रोह की परम्परा आगे बढ़ी और 'पल्लव' की भूमिका में पन्त ने महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह ही रीतिकालीन कविता की रूढ़ियों की कटु आलोचना करते हुए लिखा : **"भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुर वृत्ति, अनुप्रास और तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुकों को एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया! आँख की उपमा खंजन, मृग, कुञ्ज, मीन इत्यादि, होठों की? किसलय, प्रवाल, लाख, इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि।"** इस विद्रोही प्रवृत्ति के कारण कवियों ने जो नये प्रयोग किये उसीका यह परिणाम हुआ कि हिन्दी-कविता रीति-मुक्त होकर और द्विवेदीकालीन अपरिपक्वता, नीरसता और भावशून्यता से उबरकर संगीतात्मक, भावानुरूप और अर्थप्रवण शब्दों से युक्त, काव्य-वैभव से परिपूर्ण, कल्पनाशील और शक्तिमती बन सकी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी छायावाद की इस विद्रोहजन्य प्रयोगशील प्रवृत्ति की महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है : **'छायावादी काव्य को भाषा-सम्बन्धी प्रौढ़ प्रयोग और नये शब्द-चयन के साथ नवीन सामाजिक योजना के सबसे अधिक उपहार 'निराला' जी के काव्य से ही मिले हैं।.....इन सुन्दरतम काव्य-प्रयोगों के मूल में एक अभिनव रहस्य-भावना, एक विश्वजनीन दार्शनिकता और एक परिष्कृत सौन्दर्य-**

१. प्रयोगवादी रचनाएँ, आधुनिक साहित्य पृष्ठ, २७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना काम कर रही थी। बिना उस मूलवर्ती आधार के रचनाओं में यह चमत्कार और ये कलात्मक विशेषताएँ न आ सकतीं।"[1] वाजपेयी जी का यह कथन बहुत ही सारगर्भित है और प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उसकी विशेष रूप से व्याख्या करने की आवश्यकता है। किन्तु उस पर हम बाद में विचार करेंगे। अभी तो यही कहना अभीष्ट है कि छायावाद ने मृत काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके काव्य का नवीन मार्ग निर्मित किया, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।

आज की प्रयोगवादी या नई कविता का उदय ऐसी ही द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों में हुआ। 'तार-सप्तक' का प्रकाशन तो बाद में हुआ, वस्तुतः सुमित्रानन्दन पन्त के 'रूपाभ' में सबसे पहले ऐसी कविताएँ प्रकाशित हुईं। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय नई शैली की जो कविताएँ प्रारम्भ हुईं उनके मूल में भी छायावादी आदर्शवाद और कल्पनाशीलता की प्रतिक्रिया तथा यथार्थवाद की प्रेरणा ही प्रधान थी। साथ ही उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख छायावादी कविता की, अतिशय भावुकता, व्यक्तिवादिता, दुःख और निराशा की प्रवृत्ति तथा उसके घिसे-पिटे रूप-शिल्प के विरुद्ध नये कवियों के मन में जो विद्रोह जाग्रत हुआ, वह भी नई कविता के प्रारम्भ का कारण बना। यहाँ 'नई कविता' शब्द का व्यवहार मैं अपनी ओर से कर रहा हूँ, उस समय उसका यह नाम प्रचलित नहीं था। प्रगतिवाद का आन्दोलन अवश्य प्रारम्भ हो गया था, पर सभी प्रगतिवादी कवि नई कविता के कवि नहीं थे। 'तारसप्तक' के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि नई कविता की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं, समाजवादी यथार्थवाद की और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की। और कुछ कवि ऐसे भी थे, जो इन दोनों प्रवृत्तियों का सामंजस्य चाहते थे। इन सभी नये कवियों में पूर्ववर्ती कविता को वस्तु-तत्त्व और रूप शिल्प, दोनों के प्रति विद्रोह की भावना थी। 'तारसप्तक' के सभी कवियों ने अपने वक्तव्यों में यह विद्रोह की भावना व्यक्ति की है। बदले हुए युग की नई परिस्थितियों की माँग थी कि कविता के स्वरूप में परिवर्तन होना चाहिए। वाजपेयीजी ने अपने 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि **"श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ काव्य-युग भी अपने समय पर विकसित होते हैं और उस समय के बीत जाने पर नई काव्य-शैलियां प्रवर्तित होती हैं। इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि छायावादी काव्य-धारा इतनी शीघ्र समाप्त क्यों हो गई।"** इस तरह वाजपेयीजी का यह स्पष्ट मत है कि छायावाद श्रेष्ठ काव्य होते हुए भी अपना जीवन जी चुका था और उसके बाद नई काव्य-धारा का उदय अवश्यम्भावी था। उद्दाम विद्रोह और बिलकुल नये प्रयोगों का काव्य होते हुए भी छायावाद जब अवरोह की ओर अग्रसर हुआ, उसकी नवीनता और ताज़गी समाप्त हो गई और उसकी अनुभूतियाँ, अभिव्यंजनाएँ और भाषा सब बासी और रूढ़िबद्ध हो गईं तो फिर नये विद्रोह और तज्जन्य नये प्रयोगों का प्रारम्भ हुआ। निष्कर्ष यह कि हिन्दी-कविता में रूढ़ियों से विद्रोह और नये प्रयोग की जो परम्परा पहले से चली आ रही थी, नई कविता ने भी उसे आगे बढ़ाया और इस तरह काव्य के नित्य नवीकरण के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि विद्रोह की प्रवृत्ति यदि स्वाभाविक और सोद्देश्य होगी तभी कोई कवि नित्य काव्य के नवीनीकरण की ओर अग्रसर हो सकेगा। यदि उसका

१. 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ३४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह प्रतिक्रियाजन्य या बौद्धिक फैशन के रूप में ऊपर से ओढ़ा हुआ है तो उसकी कविता की नवीनता भी उसके विद्रोह के शान्त होते ही समाप्त हो जायगी। साथ ही विद्रोह की सचाई ही वह कसौटी है जिससे यह पता चल सकता है कि कोई कवि वास्तविक रूप में नये प्रयोगों के माध्यम से काव्य का अभिनवीकरण कर रहा है या फैशन के रूप में दूसरों के प्रयोगों का अनुकरण कर रहा है। सच्चा विद्रोही कवि तो वह होता है जो दूसरों के तो दूर, अपने ही प्रयोगों की पुनरावृत्ति या अनुकृति नहीं करता। 'अज्ञेय' ने 'तारसप्तक' की भूमिका में इसी प्रवृत्ति को राहों का अन्वेषण कहा है और यह भी लिखा है कि **जो प्रयोग करता है उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।** वस्तुतः मोह के कारण ही रूढ़ियों का निर्माण या संरक्षण होता है। छायावादी कवियों में सबसे अधिक विद्रोही व्यक्तित्व 'निराला' का रहा है और यही कारण है कि 'निराला' ने सबसे अधिक प्रयोग किये और अपनी कविता के वस्तु-तत्त्व और शिल्प में निरन्तर नवीनता लाते रहे। यह प्रवृत्ति निराला के बाद प्रसाद और उसके बाद पन्त में दिखाई पड़ती है। अन्य छायावादी कवियों में यह प्रवृत्ति बिलकुल नहीं थी। परवर्ती छायावादी कविता के ह्रासोन्मुख होने का यही कारण था कि उसमें अनुकरण और पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति ही प्रधान हो उठी थी।

पहले कहा जा चुका है कि जब कवि के मन में नवीन कथ्य को, जो उसका अनुभूत सत्य होता है, अभिव्यक्त करने की व्याकुलता उत्पन्न होती है, और पूर्ववर्ती काव्य-पद्धति उस अनुभूत सत्य को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है तो कवि अभिव्यक्ति के नये माध्यमों—नई भाषा, नये शिल्प—की खोज करता है। इस तरह काव्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में नये प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु बाह्य रूप में किये गए प्रयोगों पर ही पाठकों की दृष्टि पहले जाती है, इस कारण सामान्यतः अभिव्यंजना की नवीन पद्धतियों को ही प्रयोगशीलता मान लिया जाता है। इन नवीन पद्धतियों में से जो व्यापक रूप से स्वीकृत कर ली जाती हैं, उन्हें ही सफल प्रयोग माना जाता है और बाद में तो लोग उनके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें प्रयोग के रूप में देखते ही नहीं हैं। किन्तु पद्धति-सम्बन्धी कुछ प्रयोग ऐसे भी होते हैं जिनका अनुकरण करना सरल नहीं होता। ऐसे प्रयोगकर्ता कवियों को ही सामान्यतः असली प्रयोगशील कवि माना जाता है। पर अधिकतर ऐसे प्रयोग असफल प्रयोग या केवल प्रयोग के लिए प्रयोग ही होते हैं। ऐसे प्रयोगकर्ता विरले ही होते हैं, जिनके प्रयोग अत्यन्त विचित्र, दुरूह और अनुकरणीय भी हों, पर जो अपने कथ्य की महानता तथा आत्माभिव्यक्ति की सचाई के कारण महान् कवि या लेखक माने जाते हों। अंग्रेजी में टी० एस० इलियट पहले प्रकार का प्रयोगशील कवि है जिसकी अभिव्यंजना-पद्धति को वहाँ के परवर्ती कवियों ने बहुत-कुछ स्वीकृत कर लिया; पर एजरा पाउण्ड और कमिंग्ज के प्रयोग आगे नहीं चले। जेम्स-ज्वायस के उपन्यासों के प्रयोगों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखाई पड़ती है। पर इसके कारण इन प्रयोगशील लेखकों का महत्त्व कम नहीं माना जाता। इसी प्रकार हिन्दी में छायावादी कवियों में 'निराला' और 'प्रसाद' ने मुक्त-छन्द-सम्बन्धी जो प्रयोग किये वे तो बाद में स्वीकृत कर लिये गए, पर 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा', 'सरोज-स्मृति' और 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविताओं में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किये गए हैं उनका अनुकरण कोई कवि नहीं कर सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु अभिव्यञ्जना-पद्धति-सम्बन्धी प्रयोग को सफल प्रयोग तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि कथ्य या अनुभूत सत्य में ऐसी नवीनता न हो जिसकी बाध्यता के कारण कवि को वह नई पद्धति अपनानी पड़ी हो। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का वक्तव्य पहले उद्धृत किया जा चुका है जिसमें उन्होंने किसी रचना में चमत्कार और कलात्मक विशेषता लाने के लिए किये गए प्रयोगों के मूल में कथ्य-सम्बन्धी मौलिक तत्त्वों का होना अनिवार्य बताया है। जिन प्रयोगों के पीछे वे तत्त्व नहीं होते वे फैशन के रूप में भौंडे अनुकरण-मात्र होते हैं। फिलिप टॉयनबी ने अपने 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' शीर्षक निबन्ध में लिखा है: **"सचाई यह है कि उपन्यास के क्षेत्र में अब तक किये गए पद्धति-सम्बन्धी प्रयोगों का विश्लेषण करना व्यर्थ ही होगा यदि हम उनके माध्यम से उनके मूल में निहित उन तत्त्वों पर विचार नहीं करते, जो उन पद्धति-सम्बन्धी प्रयोगों से कई गुना अधिक महत्त्व के होते हैं।.....यह तो सर्वविदित है कि अभिव्यंजना-पद्धति और उसके पीछे काम करने वाले तत्त्व अविच्छेद्य हैं, किन्तु यदि हम आलोचक हैं तो इस अविच्छेद्यता की जानकारी के बावजूद हमें दोनों में अन्तर अवश्य करना चाहिए। मेरे विचार से वह अन्तर यह है कि किसी गम्भीर लेखक के दिमाग में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कोई काम कैसे किया जाय, यह प्रश्न उतने महत्त्व का नहीं है जितना यह है कि क्या किया जाय और क्यों किया जाय?"**[1] यदि लेखक अपने कार्य के उत्तरदायित्व और उद्देश्य के महत्त्व को भली भाँति जानता है तो उसकी अभिव्यञ्जना-पद्धति की नवीनता या प्रयोगशीलता भी सार्थक और सफल होगी और यदि उसका उद्देश्य सस्ती लोक-रुचि का अनुसरण करके यश और धन पैदा करना अथवा केवल चौंकाकर या पूर्व परम्परा का अनादर करके नाम कमाना (बदनाम होकर ही सही !) है तो उसका कार्य अनुत्तरदायित्वपूर्ण माना जायगा, चाहे उसकी अभिव्यञ्जना-पद्धति रूढ़ि-बद्ध हो अथवा प्रयोगशील। इस तरह, प्रयोगों के पीछे काम करने वाले उद्देश्य और प्रयोग-कर्त्ता का उत्तरदायित्व-निर्वाह ही वह कसौटी है जिस पर उसके प्रयोगों की परीक्षा की जा सकती है।

सभी प्रयोगशील लेखक यह कहते हैं कि उनके प्रयोगों का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है। किन्तु जो लेखक प्रयोगशील नहीं हैं, वे भी तो अपनी रचना का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति ही बताते हैं। यदि पुरानी पद्धतियों से भी आत्माभिव्यक्ति हो जाती है, तो फिर नये प्रयोगों की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में अपने वक्तव्य

---

१. "For the truth is that an examination even of past method is of no general interest unless it is used as a means of discussing the infinitely more important elements which lie behind method .....we know all about the inseperability of method from those other elements which lie behind it, but if we are critics we had better beware of knowing too much about it. It is our job to make these distinctions even if we try to obliterate them afterwards, and simple distinction which I would make is that the 'how to do something' must de subordinate in the serious writer's mind to the 'wha to do' and the 'why to do'.—'London Magazine', May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस प्रकार दिया है : **"कवि क्रमशः यह अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको भेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि यह उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"** हिन्दी में नई प्रयोगशील कविता के पुरस्कर्ता अज्ञेय हैं, किन्तु उनके इस वक्तव्य ने नई कविता को लाभ नहीं, हानि ही पहुँचाई है। सच्चे प्रयोगकर्ता कवि का यह उद्देश्य नहीं होता कि जिन क्षेत्रों में अब तक प्रयोग न हुए हों, उनका अन्वेषण होना चाहिए। यह तो शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में किये जाने वाले प्रयोगों अथवा शोध-कार्यों का उद्देश्य होता है। उलझी हुई संवेदना की सृष्टि वाली बात भी उतनी ही भ्रामक है। सच्चा कवि अपने प्रयोगों द्वारा उलझी हुई संवेदनाओं की सृष्टि नहीं करता, बल्कि जगत् की जटिलताओं और उलझी हुई संवेदनाओं के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश उत्पन्न करता है। टी० एस० इलियट की 'वेस्टलैण्ड' और 'हॉलो मैन' शीर्षक कविताएँ इसका प्रमाण हैं। ऊपर अज्ञेय ने भाषा-सम्बन्धी जिन प्रयोगों की बात कही है, वे अंग्रेज़ी के उपन्यासकार जेम्स ज्वायस में सबसे अधिक मिलते हैं, पर जेम्स ज्वायस भी उद्देश्यहीन अथवा अन्वेषण के लिए अन्वेषण करने वाला लेखक नहीं है। वस्तुतः काव्य में प्रयोग या अन्वेषण का यह अर्थ होता है कि कवि ने कुछ ऐसे सत्यों को आयत्त किया है, जिन्हें वह परम्परागत पद्धति या भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर सकता, इसलिए वह नये माध्यमों का सहारा लेता है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के सम्पादकीय या अपने वक्तव्य में इस उपलब्ध सत्य की, जो प्रयोगों के मूल में निहित होता है, कहीं चर्चा नहीं की है। इसके विपरीत उन्होंने तो प्रयोगशीलता को ही कसौटी मान लिया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वे प्रयोग के लिए प्रयोग को ही अपना साध्य मानते हैं।

दूसरे सप्तक की भूमिका में उन्होंने अपने को कुछ सुधारने का प्रयास करते हुए लिखा है : **"तो प्रयोग अपने-आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है; दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है।"** इस वक्तव्य में ध्यान देने की बात यह है कि इसमें 'तारसप्तक' से आगे बढ़कर केवल शिल्प के प्रयोग (राह का अन्वेषण) की ही नहीं, वस्तु के प्रयोग की बात भी कही गई है। पर यहाँ भी अज्ञेय का आग्रह वस्तु के भीतर निहित कवि के अनुभूत सत्य पर उतना नहीं है, जितना वस्तु में किये जाने वाले प्रयोग पर है। वस्तु और शिल्प दोनों में किये जाने वाले प्रयोगों के पीछे मौलिक दृष्टि और उसके द्वारा उपलब्ध नये सत्य की प्रेरणा काम करती है, इसकी ओर अज्ञेय जी का ध्यान नहीं गया है। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि प्रयोगों द्वारा ही कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है। प्रयोग द्वारा उपलब्ध सत्य को औरों तक पहुँचाने में सुविधा होती है, यह तो ठीक है; पर उनसे कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, यह बात तो उलटी-सी है। जब नये प्रयोगों द्वारा नये सत्यों का सम्प्रेषण होता है, तो फिर कवि के अपने सत्य को जानने की बात कहाँ से उठती है? बिना सत्य को पहले जाने वह प्रयोग करेगा ही किसलिए? यदि अज्ञेय जी के उक्त कथन का तात्पर्य यह हो कि कवि का वस्तु-सम्बन्धी नये क्षेत्रों और नई दिशाओं में पहुँचने का प्रयत्न करना भी प्रयोग ही है, तो बात दूसरी है। पर वस्तु-सम्बन्धी नई दिशाओं में पहुँचने और नये सत्यों की उपलब्धि करने के बाद ही कवि अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी नये प्रयोग करता है। इसलिए यह कथन भ्रामक है कि प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है।

कोई लेखक प्रयोग क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर फिलिप टायनबी ने अपने निबन्ध 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' में इस प्रकार दिया है : **"आज का उपन्यासकार प्रयोग इसलिए करता है कि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सत्यों को आयत्त किया है, जिनकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी ने नहीं की है। यह उत्तर प्रथम दृष्टि में बहुत ही सतही प्रतीत होगा, क्योंकि कहा जा सकता है कि हर युग के गम्भीर उपन्यासकार का यही उद्देश्य रहता आया है और इस उत्तर में कोई नई बात नहीं है। किन्तु मेरे उत्तर में अपेक्षाकृत नवीनता यह है कि उसमें 'हमारी वर्तमान स्थिति' पर विशेष जोर दिया गया है। हमारे युग के पक्ष या विपक्ष में चाहे जो-कुछ कहा जाय, किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह उन युगों में से नहीं है, जिनसे हम सम्मानपूर्वक या स्वाभाविक रूप में अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं।"**[1] जो बात यहाँ उपन्यास के सम्बन्ध में कही गई है, वही कविता पर भी लागू होती है। कविता में भी प्रयोग की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि एक विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में कवि कुछ ऐसे सत्यों की उपलब्धि करता है, जिन्हें पूर्ववर्ती युगों के कवि अपने युग की सीमाओं के कारण नहीं कर सके थे। उन पूर्ववर्ती कवियों ने अपने उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति जिन साधनों—छन्द, भाषा, अप्रस्तुत योजना आदि—द्वारा की थी, वे नये युग की बदली हुई परिस्थितियों में उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए असमर्थ या अधूरे प्रतीत होने लगते हैं। युग-परिवर्तन के साथ जीवन के भौतिक उपकरणों में तो परिवर्तन होता ही है, वे भौतिक परिवर्तन मनुष्य के मन, उसके रागात्मक सम्बन्ध और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि को भी बदल देते हैं। अतः पुरानी रीति-नीतियों और सम्बन्धों से बँधा रहना उसके लिए सम्भव नहीं रह जाता। ऐसी परिस्थिति में परिवर्तित जीवन-दृष्टि वाले कवि की अनुभूतियाँ और सौन्दर्य-बोधात्मक संवेदनाएँ पूर्ववर्ती

१. "And the answer must surely be that it is because he believes that he has uuderstood something about our present condition which has not been expressed by any body else. The answer may seem a flat one at first, it might be said that this was always the intention of the serious novelist and that there is nothing new in it. But what is, I beleive comparatively new in the answere I have given is the insistence on the words 'our present condition'. Whatever may be said in favour or against our own time, it is clearly not one of those periods from which we can respectably or naturally dissociate ourselves."

Experiment and the Future of Novel London Magazine—May 1956.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगों के कवियों की अनुभूतियों और संवेदनाओं से भिन्न होती हैं। परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में चेतना की सीमाएँ भी विस्तृत हो जाती हैं, ज्ञान-विज्ञान के असीम क्षेत्र सामने आये हुए रहते हैं, जिनके कारण पुराने नैतिक मूल्य विघटित या निरर्थक हो जाते हैं और उनकी जगह नये मूल्य निर्मित होते या निर्माण के क्रम में रहते हैं। इस स्थिति में कवि का यह दायित्व होता है कि वह युगानुरूप अपनी चेतना का विस्तार करे और नये जीवन-मूल्यों को पहचानकर, उन्हें आत्मसात् करके, इस प्रकार उनकी अभिव्यक्ति करे कि उसका कथ्य दूसरों तक अपने वास्तविक रूप में सम्प्रेषित हो सके। इस तरह अपने कथ्य या अनुभूत सत्य को सहज प्रेषणीय बनाने के लिए ही कवि अभिव्यक्ति के साधनों में प्रयोग करता है। अतः कवि द्वारा उपलब्ध, युग-सापेक्ष्य सत्य ही वह मूल तत्त्व है, जो प्रयोग को सम्भव और सफल बनाता है।

प्रयोग के उद्देश्य के सम्बन्ध में अज्ञेय के विचारों के कुछ और विश्लेषण की आवश्यकता है। कवि के अनुभूत सत्य के बारे में 'तारसप्तक' और 'दूसरे सप्तक' में उन्होंने जो-कुछ लिखा है उसमें परस्पर-विरोध दिखाई पड़ता है। 'तारसप्तक' में उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है : "**जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय—यह पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएं हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है–इत्यादि।**" इस वक्तव्य में लेखक का ध्यान केवल अभिव्यञ्जना पर ही केन्द्रित है। यदि अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी प्रयोग ही नये कवि की पहली समस्या हो तो उससे किसी महान् सत्य की उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः मूल समस्या युग-सापेक्ष्य सत्य की उपलब्धि की है। वह सत्य यदि छोटा, घटिया, असामाजिक और अधोन्मुखी है तो प्रथमतः तो वह सत्य ही नहीं है, दूसरे उसकी अभिव्यक्ति के लिए किये गए प्रयोग, चाहे वे कितने भी नवीन और चमत्कारपूर्ण क्यों न हों, किसी काम के नहीं माने जायँगे। दूसरे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय के विचार बदल गए हैं और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अनुभूत सत्य की महत्ता पर ज़ोर देते हुए लिखा है—"**केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन चाहे उसमें जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। ·····इस प्रकार प्रयोग का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हो, दूसरों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का।**" इस तरह दूसरे सप्तक में उन्होंने स्वीकार कर लिया है कि कवि के उपलब्ध सत्यों का जितना महत्त्व है उतना काव्य के शिल्प या टेकनिक में किये गए प्रयोगों का नहीं।

किन्तु उस सत्य की महत्ता स्वीकार करते हुए भी अज्ञेय ने दूसरे सप्तक में उसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया है। वह अनुभूत सत्य कवि के समकालीन युग-जीवन से किस प्रकार सम्बन्धित होता है, इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। कवितर, यदि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची कविता है तो, युग की चेतना से विच्छिन्न नहीं रह सकती। इसका कारण यह है कि कवि सामान्य लोगों से अधिक संवेदनशील होने के कारण अपने परिवेश के साथ निकटतम सम्पर्क बनाये रखकर उसकी क्रियाशीलता से निरन्तर स्पन्दित होता रहता है। एफ़० आर० लीविस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"कवि अपने समय में अपने समाज का सर्वाधिक सचेत व्यक्ति होता है। किसी विशेष युग की मानवीय अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता कुछ थोड़े-से व्यक्तियों में ही होती है और कोई महत्त्वपूर्ण कवि महत्त्वपूर्ण इसीलिए होता है कि वह भी उन्हीं थोड़े-से व्यक्तियों में से होता है (और साथ ही उसमें उन अनुभूतियों को औरों तक प्रेषित करने की क्षमता भी होती है।) निश्चय ही उसकी अनुभूति की क्षमता और अभिव्यक्ति की शक्ति, ये दोनों अविच्छेद्य होती हैं। यदि किसी युग की कविता और उस युग की बौद्धिक चेतना में परस्पर कोई सम्पर्क न रह जाय, तो उस युग की कविता भी महत्त्वहीन हो जायगी और वह युग भी सूक्ष्मतर कलात्मक ज्ञान से वंचित रह जायगा।"**[1]

अतः यह निर्विवाद है कि नई कविता की नवीनता इस युग की बौद्धिक चेतना के सम्पर्क और उसके प्रभाव के कारण ही है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखा है: **"आधुनिक युग का साधारण मनुष्य यौन-वर्जनाओं का पुञ्ज है। उसके जीवन का एक पक्ष है, उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा; जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विकसित नहीं हुई; और दूसरा पक्ष है स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति, जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।···और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह और व्यक्ति-समूह का, वर्ग और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है।"**

अज्ञेयजी के उपर्युक्त वक्तव्य पर आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह सही है कि आधुनिक युग के मानव को फ्रायड और मार्क्स की विचार-धाराओं ने बहुत अधिक प्रभावित किया है और अंग्रेज़ी के बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के कवियों पर इन दोनों दर्शनों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। किन्तु आधुनिक विश्व इनसे भी अधिक विज्ञान के विविध आविष्कारों—ध्वंसात्मक

१. "Poetry matters because of the kind of poet who is more alive than other people, more alive in his own age. He is, as it were, at the most conscious point of the race in his time..... The potentialities of human experience in any age are realized only by a tiny minority, and the important poet is important because he belongs to this (and has also, of course, the power of communication). Indeed, his capacity for experiencing and his power of communicating are indistinguishable. But if the poetry and intelligence of the age lose touch with each other poetry will cease to matter much and the age will be lacking in finer awareness."
F. R. Leavis, 'New Bearings in English Literature', Page 13-14.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निर्माणात्मक दोनों—से प्रभावित हुआ है। विज्ञान ने मनुष्य को एक ओर तो प्रकृति तथा धर्म के बन्धनों से मुक्त किया है, किन्तु दूसरी ओर पूँजीवाद को जन्म देकर तथा भयंकर युद्धों को सम्भव बनाकर दुःख और निराशा के अन्धकार में ढकेल दिया है। मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्सवाद मनुष्य की उसी वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं; किन्तु उसकी चेतना इन्हीं दोनों तक सीमित नहीं है। जहाँ यान्त्रिक भौतिकता ने मनुष्य को ईश्वर की ओर से विमुख करके स्थूल भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर किया है वहीं सूक्ष्मतम वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप मनुष्य सृष्टि के अभेद्य और अज्ञेय सत्यों को भी जानने और जड़ के भीतर भी चेतना का पुनः दर्शन करने लगा है। युद्धजन्य महानाश के परिणाम-स्वरूप यूरोप में एक ओर यदि अस्तित्ववाद-जैसे घोर निराशवादी और नियतिवादी दर्शन का विकास हुआ है तो दूसरी ओर मानवतावाद पर आधारित नवीन कैथालिसिज्म का भी जोर बढ़ रहा है। अणु बम और उद्जन बम वाले इस युग में मानव एक-दूसरे से जितना अधिक सम्बद्ध हो गया है, उतना इसके पहले कभी नहीं था; और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी प्रकार की पसन्दगी और नापसन्दगी के बावजूद आज समाज से जितना अधिक बँध गया है उतना इसके पहले कभी नहीं बँधा था। ऐसे युग में किसी भी नियतिवादी, निराशावादी, व्यक्तिवादी अथवा पलायनवादी दर्शन को विशेष महत्त्व मिलेगा, ऐसी सम्भावना नहीं है। मनुष्य को उसके समग्र रूप में देखना और उसे विश्व इकाई का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानना ही आज का वैज्ञानिक जीवन-दर्शन है। इस नवीन सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाकर चलने से ही नई कविता युग-चेतना की सच्ची अभिव्यक्ति कर सकती है। फ्रायड के जिस दमित वासना वाले सिद्धान्त का उल्लेख अज्ञेय ने किया है वह मनोविश्लेषण-शास्त्र के क्षेत्र में ही अब अमान्य और खण्डित हो गया है। उसी तरह वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की जगह अब शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्तों को अधिक मान्यता मिलने लगी है। गांधीवादी दर्शन ने भी विश्व-चेतना को बहुत अधिक प्रभावित किया है। अतः नई कविता के कवि का यह कर्तव्य है कि वह इन नित्य परिवर्तनशील सिद्धान्तों और जीवन-मूल्यों के साथ-साथ अपनी चेतना का विस्तार करता चले और इसी विस्तृत युग-चेतना की पट-भूमि में अपने अनुभूत-सत्यों की अभिव्यक्ति करे। अज्ञेय ने आधुनिक युग के साधारण मनुष्य को यौन-वर्जनाओं का पुञ्ज कहकर आधुनिक मनुष्य की चेतना की परिधि को बहुत सीमित कर दिया है। सम्भवतः आज का कोई भी सचेत और प्रतिभाशाली कवि अपने भाव और विचार के क्षेत्र को इतना छोटा करना पसन्द नहीं करेगा। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने मनुष्य के मन और व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित जो नवीन ज्ञान दिया है, काव्य के रूप-शिल्प में उसका उपयोग किया जाय तो आधुनिक युग के उपलब्ध सत्यों की अभिव्यक्ति में कवि को सुविधा ही होगी; किन्तु यदि कोई कवि मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों को आदर्श या अपने कथ्य का प्रमुख अंग बना लेता है तो उसकी काव्यात्मक ईमानदारी में सन्देह किया जा सकता है। यही बात मार्क्सवादी सिद्धान्तों को स्थूल रूप में और कट्टरता के साथ अपनाकर काव्य-रचना करने वालों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रयोग को आज का कवि भी कवि-कर्म का आवश्यक अंग मानता है; क्योंकि उसने इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य को समझ लिया है कि आज की नित्य परिवर्तनशील वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य के रूप-शिल्प में भी सतत परिवर्तन या प्रयोग करते रहने की आवश्यकता है और आत्माभिव्यक्ति का अर्थ पुनरुक्ति या अपने को दुहराना नहीं है। आत्म-सचेतनता वह शक्ति है जो कवि को उसकी पिछली कृतियों से ही सन्तुष्ट नहीं रहने देती, बल्कि आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रहती है। टी०एस० इलियट ने अपनी एक बहुत बाद की कविता 'फोर क्वार्ट्ट्स' में निरन्तर प्रयोग करने की इस प्रवृत्ति के मूल में निहित अपनी आत्म-सचेतनता के बारे में लिखा है : **"जब मैं यहाँ अपने मार्ग के मध्य में पहुँच गया हूँ तो ऐसा लगता है, इस मार्ग में बीस वर्ष मैंने व्यर्थ ही खोये हैं। इस अवधि में मैं शब्दों का प्रयोग करना सीखने का प्रयत्न करता रहा हूँ। मेरा प्रत्येक प्रयत्न एक नया प्रारम्भ होता रहा है तथा एक भिन्न प्रकार की असफलता में उसकी परिणति होती रही है। इसका कारण यह है कि ऐसे प्रयत्नों द्वारा हम केवल शब्दों में अधिकाधिक अर्थ भरना सीखते हैं और यह नहीं देखते कि हम जो बातें कह रहे हैं वे पहले ही कही जा चुकी हैं अथवा जो अभिव्यंजना-पद्धति अपना रहे हैं, वह भी पहले ही प्रयुक्त हो चुकी है। और इसी कारण मेरा प्रत्येक प्रयास एक नया प्रारम्भ-अव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए एक नया अभियान होता रहा है। मेरे अभियान के साधन भी अपरिमार्जित रहे जिससे उसकी परिणति सदैव असंक्षिप्त भावों और अननुशासित संवेदनाओं की राशि के रूप में ही होती रही है। मैं यह देखता रहा हूँ कि जिस लक्ष्य तक मुझे अपनी शक्ति और विनम्रता से पहुँचना है उस तक लोग एक-दो या कई बार पहले ही पहुँच चुके हैं, किन्तु ऐसे लोगों से हमारी कोई होड़ नहीं है। हमारा अभियान तो उस वस्तु की पुनः प्राप्ति के लिए है जो बार-बार खोकर पाई, और पाकर खोई जा चुकी है।"[1]**

इस वक्तव्य से यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच इलियट ने जीवन-भर कोई नई बात नहीं कही। एक दृष्टि से देखा जाय तो कला या साहित्य में बिलकुल नई बात

1. "So here I am in the middle way having had twenty years
Twenty years largly wasted.....
Trying to learn to use words, and every attempt
Is a wholly new start, and a different kind of failure
Because one has only learnt to get the better of words
For the thing one no longer has to say, or the way in which
One is no longer disposed to say it. And so each venture
Is as new begining, a raid on the inarticulate
With shabby equipment always deteriorating.
In the general mess of imprecision of feeling,
Undesciplined squads of emotion. And what there is to conquere
By strength and submission, has already been discovered
Once or twice or several times by men whom one cannot hope
To emulate-but there is no Competition—
There is only the fight to recover what has been lost
And found and lost again and again."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कोई होती ही नहीं। कलाकार की मौलिकता उसकी कृति की ऐसी विचित्रता में नहीं होती जो सहृदय के लिए अपरिचित या अज्ञात हो, बल्कि पुरानी या परिचित वस्तु के इस ढंग से प्रस्तुत करने में होती है जिससे वह बिलकुल नई प्रतीत हो। मनुष्य का स्वभाव है कि वह पुरानी और अति परिचित वस्तुओं से थक या ऊब जाता है जिससे उनकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता या जान-बूझकर वह उनकी ओर से अपना ध्यान हटा लेता है। किन्तु साथ ही वह बिलकुल विचित्र और अपरिचित वस्तुओं से भी अपना रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाता। भले ही थोड़ी देर के लिए उनसे आश्चर्य-चकित होकर अपना मनोरंजन कर ले। अतः प्रकृतिस्थ (Normal) मनुष्य परिचित और अपरिचित, ज्ञात और अज्ञात अथवा प्राचीन और बिलकुल नवीन के सामञ्जस्य में ही रस लेते हैं और कवि की मौलिकता या नवीनता इसीमें है कि वह परिचित को अपरिचित तथा अपरिचित को परिचित रूप देकर उपस्थित करें। जान लिविंगस्टन लोवेस ने इस सम्बन्ध में बहुत ठीक लिखा है कि हम लोग नवीन वस्तु के लिए उत्सुक तो अवश्य रहते हैं, किन्तु हमारा जोर इस बात पर भी रहता है कि जो परिचित है, जो बिलकुल अपना है, उससे भी उस वस्तु का सम्बन्ध अवश्य बना रहे; हम पुराने को तो चाहते हैं, पर चाहते हैं कि वह किसी-न-किसी रूप में नया प्रतीत हो।[1] इलियट ने अपने पूरे काव्य में यही किया है; क्योंकि वह परम्परा-विच्छिन्नता को उचित नहीं मानता और युग-सत्य की अभिव्यक्ति करते हुए भी काव्य के युगातिक्रमण पर जोर देता है।[2] किन्तु साथ ही वह निरन्तर प्रयोग करने में भी विश्वास रखता है। उसका उपर्युक्त वक्तव्य इस बात का संकेत करता है कि सच्चे कवि में बिलकुल नई बात कहने की व्याकुलता अवश्य रहती है, किन्तु वह शाश्वत सत्यों को ही नये, युगीन सन्दर्भ में रखकर नये प्रयोगों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। काव्य के अभिनवीकरण का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं होता।

---

१. "We are keen for the new but we insist that it establish some connection with what is friendly and our own; we want the old but we want it to seem somehow new."—'Convention and Revolt in Poetry', Page 63.

२. "It is part of the business of the critic to preserve tradition where a tradition exists. It is part of his business to see literature steadily and to see it whole; and this is eminently to see it not as consecrated by time, but to see it beyond time; to see the best work of our time and the best work of twenty five hundred years ago with the same eye." 'The Sacred Wood', Introduction, Page 15-16.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजेन्द्रप्रसाद सिंह

नवीन विकास-बोध के चार आयाम

सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के प्रथम और प्रायः द्वितीय चरण तक इतिहास-दर्शन की विचार-धारा में चक्रवादी और रेखावादी कूलों के कई नाम निश्चित हुए, उनकी कितनी ही विशिष्टताएँ निरूपित हुईं, पर मानवीय विकास का प्रवाह उन्नीसवीं शताब्दी के बाद सम्पूर्णता की समन्वित (Integral) दृष्टि से ही ग्रहण किया गया और उसकी मूल प्रेरणा-शक्ति को ही विकास-बोध का केन्द्र तथा उसकी स्वभाव-सीमा और दायित्व-रेखा को विकास परिधि माना गया है। इस अर्थ से मानवीय विकास-बोध की आधुनिक प्रगति के अन्तर्गत बीसवीं शती के विचारकों में, जिनके अनुसार जो केन्द्रीय और परिधीय तत्त्व सिद्ध हो सकते हैं, उनका संकेत यों किया जा सकता है। मानवीय विकास में केन्द्र और परिधि क्रमशः—विलियम जेम्स के अनुसार 'उपयोग और समन्वय', फ्रायड के अनुसार 'वैयक्तिक अवचेतन और समंजस मनोठगन', वर्गसाँ के अनुसार अन्तर्बोध (Intuition) और कालावधि (Duration) तथा वाइटहेड के अनुसार प्रक्रिया (Process) और सर्वांग संघटन (Organism) है, जिनके बीच व्यक्ति, समाज और इतिहास का विकास हुआ है।

विभिन्न दृष्टिकोणों से मानवीय विकास की सम्पूर्णता का बोध प्रस्तुत करने वाले इन विचारकों ने विकास की प्रगति को एक समन्वित महा शक्ति के रूप में स्वीकार किया, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति और समाज का ही एका नहीं, समस्त काल-खण्डों का और विश्व-विधान का भी एका निरूपित हुआ। समाज-दर्शन, मनःशास्त्र और समस्त विज्ञानों की नवीन शोधों से प्रमाणित हुआ कि मार्क्स और नीत्से के अतिवादी मध्यान्तर-काल की स्थापनाएँ एकांगी थीं; जिनसे आगे बढ़कर स्वीकार करना चाहिए कि 'भाव' को उदारतापूर्ण 'उपयोग' में लाकर 'सत्य' बनाने के लिए—श्रेष्ठ बनाने के लिए अभिलाषा और आदर्श का समन्वय हो, वैयक्तिक अवचेतन की विकृतियों के द्वारा फलीभूत समाज की प्रतिक्रियात्मक विषमता दूर करने के लिए व्यक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण मनोगठन हो, अन्तर्बोध के द्वारा परिष्कृत होकर तार्किक जीवन, प्रवृत्तियों का उचित सन्तुलन करे—परिवर्तनों के बीच अपने सातत्य (Continuity in change) को व्यापकता के रूप में पहुँचाने और विश्व-व्यापी प्रक्रिया में अपने को गुम्फित समझकर प्रत्येक व्यक्ति या इकाई, अपने पृथकत्व का संकीर्ण भाव त्याग दे और 'सर्वांग संघटन' (Organism) के प्रति सहज ही समर्पित होकर व्याप्ति को सार्थक करे। मानवीय विकास-बोध के इस नवीन धरातल ने आधुनिक सभ्यता के नवीन युग की पृष्ठ-भूमि बनाई है, जिस पर आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा और उसके नये विश्वासों का संघटन हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा उसके नवीन विश्वासों और उपलब्धियों के द्वारा निरूपित हो रही है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण का आरम्भ होते ही वह 'विश्लेषण का युग' समाप्त होने लगा, जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इतिहास, समाज और व्यक्ति के अन्तःसूत्रों की जाँच और खोज करने लगा था और जिसकी धारा में प्रगति लाने वाले विचारकों ने 'सर्वांग संघटन' के पहलुओं का विभाजन करके उनमें प्रत्येक का विलग अध्ययन किया, प्रत्येक की विशेषताओं का वर्गीकरण, सम्बन्धों का निरूपण और आधारों का अन्वेषण किया और सभ्यता-संस्कृति का विस्तृत विश्लेषण करके व्यक्ति और समाज के नवीन मूल्यों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महत्त्व निर्दिष्ट किया। अवश्य ही, 'विश्लेषण का युग' समाप्ति की ओर अग्रसर होने के क्रम में ही, अपनी परिणति भी प्रकट करने लगा, और उसकी सर्वतोमुखी उपलब्धियों से मानव-सभ्यता के नये विकास की दिशा आभासित होने लगी, उसके नवीन केन्द्रस्थ विश्वास और परिधिगत मूल्यों के आयाम परिलक्षित होने लगे। विगत युगों के दाय, आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से संचालित यह वर्तमान बीसवीं शताब्दी का 'संक्रमण-काल' है। प्रस्तुत 'संक्रमण-काल' आधुनिक सभ्यता के वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों में व्याप्त है, जिनमें प्रत्येक के अन्तर्गत वे सम्बन्धित दाय, परिणति और विकास-प्रेरणाएँ जीवन्त हैं। इस तथ्य का एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से आरम्भ होने वाले प्रस्तुत 'संक्रमण-काल' (Transit Period) का वैज्ञानिक आयाम आइन्सटीन से सर्वाधिक प्रभावित है। आइन्स्टीन की मान्यताएँ मूलतः अभूतपूर्व हैं और उनके प्रभाव भी सभ्यता के सभी पहलुओं पर छा गए हैं, साथ ही उनके आधार पर मानवीय विकास का भविष्य विराट् दीखता है।

यों तो वाइटहेड ने ही स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्येक यथार्थ इकाई (Actual entity) एक आंगिक प्रक्रिया (Organic Process) के रूप में ही ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि वह सूक्ष्म जगत् में उसी विश्व-व्यापी स्थिति को दुहराती है, जो विराट् जगत् में होती है;[1] और सारा विश्व ऐसी प्रक्रियाओं का सम्मिलित अभियान है, जिसके अनुसार वाइटहेड के संकेत से ही विश्व-व्यापी 'सापेक्षता' काल-व्यापी 'निरवच्छिन्नता' आदि का आभास मिल रहा था; किन्तु आधुनिक दर्शन के जिस दायित्व को स्पष्ट करते हुए उसने दर्शन और विज्ञान की पृथक् विश्वानुभूतियों का ऐक्य प्रस्तावित किया, उसकी पूर्ति आइन्स्टीन ने की।

आइन्स्टीन (१८७९-१९५५) के प्रसिद्ध 'सापेक्षतावाद' का परिचय देते हुए बर्ट्रण्ड रसल ने लिखा है—"सापेक्षतावाद के सिद्धान्त में दार्शनिकों के लिए महत्त्वपूर्ण बात है 'देश' और 'काल' के बदले मात्र 'दिक्काल' की स्थापना। सामान्य ज्ञान से प्रतीत होता है कि व्यक्त जगत् 'वस्तुओं' से बना है, जो 'काल' की एक निश्चित 'अवधि' में उपस्थित और 'देश' (Space) में गतिशील रहती हैं। दर्शन और प्रकृति-विज्ञान ने 'वस्तु' की धारणा को 'भौतिक पदार्थ' की धारणा में बदल दिया और 'भौतिक पदार्थ' की बाबत विचार हुआ कि वह कुछ ऐसे तत्त्वांशों (Particles) से बना होता है, जिनमें प्रत्येक अत्यन्त लघु और सम्पूर्ण काल के प्रवाह में क्रियाशील है। आइन्स्टीन ने 'तत्त्वांशों' के बदले 'संयोगों' (Events) की

१. वाइटहेड, 'प्रोसेस एण्ड रियैलिटी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति दी और प्रत्येक 'संयोग' का प्रत्येक 'संयोग' से एक पारस्परिक सम्बन्ध माना, जिसे उसने अवकाश (Interval) कहा, जिसका विभिन्न प्रकार से, काल-तत्त्व (Time element) और 'देश-तत्त्व' में विश्लेषण किया जा सकता है।"[1]....."इस प्रकार 'भौतिक पदार्थ' किसी सर्वोपरि विश्व-पदार्थ का अंश नहीं है, वरन् 'संयोगों' के पुञ्ज का सहज संकलन है।"[2] आइन्स्टीन के 'सापेक्षतावाद' से ज्ञात होता है कि अनुस्यूत तत्त्व 'दिक्काल' (Space-Time) की रूप रेखा पर 'भौतिक पदार्थ' या 'संयोग' अपना प्रभाव अंकित कर देता है और इसीलिए देश, काल और पदार्थ परस्पर स्वतन्त्र नहीं, सन्निकट सम्बन्ध हैं; इसीलिए कोई अस्तित्व, मात्र गतिहीन (Static) या गतिशील (Dinamic) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह दृष्टिकोण के गतिहीन या गतिशील आधार पर निर्भर है। अन्य सापेक्षतावादियों के अनुसार भी प्रत्येक परिवर्तन और गति 'सापेक्ष' होती है और फलतः उसके मूल्य (Values) समीक्षा-दृष्टि के परिवर्तन से बदल जाते हैं। सिद्ध होता है कि निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) कुछ भी नहीं है, सत्य सापेक्ष होता है और द्रष्टा के दृष्टिकोणाधार पर निर्भर रहता है। आइन्स्टीन गणित से सिद्ध करता है कि विस्तार को वस्तु के बदले संयोगों के सम्बन्ध में मापा जा सकता है, जिनमें देश और काल अविच्छिन्न हैं।

आइन्स्टीन के 'चार आयाम'-सम्बन्धी सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि 'दिक्काल' और उससे सम्बद्ध 'संयोग' के चार आयाम (Four Dimensions) होते हैं, जिनमें तीन तो 'दिक्' (Space) के आयाम हैं—लम्बाई, चौड़ाई और सघनता, पर एक 'काल' का भी आयाम है, जो ऋजु (Straight) तो है, पर किसी दिशा में नहीं, अपनी ही व्याप्ति में है। अतः 'काल' स्वयं ही चौथा आयाम (Fourth Dimension) कहा जा सकता है।[3]

आइन्स्टीन ने दो संयोगों के बीच 'अवकाश' के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है कि द्रष्टा जिस दिक्काल के धरातल से निरीक्षण करे, सापेक्ष सत्य में रहने वाले 'अवकाश' का अनुपात समान ही पायगा, यद्यपि उसके 'निरीक्षण' (Observation) के तत्त्व भिन्न आयामों के दीख सकते हैं।[4] उसने 'चार आयामों' के स्पष्टीकरण में भी एक स्थापना की कि 'काल' का आयाम ऋजु है, अतः वह 'देश' (Space) के विस्तार में गति की भिन्नता प्रकट करता है, क्योंकि 'प्रकाश की गति' 'देश' के विस्तार में 'काल' की गति से तीव्रतर हो जाती है और 'देश' की रचना तात्त्विक (Finite) होकर भी सीमाहीन है। आइन्स्टीन को इस विचार का आधार रिम्मैन के रेखागणित से मिला।[5] आइन्स्टीन ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय किया कि चतुरायाम-संधरण (Four-Dimensional Continuum) में, दिक्काल के अन्तर्गत लीन सर्वव्यापकता और निर्बाधता की वक्रिमा के फलस्वरूप 'मध्याकर्षण' (Gravitation) प्रतीत होता है। रिम्मैन के रेखागणित और अपने प्रारम्भिक सिद्धान्तों से बाहर की एक मुख्य वस्तु का भी विश्लेषण आइन्स्टीन ने किया, जिसे 'विद्युत् चुम्बकीय शक्तियाँ' (Electro-

१. बर्ट्रेन्ड रसल, 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी।'
२. वही।
३. आइन्स्टीन, 'द वर्ल्ड एज़ आइ सी इट'।
४. बर्नेट हैम, 'नो दाईसेल्फ'।
५. जे० डब्लू० एन० सलिवां, 'द लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

magnetic Forces) कहते हैं। इन शक्तियों के सम्बन्ध में और आइन्स्टीन के अन्य सिद्धान्तों को पल्लवित करने में भी मैक्सवेल, एडिंगटन आदि ने कार्य किये हैं। आइन्स्टीन के सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता रही कि विज्ञान और कला तथा संस्कृति के अन्य अंगों की प्रेरणाएँ एक हो चलीं, जिसके मूल में आइन्स्टीन ने द्रष्टा की उस रचनात्मक उत्कण्ठा को स्थान दिया, जो धैर्य और श्रम के माध्यम से अनवरत, प्रकृति-विधान की मौलिक समरसता (Pre-established harmony) का उद्‌घाटन करने को गतिशील रही है। अतः आइन्स्टीन के विचार-पृष्ठ पर विज्ञान का रसात्मक मर्म भी खुल पड़ा।

आइन्स्टीन ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया था कि दिक्काल (Space-Time) का विकुञ्चन (Kink) ही विश्व है और देश तात्त्विक होकर भी सीमाहीन है,—इस सिद्धान्त में एडिंगटन (Eddington) ने महत्त्वपूर्ण प्रगति को योग दिया। एडिंगटन (१८८२-१९४४) ने सिद्ध किया कि विश्व एक तीव्रतम विराट् वेग से वर्द्धमान (Expanding) हो रहा है और नीहारिकाओं के संस्थान भी एक-दूसरे से छूटते हुए अनन्त की ओर चले जा रहे हैं, जो गणित और दूरवीक्षण की प्रणालियों से स्पष्ट हो जाता है; पर इस मत से भेद भी प्रकट किये गए हैं और एडिंगटन की इस घोषणा से कि विश्व में जैसे-जैसे गतिशीलता तीव्र और संस्थानों की दूरगामी स्थिति छोटी हो रही है, विश्व का अन्त सन्निकट आ रहा है और वह अन्त सभी तत्त्वों की एकरूपता में प्रकट होगा, जब वस्तु और तेज में कोई अन्तर न रह जायगा।[1] एडिंगटन ने भी वस्तु और तेज में अन्तर न मानकर मन और शरीर में या अन्य द्विविध संयोगों में एकात्मता पाई है और मात्र संयोजन की आनुपातिक गति से एक और अनेक का आन्तरिक भेद स्वीकार किया है। एडिंगटन ने यथार्थ, तथ्य, उत्पत्ति-कारण, वैज्ञानिकता और रहस्यवाद आदि का पुनर्मूल्यन किया है और जेम्स जीन्स ने विज्ञान के घनिष्ठ सम्पर्क में आये हुए दर्शन की नवीन समस्याओं की विवेचना का प्लैंक की क्वान्टम थ्योरी, भौतिक-तत्त्व, मनस्तत्त्व, मुक्त आकांक्षा, डिटरमिनिज्म, इनडिटरमिनिज्म—सभी का मूल्यांकन किया है। जेम्स जीन्स (१८७७–१९४६) का सर्वाधिक महत्त्व है रैडिएशन, रेडियो-एक्टिविटी, आणविक मानदण्ड, और क्वान्टम थ्योरी से 'स्टेलर डिनामिक्स' के सिद्धान्तों की स्थापना में; जिनके सहयोग से एडिंगटन कह सका कि विज्ञान की उपलब्धियाँ अब मानव-अस्तित्व की ऐसी व्याख्या करती हैं, जिनमें एक प्रकार का अतिजागरूक वैज्ञानिक रहस्यवाद है।[2]

बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमण काल का दार्शनिक आयाम बहुत अंशों में वैज्ञानिक आयाम की ही व्याप्ति है; क्योंकि एडिंगटन ने स्वीकार किया है कि पिछले बीस वर्षों में वैज्ञानिकों के लिए धर्म भी आवश्यक मार्ग हो चला है, यह वैज्ञानिक चिन्तन की दार्शनिक धारा के उस अभियान का फल है, जो आइन्स्टीन, हेन्सबर्ग, बोहर आदि के निर्देशन में सापेक्षतावाद और क्वान्टम सिद्धान्त तक पहुँच गया है। इस आधार पर आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा में विज्ञान की पहली मंजिल सन्निकट आ गई है, जिस पर मन, अस्तित्त्व, पदार्थ और संयोग का समन्वित, एकात्म और एक समग्र ज्ञान मिल सकेगा, जब उनके पारस्परिक अन्तर गलत सिद्ध होंगे। तब क्वान्टम सिद्धान्त के अनुसार किसी परमाणु

१. अलबर्ट स्टेनली एडिंगटन, 'द नेचर ऑफ द फिजिकल वर्ल्ड'।
२. सर जेम्स जीन्स, 'फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक अवधि तक संचरित अवस्था के सहसा परिवर्तित होकर नई और बिलकुल भिन्न अवस्था को जगह देने की धारणा का सही परीक्षण हो सकेगा, और प्रायः अवस्था के परिवर्तनों में अनुक्षण सातत्य (Continuity) की प्रतिष्ठा से मानव-शक्ति के अक्षय अभियान का मार्ग खुल सकेगा, जिसे रोकने को निरपेक्ष सत्य की सीमा-रेखा कभी मार्ग की असीमता को झुठला न सकेगी। तब वह सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणवत्ता भी जीवन में उदित हो सकेगी जिसके प्रभाव से विज्ञान, मात्र रचनात्मक होकर मानव-श्रेय का माध्यम बन सकेगा। उस मानवीय श्रेय का वैज्ञानिक लक्षण होगा वाइटहेड के शब्दों में—"**तत्त्वांशों की धारणा सर्वांग-संघटन की धारणा से पूर्ण होकर विराट् प्रक्रिया का अन्तर्दर्शन करेगी जो द्वित्व के भ्रम का निराकरण कर देगा।**"[1] विज्ञान के प्रति इस महत् आशा और उसकी प्रतिक्रियाओं से ही आधुनिक सभ्यता के नवीन विकास का दार्शनिक आयाम प्रभावित है, जिसके प्रमाण में बर्ट्रेण्ड रसल की मान्यताओं का संकेत और सान्त्याना तथा सार्त्र की विचार-धाराओं का उल्लेख हो सकता है। भारतीय विचारकों में विवेकानन्द और अरविन्द की चर्चा भी योग्य है।

विश्व-युद्धों के पहले रसल की आरम्भिक धारणा थी कि मनुष्य के विश्वासों के मूल में कोई मिथ्या विचार हो और मनुष्य यह जानकर भी उसे धारण करने को मजबूर हो, तो संसार का मिट जाना ही अधिक ठीक है, क्योंकि चिन्तन का धर्म तो इतना ही रहा है कि वह अपनी प्रखर ज्वाला में संसार की मिथ्यात्व से भरी गन्दगी को जला दे।[2] रसल के मन में तर्क-संगत वास्तविकता की ऐसी तेज लगन थी कि वह मात्र गणित-मूलक तर्क-शास्त्र का व्याख्याता बना रहा। गणित की अधुनिक दिशा में सर्वमान्य तथ्यों को झुठलाकर प्रतिकूल और पहेली जैसे तथ्यों की स्थापना उसे रुचिकर थी। गणित के मौलिक और शाश्वत यथार्थ की तरह ही वह दर्शन की स्थापनाओं को भी मौलिक और शाश्वत की स्थिति में देखना चाहता था। रसल ने कहा कि अन्तर्विरोधों से भरे इस संसार में कोई परमात्मा कहाँ होगा,—कोई उपहास करने वाला हो सकता है, वह भी व्यंग्यपूर्ण कल्पनाओं का ही फल होगा। आंगिक जीवन 'प्रोटो जोन' से विकसित होकर 'दार्शनिक' मनुष्य तक पहुँचा है; पर यह विकास सामूहिक नहीं है, सामूहिक ह्रास के कारण ही यह श्रेणीगत विकास हुआ है। युद्धों के पहले उसने घोषणा की कि मनुष्य उन अदृश्य वैधानिक शक्तियों की पूजा नहीं करता रहेगा; जो उसे अन्धविवशता में हीन सिद्ध करतीं और उसकी सारी सृष्टि को नश्वरता के गर्त्त में ढकेल देती हैं; मनुष्य अपने अन्तर की रचनात्मक शक्तियों पर ही आस्था रखेगा; जो उसे विफलता का सामना करके संघर्ष करने की प्रेरणा देती हैं और कुछ शताब्दियों के लिए तो संस्कृति और कला के गौरव से उसे उन्नत किये रहती हैं।[3] पर विश्व-युद्धों के बाद रसल ने राजनीतिक विचारों में वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध और सरकारों की स्वार्थपरता के बदले सहयोग-संचालन का समर्थन करना शुरू किया। स्वातन्त्र्य को उसने व्यक्तित्व-निर्माण की मौलिक आवश्यकता माना तथा शिक्षा को मस्तिष्क की वैज्ञानिक स्थिति का स्रोत। समूह के

१. वाइटहेड, 'ऐडवेंचर ऑफ आइडिआज़'।
२. विल ड्यूरंट, 'द स्टोरी ऑफ फिलॉसफी'।
३. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए सहनशीलता और सहयोग तथा व्यक्ति के लिए अपना पुनर्निर्माण ही धर्म मानकर रसल ने कहा—"**हमारे विद्यालय 'आदर्श व्यवस्था' (Utopia) के उद्घाटन का सूत्रपात कर सकते हैं।**" यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अमरीकी दार्शनिक 'सान्त्याना' ने सांसारिक विषमताओं और कुरूपताओं से पलायन करके 'सर्वश्रेष्ठ' के चिन्तन में उलझते हुए जीवन काट देने का जो श्रेय मानव-जाति के लिए प्रकट किया,[1] वह आत्मानुभूति के गौरव का वहन करके भी भावुकता के कारण व्यर्थ सिद्ध हुआ और रसल का दृष्टिकोण वास्तविकता के कारण सफल। अतः रसल व्यक्तित्व का समर्थक था और सान्त्याना अस्तित्व का।

आधुनिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय 'अस्तित्ववाद' है, जिसके तेजस्वी प्रतिनिधि की हैसियत से जाँ-पाल-सार्त्र ने अपने विचार स्थापित किये हैं कि मनुष्य का अस्तित्व मौलिक और उसका नियमन आत्मकृत है, क्योंकि ईश्वर मिथ्या और अस्तित्वहीन है, जब मानवीय उत्तरदायित्व का निर्वाह मनुष्य पर ही निर्भर है, जिसके फलस्वरूप आदमी अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति तथा प्रवृत्ति से कोई कार्य या दृष्टिकोण चुन लेता है। सार्त्र के अनुसार मानवीय आकांक्षा की स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्ति का सामूहिक उत्तरदायित्व, कि वह अपनी कांक्षा के चुनाव में स्वतन्त्र होकर सामान्य मानवीय औचित्य और मूल्यों की व्यापकता का निर्वाह करे—आत्मबद्ध असामाजिक न हो। वैयक्तिक दायित्व से अधिक गहरा मानवीय दायित्व ही सार्त्र की विचार-धारा से सार्थक है। किसी प्रकार की गति में, व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों की परम्परा और उसकी सर्व-संगत दिशा, उसके सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व की मर्यादा सिद्ध करती है।[2] जीवन-प्रक्रिया के द्वारा ही प्रमाणित होकर व्यक्ति का सामूहिक अस्तित्व दृष्टिकोण की स्वाधीनता सिद्ध करता है कि वह किन अन्तर्द्वन्द्वों का, किन संघर्षों का अनुभव उठा सका है। मनुष्य अपने व्यापक दायित्व की सम्पूर्णता में क्रियाशील आत्मनिष्ठ अस्तित्व है। इस विचार के अन्य समर्थकों में—पूर्व-परम्परा के क्रम से—हेडगर, जैस्पर्स, किर्कगार्ड, काफ्का, मार्सल आदि हैं।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं में विवेकानन्द ने भारतीय दर्शनों की परम्परा का मर्म समझकर वेदान्त के 'अध्यात्मवाद' को तो माना, पर मानव को अपने दायित्व का अधिकारी भी माना, क्योंकि मोह-नाश या निरन्तर परिष्कार के पथ पर उन्होंने सभी ज्ञान-विज्ञान को द्वन्द्वग्रस्त समझकर आन्तरिक विश्वास के परिष्कृत रूप—'प्रेम' को ही सम्बल के रूप में स्वीकार किया, जो व्यापक प्रवृत्तियों का प्रेरक है और मानव ही नहीं, समस्त जड़-जंगम विश्व के अस्तित्व का संचालक है।[3] आधुनिकतम तत्त्वज्ञ अरविन्द की स्थापनाएँ अत्यधिक अतिमानवीय हैं, जिनके अनुसार प्रकृति मानव की मनोवस्थाओं के द्वन्द्वात्मक धर्म को 'अतिक्रान्त' (Transcendent) करने के लिए स्वयं 'योग-साधना' कर रही है; और यदि मानव-व्यक्तियों का समूह सजग रूप से भी इस साधना में योग दे तो शताब्दियों का विकास, वर्षों में हो चले, और जड़, प्राण एवं मन में अतिमानस की स्थिति (Supramental Manifestation) चरितार्थ हो, क्योंकि आदिम विकास के पहले ऐसे ही प्रकृतिकृत परिवर्त्तन के फलस्वरूप जड़

१. जॉर्ज सान्त्याना, 'रीज़न इन साइन्स'।
२. जाँ-पाल-सार्त्र, 'एक्ज़िस्टेंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमैनिज़्म'।
३. स्वा० विवेकानन्द, 'प्राच्य और पाश्चात्य'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चेतन और क्रमशः पशु-प्राण में मानव-बुद्धि का समावेश हुआ। ब्रह्म तो प्रकृति से आविष्ट है, जिसके निवर्त्तन-विवर्त्तन के क्रम से मनुष्य चिन्मय होकर शाश्वत आनन्द से पूर्ण 'दिव्य-जीवन' में परिणति प्राप्त करेगा।[1]

बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमण-काल का सामाजिक आयाम भी बहुलांश में पूर्ववर्णित दार्शनिक आयाम से निरूपित है। ऐसा इसलिए कि दर्शन की प्रगति उस सीमा तक आ चुकी है, जहाँ नैतिक चिन्तन से उसका संगम हो रहा है और नैतिक चिन्तन सभ्यता के सामाजिक आयाम का स्वरूप है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के लिए सर्व-सम्मत औचित्य की खोज रहती है। व्यक्ति की क्रियाशीलता ही समाज की क्रियाशीलता बनकर धर्म, व्यापार, कांक्षा और निःश्रेयस् में प्रगति कर रही है, साथ ही मनुष्य की अनुभूति में सिद्ध होने वाले प्रत्येक सत्य के प्रति मानवीय दायित्व है कि उसे व्यापक औचित्य की दृष्टि से उदारतापूर्ण उपयोग में प्रयुक्त करे; जिसके फलस्वरूप सत्य और सर्वोचित में अन्तर न रहे। विलियम जेम्स के 'प्रैगमेटिज्म' के अनन्तर यह विचार-धारा बढ़ती ही गई।[2]

जॉन डेवी (१८५०-१९५२) की केन्द्रीय समस्या है उन सम्बन्धों की खोज, जो प्रकृति-विज्ञानों की प्रगति से परिवर्त्तित विश्वासों के प्रचलन और मूल्यगत विश्वासों के प्रचलन के बीच व्याप्त हैं। जॉन डेवी के विचार हैं कि विज्ञान ने प्रयोग और स्थापना की परम्परा से ज्ञान और क्रिया के बीच की दूरी को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है, फलतः सिद्धान्तों के लिए सर्वमुखी मानवीय अनुभव का क्षेत्र खुल पड़ा है, जिसमें एक समन्वित समग्रता है। व्यावहारिक यथार्थ और प्रयोगात्मक मार्गों के उपयोग से समग्रता की अनुभूति सम्भव है। उचित और अनुचित के निर्णय में व्यवहार के आधार पर प्रयोगात्मक चिन्तन हो, तभी वर्तमान परिस्थिति की माँग पूरी होगी[3]। उपयोग के आधार पर मूल्यों का निरूपण उचित तो है, पर उपयोग के क्षेत्रों का परिष्कार पहली आवश्यकता है, जिसका तात्पर्य है आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण। रसात्मक आनन्द, बौद्धिक स्वीकृति और नैतिक समर्थन के योग्य एक विकसित सामान्य सुरुचि का प्रसार ही अनुभवमयी सभ्यता की दिशा है। अपेक्षित मूल्यों का उपयोग उस माध्यम (Instrument) के रूप में हो सकता है, जो अपेक्षणीय का अन्वेषण करे। जो सन्तोष (Fulfilment) न दे, वह 'मूल्य' नहीं हो सकता पर सन्तोषप्रद स्थिति को 'मूल्य' बनने के लिए अनुभवों के परिशोधन से गुजरना पड़ता है। यही सामाजिक 'मूल्य' का प्रमाण है।[4]

महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) ने भारतीय चिन्ता-धारा और आधुनिक समस्याओं के बीच आत्मकेन्द्रित समन्वय का दृष्टिकोण रखते हुए स्पष्ट किया है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति सच्ची है, अतः हर एक को अपनी आत्मा की आवाज का हुक्म मानना चाहिए, पर यह आवाज सुषुप्त या स्पष्ट रहती है, जब तक आदमी सत्य की खोज में आत्मकष्ट सहन नहीं करता, जिसके फलस्वरूप सन्तुलन और शुद्धि की प्रक्रिया चल पड़ती है। इसी

१. श्री अरविन्द, 'द लाइफ डिवाइन'।
२. विल ड्यूएंट, 'द स्टोरी ऑफ फिलॉसफी'।
३. जॉन डेवी, 'ह्यूमन नेचर एण्ड कण्डक्ट'।
४. जॉन डेवी, 'रिकन्स्ट्रक्शन इन फिलॉसफी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया में मनुष्य सबसे प्रेम करना सीखता है, क्योंकि वह अभय हो जाता है; और प्रेम की ही शक्ति से दुनिया टिकी है और टिकती है। गांधी ने जोर दिया है कि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। जो एक के लिए सत्य है, दूसरे के लिए असत्य प्रतीत हो सकता है, पर जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ सभी सत्य एक पेड़ के भिन्न पत्तों के समान संयुक्त और समग्र सिद्ध होते हैं।[1] विचार, वाणी और कर्म में सत्य का होना ही सत्य और उसका ज्ञान है—जिस कसौटी के उपयोग से उचित और अनुचित का निर्णय हो सकता है, ईमानदारी से काम करने में ही हमारी मुक्ति और सभी आवश्यक जरूरतों की पूर्ति भारी है, ऐसा विश्वास गांधी की युगान्तरकारी संश्लिष्ट घोषणा है। यही व्यक्ति के माध्यम से समूह का श्रेय है। रवीन्द्रनाथ (१८६१-१९४१) ने भी इस दृष्टिकोण से सहमत होकर प्रक्रियागत मनुष्य के किसी भी व्यक्ति के लिए परिणत श्रेय का उद्घाटन किया है : **"मनुष्य के दुःख के ऊपर की बात यह है—मनुष्य अपने चैतन्य को असीम की ओर प्रसारित करता है, ज्ञान में, प्रेम में, कर्म में वह वृहत्तर ऐक्य को आयत्त करता चला आ रहा है, अपनी समस्त महत् कीर्ति में उनका निकटतर सामीप्य पाने के लिए उसने अपनी व्यग्र बाहुएँ बढ़ाई हैं, जिन्हें 'ते सर्वगं सर्पतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवा विशन्ति।' मनुष्य हो, जन्म लाभकर क्या आराम चाहूँगा, विश्राम पाऊँगा कहाँ ? मुक्ति पानी होगी, मुक्ति देनी होगी, यही उसके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य है।"** [2] मनुष्य के इस अन्तहीन गौरव-पथ पर अभियान के लिए समग्र मानव (Unitary man) की प्रतिष्ठा आवश्यक है; तब देश, परिस्थिति, स्वार्थ, नीति और संस्कृतियों की भिन्नता में विभिन्नता और विध्वंसलीन मानव-समाज के योग्य एक व्यावहारिक, सम्पूर्णतावादी धरातल अनिवार्य है; जिसकी ओर सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव देने के क्रम में जवाहरलाल नेहरू ने सहयोग और शान्ति का निक्षेप किया है। नेहरू के 'सह-अस्तित्व' (Co-existence) और 'पंचशील' से पुष्ट दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति के संचालक देशों को पारस्परिक स्वतन्त्रता, सर्वोन्मुख सहयोग, अधिकार-रक्षा और मित्रता बरतनी चाहिए, जो व्यक्ति के लिए भी समान आदर्श है और उसकी व्याख्या अस्तित्ववाद के लिए समाधान है।

बीसवीं शताब्दी के संक्रमण-काल का सांस्कृतिक आयाम विज्ञान, दर्शन, समाज-दर्शन, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास तथा दायित्वपूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार-तत्त्वों से संवलित है। मिश्रित अनुभवों का यह महत्त्वपूर्ण भाग भी मानव-विकास की अधुनातन समग्रता का आभास देने लगा है और सोरोकिन के अनुसार सच ही प्रतीत होता है कि संसार की सभी संस्कृतियों में मिश्रण की अवस्था के साथ समाहारात्मक अवस्था आई, जो आधुनिक युग के आरम्भ से अब तक रही है, पर अब वे लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के क्षेत्रों में इसका प्रयास भी चल रहा है कि संस्कृतियों की समन्वयात्मक अवस्था जन्म लेगी और इस समन्वयवाद (Integralism) के धरातल पर मानव-सभ्यता की समग्रता प्रतिष्ठित होगी।[3] समग्र मानव (Unitary man) का आदर्श समस्त सैद्धान्तिक

१. महात्मा गांधी, 'मंगल प्रभात'।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'मानुषेर धर्म'।
३. सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स, भा० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यावहारिक परम्पराओं की मर्यादा का सहज समन्वय, परिष्कार और प्रेरणामय विकास है। निश्चय ही संस्कृति के इस क्षितिज का निर्माण एक प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है; जिसकी सर्वाधिक अभिव्यक्ति कला में हुई है। कला के आधुनिकतम विचारकों में सांस्कृतिक चिन्तन के विराम स्तम्भ हैं क्रोचे, रवीन्द्रनाथ, टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड, प्रसाद और अरविन्द; जिनकी मान्यताओं से कला, संस्कृति और उसके अन्यतम माध्यम साहित्य के मूल्य-निर्धारण में योग मिला है। साहित्य और कला में अन्य धाराओं के जन्म देने वाले प्रकृतिवादी (Naturalist), प्रभाववादी (Impressionist) और अतियथार्थवादी (Sur-realist) विचारकों की चर्चा अगले पृष्ठों में होगी, पर संस्कृति और कला की गत्यात्मक (Dynamic) व्याख्या देने वाले उक्त विचारकों ने मूल्य-चिन्तन में 'समग्र मानव' की समन्वयात्मक संस्कृति की झलक दी है।

क्रोचे की मान्यता थी कि इतिहास का एक संश्लिष्ट दर्शक होना चाहिए, जो मानव-सभ्यता के सभी क्षेत्रों का समन्वित सम्बन्ध प्रस्तुत करे। क्रोचे (१८६६-१९५२) ने स्थापना की कि कलाकार और कला-रसज्ञ, कृतिकार और ग्राहक—दोनों में सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत सौन्दर्य-रहस्य तो वह प्रतिमा (image) स्वरूप बिम्ब ही है, जो पूर्ण अभिव्यक्ति से मुक्त है, अतः सौन्दर्य की पहचान पूर्ण अभिव्यक्ति (Adequate Expression) ही है, क्योंकि वह प्रायः समग्र है।[1] क्रोचे के इस विचार से संस्कृति के मूल—'सौन्दर्यबोध' का एका सिद्ध होता है। रवीन्द्रनाथ ने इस विचार-धारा के दार्शनिक वृत्त को आगे बढ़ाकर कहा : **"जो सत्य हमारे लिए पूर्णरूप से सत्य होता है, हमें उसी से प्रेम होता है, और उसी से हमें आनन्द की प्राप्ति होती है जब हम यह समझ लेते हैं तब सत्य की अनुभूति और सौन्दर्य की अनुभूति एक हो जाती है। मनुष्य का समस्त साहित्य, संगीत और ललित कलाएँ ज्ञात और अज्ञात रूप से इसी ओर जा रही हैं। समस्त तुच्छ और अनादृत वस्तुओं को मनुष्य का साहित्य प्रतिदिन सत्य के गौरव में आविष्कृत करके कला के सौन्दर्य में चिह्नित कर देता है, जो केवल परिचित था उसे आत्मीय बना देता है, जो केवल दिखाई देता था, उसे मन का विषय बना देता है।"**[2] रवीन्द्रनाथ की मान्यता और टी० एस० इलियट की मान्यता में भी एक प्रकार का सामयिक सन्तुलन है। बीसवीं सदी के सांस्कृतिक विचारकों में इलियट ने व्यक्ति और समाज, प्रतिभा और परम्परा आदि द्वन्द्वात्मक सांस्कृतिक विषयों के मौलिक सम्बन्धों की खोज की है, जिसके आधार पर उसने व्यक्ति की संस्कृति को जाति और फिर समाज की संस्कृति पर अवलम्बित माना है और संस्कृति को नागरिकता, विद्यादर्शन, कला आदि सभी मानवीय सामर्थ्यों की 'पूर्णता' (perfection) के रूप में स्वीकार किया है; जिसका लक्षण है, 'जीवन की व्याप्तशील योग्यता'[3]—जिसे सभी पिछली-अगली पीढ़ियाँ एक हद तक स्वीकार करती हैं। इलियट ने समग्रता में समाहार देखा है। तभी हर्बर्ट रीड का अध्ययन और निर्णय सार्थक जँचता है, जब आदिम, धार्मिक, राष्ट्रीय, पुनरुत्थानवादी, बौद्धिकतावादी, यथार्थवादी, प्रकृतिवादी, प्रतीकवादी अभिव्यञ्जनावादी और आधुनिकतावादी कला के

१. क्रोचे, 'एस्थेटिक'।
२. रवीन्द्रनाथ, 'साहित्य'।
३. टी० एस० इलियट, 'सैलेक्टेड प्रोज'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः विकास की विवेचना करने के बाद वह सौन्दर्य-बोध की सृष्टि—'कला' के सम्बन्ध में परिणत मूल्यों का संकेत करता है : **"कला के सर्वोपरि मूल्य, व्यक्ति और उसके काल-खण्ड तथा परिस्थितियों को अतिक्रान्त करके श्रेष्ठता की ओर प्रेरित कर आनन्द देते हैं।"** हर्बर्ट रीड ने कलाकार के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है : **"उसका जिन मूल्यों पर विश्वास होता है, वे मानवता के नैसर्गिक श्रेय होते हैं।"**[1] हर्बर्ट रीड ने कला की पूरी जवाबदेही कलाकार पर ही छोड़कर उसकी समग्रतामयी अनुभूति को ही स्वीकार किया है, साथ ही उसे अपनी रचनात्मक प्रेरणा के प्रति ही उत्तरदायी माना है, जो बीसवीं सदी के इस संक्रमण काल में 'रचनात्मक प्रक्रिया' के रूप में विस्तृत होकर कला के मूल में स्वीकृत हुई है। इसी उपक्रम में, जयशंकर 'प्रसाद' की स्थापना दूर तक उपयुक्त सिद्ध होती है, कि 'काव्य-कला' या विस्तृत आधुनिक अर्थ में कला, जो संस्कृति की सम्पूर्णता को व्यक्त करती है,—कलाकार की सापेक्षता में 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' है, और आत्मा के कलन में प्रतिभा ही स्थितियों के तीन प्रकारों से गुजरती है, जिन्हें अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत कह सकते हैं। इनके फलस्वरूप तीन प्रकार के प्रतीक-विधान भी होते हैं, जिनमें क्रमशः आदर्शवाद, यथा-तथ्यवाद और व्यक्तिवाद के मूल सन्निहित हैं।[2] आत्मा की यह संकल्पात्मक अनुभूति भी व्यक्ति की रचनात्मक प्रक्रिया से मौलिक सम्बन्ध रखती है और सारी चिन्तन-धाराओं के विवेचन के बाद भी स्पष्ट दीखता है कि रचनात्मक व्यक्ति के प्रक्रियात्मक विकास से ही जाति, समाज या मनुष्य-मात्र का विकास सम्भव है और व्यक्ति के 'प्रक्रियात्मक विकास' को ही व्यक्तित्व का विकास माना गया है। अरविन्द की विचार-प्रणाली में मानवीय व्यक्तित्व का सामाजिक विकास ही संस्कृति का स्वरूप है, धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म ही संस्कृति के तत्त्व हैं, जिनमें कला, नीति और विज्ञान के अनुसार क्रमशः सौन्दर्य, कर्तव्य-पालन और युक्तियुक्तता आधुनिक युग के उच्चतम सांस्कृतिक ध्येय हैं; पर वे तत्त्व जिस युग के हैं, उसमें मन और बुद्धि ही व्यक्तित्व के सत्य हैं, आत्मा नहीं। इसीलिए कला, नीति और विज्ञान अपने से परे एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं, जो मानव-समाज को पूर्णतम प्रेरणा प्रदान कर सकता है।[3] अरविन्द का विश्वास है कि यदि हम धर्म के बहिरंग की सापेक्षता और अन्तरंग के साररूप तथा विविधता की भीतरी पारस्परिक पूरकता को पहचानकर उसकी समूची सीमाओं का अनुभव कर लें, तो समग्रतापूर्ण आध्यात्मिक धर्म के लिए एक सुन्दर भूमिका तैयार हो जायगी। अरविन्द ने लिखा है कि पूर्णतर ज्ञान, महत्तर सौन्दर्य और आनन्दानुभूति तथा बलवत्तर चित्-शक्ति की अभीप्सा को जाग्रत करके और उसे उत्तरोत्तर गम्भीर, व्यापक और शक्तिशाली बनाते हुए, जब व्यक्ति उच्चतर सम्भावनाओं को चरितार्थ करने का यत्न करता है तो उसकी पुरानी आसक्तियाँ उससे छूटने लगती हैं। आधुनिक सभ्यता में यही सांस्कृतिक अवस्था वर्तमान है जिसकी काव्य की दिशा में नई प्रेरणा का संकेत भी अरविन्द ने किया है कि 'अति मानस' के दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करके जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को आलोकित करने वाली जातियाँ

१. हर्बर्ट रीड, 'द मीनिंग ऑफ आर्ट'।
२. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य, कला और अन्य निबन्ध'।
३. अरविन्द, 'फ्यूचर पोएट्री'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही भावी युग की महाशक्तियाँ बन जायँगी और जिस भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और उसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे, वे ही भविष्यकृत युग के अमर स्वरकार होंगे। 'अतिमानस' द्वन्द्वपूर्ण मन या बुद्धि के बदले निर्द्वन्द्व 'आत्मा' पर निर्भर होकर एक समग्रतापूर्ण संस्थान होगा, जो सभ्यता के दिव्य, समग्र और परिणत मानव-युग का द्वार खोल देगा।

अरविन्द की उक्त स्थापना को, योग-सम्बन्धी घेरे से बाहर लाकर वर्द्धमान ज्ञान-प्रवाहों के वैज्ञानिक समन्वय और प्रकृति में व्याप्त 'निर्माणशील प्रक्रिया' (Formative process) के अन्तर्दर्शन का सन्देश समकालीन महान् चिन्तक एल० एल० ह्विट ने दिया है। ह्विट का विश्वास है कि आधुनिक सभ्यता के नये विकास की दिशा 'मानवीय समग्रता' की दिशा है, यह बीसवीं शताब्दी के संक्रमण-काल में उसके सभी प्रक्रियागत आयामों से सिद्ध हो चुका है। विकसित देशों में जहाँ कोई शासन-जन्य हस्तक्षेप नहीं है, मनुष्य के सारे प्रयास 'समाहार' और क्रमिक 'समग्रता' की ओर चल रहे हैं, क्योंकि आदर्शपूर्ण चिन्तन और विकृतिपूर्ण प्रवंचनामय जीवन के बीच प्रतिकूलता सभी संस्कृतियों के लिए अस्वाभाविक समस्या है जिसे जनतन्त्र (Democracy) भी नहीं सुलझा सका; और मनुष्य की समग्रता विच्छिन्न होकर आन्तरिक-व्यावहारिक कुण्ठाओं से घिर गई। इसलिए अब विश्व-संस्कृति के निर्माण के उपक्रम में नया विश्वास प्रस्तुत हो रहा है कि आधुनिक सभ्यता ऐसे विश्व-जनीन (Universal) चिन्तन के प्रसार से ही टिक सकती है, जो संयुक्त मानवीय विज्ञान और स्थायी विश्व-राज्य के लिए आधार बना सके।[1] ऐसे चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए 'प्रक्रिया की वाणी' (Language of process) की आवश्यकता है; जिसके द्वारा मनुष्य प्रक्रिया का सच्चा दर्शन उपलब्ध करेगा, और सभी संघर्षशील रूढ़ियों से वर्तमान असन्तोष तथा पृथकत्व से त्राण पा सकेगा। ह्विट के दृष्टिकोण में वाइटहेड के प्रक्रिया-चिन्तन का विकास है, जिसके फलस्वरूप 'समग्रमानव' (Unitary man) के मूल्यों की स्थापना हुई है। ह्विट के अनुसार स्वीकार करना पड़ता है कि बहुमत पर निर्भर जनतन्त्र की सम्भाव्य सीमाएँ असन्तोष के निराकरण में सफल नहीं होतीं तो 'समग्रात्मक प्रणाली' ही सफल होगी, जिसमें मानसिक प्रक्रिया विश्व-व्यापी निर्माण प्रक्रियाओं की विशिष्ट प्रतिनिधि होगी, जिसका मर्म होगा—मनुष्य की वस्तु-परक दृष्टि का विकास। ह्विट की घोषणा है कि सभ्यता का नवीन युग 'समग्र मानव-युग' होगा, जिसके प्रारम्भ होने के क्रम में आस्था जागनी चाहिए कि 'निर्माण प्रक्रिया' (Formative Process) समस्त प्रकृति में ही व्याप्त है। मानवीय परम्पराओं के पुनर्संघटन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त होगा, जिसका रूप होगा मानवीय सिद्धान्तों का परिष्करण और पुनर्मूल्यन। उक्त मान्यता से ही मनुष्य की भावना, अनुभूति और क्रियाशीलता का संचालन योग्य है, जो विश्वासों के मूल में पैठकर उसके अक्षय गौरव की नींव रखेगी। मनुष्य प्रकृति को और स्वयं को, ऐसा संस्थान मानकर ही सही समझ सकता है, जिसमें एक सर्वोपरि निर्माण-प्रक्रिया एक तरह की 'सर्वांगीण नैतिक व्यवस्था' (Organic hierarchy) के अन्तर्गत, अन्य समानधर्मी विस्तृत प्रक्रियाओं के संघटन में संयुक्त होती है। प्रकृति के प्रत्येक संस्थान की स्वतन्त्रता और दायित्व का यही स्वरूप है। व्यक्ति या मानव-

१. एल० एल० ह्विट, 'नेक्स्ट डेवलपमेंट इन मैन'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति में जब कोई विकृति या दुष्प्रयोग परिलक्षित होता है, तो सिद्ध होता है कि निर्माण-प्रक्रिया से संचालित उस सर्वांगीण नैतिक व्यवस्था में उस संस्थान से सम्बन्धित बाधाएँ आ गईं जो समग्रता को खण्डित कर रही हैं।[1] अतः निर्माण-प्रक्रिया के व्यक्ति विश्व-व्यापक स्वरूप का साक्षात्कार मूलारोपण और क्रियात्मक अनुगुम्फन तभी हो सकता है, जब विज्ञान अपनी पृथकता छोड़ दे यानी संयुक्त मानवीय ज्ञान का स्वर बन जाय और समग्रात्मक कल्याण में नियोजित हो। तब, मानव-सभ्यता की सम्भावनाएँ जिस पृष्ठभूमि पर खड़ी होंगी, ह्विट ने उसकी भी भविष्य-वाणी की है—मनुष्य शारीरिक रचना के विकास, जीवन और विश्व के इतिहास, सभ्यता की उन्नत-परम्परा और समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय गति-विधि में 'निर्माण-प्रक्रिया' के युक्तियुक्त संचालन और अभिव्यंजन के स्वरूपों का सन्धान करेगा और उसकी सफलता ही मूल्यांकन की कसौटी प्रस्तुत करेगी। अन्तर्राष्ट्रीय गति-विधि एक प्रकार की संयुक्त व्यवस्था (Unitary order) की ओर प्रगति करती चलेगी, जिसके द्वारा राष्ट्रीय गति-विधि की वैविध्यपूर्ण व्यापकता का पता चलेगा। विश्व-संस्थान के सभी तत्त्वों की पारस्परिक निर्भरता का विश्वास बढ़ेगा। समस्त ज्ञान-धाराओं के समन्वय से संयुक्त मानवीय विज्ञान का सन्तुलित दृष्टिकोण प्रशस्त होगा। प्रत्येक समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए, विकास की संयुक्त प्रक्रिया (Unitary Process of Development) के अन्तर्गत उसकी व्याख्या ढूँढ़नी पड़ेगी। संयुक्त विज्ञान ही साधनों का महास्रोत रहेगा। समाजवादी नैतिक शासन-व्यवस्था (Social Hierarchy) की शक्ति का और समग्रात्मक कुशलताओं (Unitary Skills) का प्रसार होगा, जिसका लक्ष्य रहेगा—अभावों और स्वार्थों से प्रताड़ित मानवता का अविराम उन्नयन। ह्विट के अनुसार समस्त ज्ञान धाराओं और सांस्कृतिक शक्तियों को पारस्परिक समाहार और संयुक्त समग्रता के मार्ग से ऐसे 'समग्र मानव-युग' के अनुकूल व्यक्तित्व के निर्माण में नियोजित होना चाहिए।

आधुनिक सभ्यता के नवीन विकास की दिशा तो यही प्रतीत होती है, किन्तु ह्विट का 'संयुक्त मानवीय विज्ञान', कला की अव्याहत आवश्यकताओं को अपने प्रसार में समाहित नहीं कर सकता, क्योंकि कला तो मनुष्य की उपलब्धियों के मूल्यांकन और उपयोग के लिए समग्रात्मक रस-दृष्टि का प्रयोग करती है और सहज ही वह क्षमता सिद्ध होती है, जिसके माध्यम से मनुष्य, व्यक्तित्व की समग्रता में उपलब्धि के मर्म का निर्विशिष्ट आनन्द ग्रहण और अभिव्यक्त करता है।[2] कला के सर्वाधिक व्यापक और सबल स्वरूप—'साहित्य' का भी यही स्वभाव है और होना चाहिए। इसीलिए संक्रमण काल का 'साहित्य' भी समाहारात्मक प्रवृत्तियों से परिचालित, समग्रात्मक श्रेय से प्रेरित और सर्वांगीणता के मर्म से स्फुरित हो रहा है। इसीलिए, एक क्षण या अनन्त काल की अनुभूति को समग्र भाव से व्यक्त करने के लिए समानतः प्रतीक-योजना और अर्थ-प्रयोग के उपकरण साहित्य के साधन बन गए हैं।

---

१. राजेन्द्र प्रसादसिंह, 'मादिनी' (सूर्य)।
२. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सूर्यकान्त

काव्य-शास्त्र का मूल और औचित्य

ऋग्वेद का x 177. दूसरा मन्त्र वाणी के उद्गम की तीन अवस्थाओं पर मार्मिक प्रकाश डालता है :

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति
तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वयं मनीषाम्
ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥

मन्त्र सूर्यपरक है, किन्तु अनायास ही यह कवि की आविष्ट वाणी पर घट जाता है। वाणी का उद्गम संक्षेप में इस प्रकार है—प्रतिभा की अग्नि में तपकर कवि पतंग, अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है और नवोदित दैवी आवेश द्वारा वह जगती के कण-कण में नव-जीवन फूँक देता है। प्रतिभा-विद्युत् का बटन दबते ही उसके अन्तस् में वाणी के अंकुर फूट निकलते हैं। वाणी की यह अवस्था परा कहाती है। प्रतिभा की दूसरी स्टेज पर कवि गन्धर्व, अर्थात् गौ रूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है और इस स्थिति में उसकी वाणी वर्णों में व्याकृत होने के लिए आगे बढ़ती है। उसकी यह अवस्था मध्यमा है। प्रतिभा की तृतीय अवस्था में पहुँचकर कवि की वाणी सर्वांगपूर्ण बनकर वर्ण-पद-वाक्य में बिखर जाती है और अपनी लहरियों से वह संसार को सरसित करने वाले 'ऋत' को तरंगित कर देती है। इस ऋतरूप 'रस' को विश्व में प्रवाहित करना और जगती के कण-कण को उसमें सराबोर कर देना ही सच्चे कलाकार की वाणी का परम लक्ष्य है। वाणी की इसी अवस्था को हम 'बैखरी' संज्ञा देते हैं।

मन्त्र का पहला शब्द 'पतंग' कवि के अन्तस् में उद्दीप्त होकर जलने वाली प्रतिभाग्नि के व्यापार को उपलक्षित करता है। इस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता उसमें भस्म हो जाती है और वह नितरां सूक्ष्म रह जाने के कारण जीवन के आदिस्रोत 'रहस्' तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। रहस् के साथ तदात्म होते ही कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतंग (सूर्य) की नाईं दमकने लगता है और उसकी गति चराचर में उसी प्रकार निर्बाध हो जाती है जैसे कि स्वयं सूर्य भगवान् की। दैवी आवेश का स्नेहभरा धक्का कवि को रभसा रवि रूप में बदल देता है और अब वह अनायास ही उस विश्व-संगीत की तान छेड़ देता है जिसके कारण कि सूर्य भगवान् का नाम 'रवि' अर्थात् 'शब्द उत्पन्न करने वाला' पड़ा है। निश्चय ही 'रवि' शब्द की व्युत्पत्ति रु धातु से है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है। वेदों के अनुसार भुवनभास्कर 'रवि' वेदत्रयी के जन्मदाता हैं; इड़ा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती और भारती के वे आदिस्रोत हैं; और व्यक्त को अव्यक्त रूप देने वाले स्फोट के वे परम निधान हैं। हमारे पुराणों ने 'रवि' के लयवाही रूप की बार-बार प्रशंसा की है और विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दाँते, शेक्सपीयर एवं गेटे आदि ने कवि को विश्व-संगीत का जन्मदाता कहकर उसकी आरती उतारी है।

रवि-रूप कवि अपनी रभः—प्रसूत वाणी की द्वितीय अवस्था में 'गन्धर्व' का रूप धारण कर लेता है और तब उसकी वाणी वर्णपदादि में व्याकृत होने के लिए अग्रसर होती है। तीसरी दशा में पूर्ण रूप से व्याकृत होकर जब उसकी कूक प्रस्फुटित होती है तब वह अनायास ही, विश्व को चलाने वाले ऋत की रागात्मक व्यवस्था में व्याकृत हो जाती है।

कवि-वाणी की इस प्रक्रिया में अथर्ववेद का X. ८. ३३वाँ मन्त्र एक नई छटा ला देता है :

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

अर्थात् अपूर्व (प्रतिभा-तत्त्व) के द्वारा प्रेरित हुई कवि-वाणी जगत् के रहस्य को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु-तत्त्व के विवरण में व्याकृत हुई कवि-वाणी का जहाँ पर्यवसान होता है महत् ब्रह्म वही है। कवि-रचना का परम लक्ष्य यह महत् ब्रह्म ही है। मन्त्र की पदावली से स्पष्ट है कि विश्व के रहस्य को वही वाणी व्यक्त कर सकती है जो प्रतिभा के तेज से चमत्कृत हो और जिसमें दैवी तवस्त्वरा आ बसी हो।

कविता के उद्गम एवं उसके लक्ष्य का निर्देश करते हुए 'ऋग्वेद' का I १६४.४९वाँ मन्त्र सरस्वती से निम्नलिखित प्रार्थना करता है :

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः
सरस्वति तमिह धातवे कः॥

अर्थात् हे वाणि! तुम मुझे अपना वह शिव, एवं सौख्यमय, पूर्ण स्तन पीने को दो जो अशेष वरणीय पदार्थों का पोषण करने वाला है; जो रत्नों का दाता, शोभन पदार्थों का प्रापयिता, एवं अनायास ही सब-कुछ देने वाला है। निस्सन्देह वैदिक ऋषियों के अनुसार सरस्वती रसमयी है; और हमारे वेद ने रससारी सरस्वती से लोकोत्तर निद्रा एवं प्रसाद को उत्पन्न करने वाले स्तन्य की प्रार्थना करके काव्य के आत्मभूत 'रस' की ओर संकेत किया है, जिसका आस्वादन करके कलाकार तो अमर हो ही जाता है, पर साथ ही वह श्रोता एवं प्रेक्षक को भी ब्रह्मानन्द में सराबोर कर देता है।

उक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि लयसारी वाणी का आत्मा 'रस' है और इसी के उन्मीलन से रससिद्ध कलाकार अपने-आप को धन्य करते आए हैं। काव्य के आत्मरूप 'रस' का काव्याचार्यों ने सुन्दर विवेचन किया है।

ऋग्वेद का VIII. 100. १०वाँ और ११वाँ मन्त्र वाणी के आत्मरूप पयोरस की ओर फिर संकेत करता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद भद्रा।
चतस्रऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥

दोनों मन्त्रों में लयवाही वाणी को 'धेनु' नाम से पुकारा गया है और दोनों ही मन्त्रों में इसे मन्द्रा अर्थात् प्रसादक कहकर उसके पयोरस की लोकोत्तरता को व्यंजित किया गया है। लयसारी वाणी के आत्मरूप 'रस' की मन्द्रता एवं प्रसादकता को वेद ने तरह-तरह से गाया है और ऐसी सरस्वती के स्तन को शशयु (=शयुः √शी स्वप्ने), शिव (√शी स्वप्ने), अथवा मौलिक चित्स्थिति में पहुँचाने वाला बताकर उसके रसास्वाद में ही वाणी का पर्यवसान माना है। आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' को दण्डी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥१॥

अर्थात् मधुर रस वाणी और अर्थ दोनों में ही संवलित रूप से निवास करता है—क्योंकि ये दोनों तत्त्व मौलिक रूप से परस्पर अभिन्न हैं। इस रस को पीकर मनीषी लोग भौतिक जगत् से ऊपर उठकर उसके मूल में पहुँच जाते और वहाँ जाकर अमर हो जाते हैं।

ऋग्वेद का IX. 78. पहला मन्त्र गोरस की गरिमा पर फिर से संकेत करता है :

प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यदत्।
अपो वसानो अभि गा इयक्षति ॥

अर्थात् प्रतिभा के आवेश में चमचमाता (पतंग) कवि लयसारी कूक में फूट निकलता है; और तब वह लोकोत्तर क्रियाशीलता को धारण करके इस वाणी की सेवा में जुट जाता है। कह सकते हैं कि प्रतिभा की अग्नि में गलकर बहने वाला कवि का आत्मा ही वाणी के रूप में फूट निकलता है। आविष्ट रचना के इसी रहस्य को आनन्दवर्धन ने इस प्रकार व्यक्त किया है

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

अर्थात् आविष्ट आत्मा की निभृत पीर ही किसी दृश्य को देखकर जब पक निकलती है तब कविता का उदय होता है। उस दैवी पीर में पियराया कवि अपने-आपको भूल जाता; तब वह किसी लोकोत्तर संविधान में जा पहुँचता, और तब जगती के चरम रस के साथ एक होकर बहने वाला उसका आत्मा ही वाणी के माध्यम से वर्णों में बिखरने लगता है। उसकी यह फूट नितान्त स्वाभाविक एवं ऋजु होती है और इसलिए यह अनायास ही अलंकारों की फुलझड़ी में उघड़ती चलती है—क्योंकि आविष्ट कलाकार के 'अपने ही प्रदीप्त गुण प्रतिभा की सर्चलाइट में झिलमिला उठते और अलंकार बनकर, उसके प्रयत्न के बिना ही, उसकी रचना में सजने लगते हैं। और जब प्रतिभा-विद्युत् का धक्का लगने पर कवि सामने पड़े विश्व की ओर अग्रसर होता है तब वह उसके कण-कण में अलंकारों का मन्त्र फूँकता चलता है और साथ ही अपनी रचना पर अलंकारों के पन्ने जड़ता चलता है। वैदिक रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अलंकारों का मूल रचना की इसी प्रक्रिया में सन्निहित है।

आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' के साथ-साथ वेद ने वाणी के रमणात्मक पक्ष पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऋग्वेद का III. ५५. ७वाँ मन्त्र यों है :

प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते।

अर्थात् रुचिर वाणी वाले ऋत्विक् अथवा कवि रमणीय वस्तु प्रस्तुत करते हैं। और यह बात है भी स्वाभाविक ही—क्योंकि यदि रचना के स्रोत कवि-हृदय में मधु का प्रवाह है तो उसमें से उघड़ने वाले लयसारी वर्णों का मधु में सना होना स्वाभाविक है; और मधुसिक्त वाणी वाले भावुकों से मधुसारी वस्तुओं ही की आशा की जा सकती है।

काव्यशास्त्रियों के अनुसार रमणीय वाणी का ही दूसरा नाम काव्य है—और यथार्थ काव्य के निर्माता अपनी रचना के माध्यम से अनायास ही विश्व में लावण्यतन्तु फैलाने वाले रमणतत्त्व के साथ तदाकार हो जाते हैं। इसी बात को हम साहित्यिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं :

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृत्तये कान्ता संमित तयोपदेशयुजे॥

बात ठीक है—मीठे बोल से क्या नहीं मिल जाता? फिर यदि कवि-रचना में मिठास भर गया तो उसके लिए कौन-सी दुनिया दुष्प्राप्य रह जाती है? यह सब-कुछ है, किन्तु काव्याचार्यों ने वाणी के इसी एक तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मानकर उसीमें कविता का पर्यवसान कर दिया। सुकरात ने प्रेम की विवेचना करते हुए 'रमणीयता' के माध्यम से उसका 'शाश्वत सौन्दर्य तत्त्व' में पर्यवसान किया है; और निःसन्देह पारवेधी कवि-रचना का यथार्थ लक्ष्य भी यह सौन्दर्य तत्त्व ही है।

ऋग्वेद का IX. ७३. ७वाँ मन्त्र वाणी के अलंकार को अनन्त शक्ति का स्रोत बताता है :

सहस्रधारे वितते पवित्र आ
वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषाभिषिरासो अद्रुहः
स्पर्शः स्वं चः सुदृशो नृचक्षसः॥

मन्त्र सोमपरक है; किन्तु कवि-रचना पर भी यह सहज ही घट जाता है; क्योंकि पारवेधी कलाकार सहस्र कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वसारी, सोम का गुणगान करके अपनी वाणी को परिपूत करते और उसे नवोढा वधू की नाईं भाँति-भाँति के अलंकारों से सजाया करते हैं। अलंकृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही गीतियाँ विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चितेरे, शोभनगामी रुद्रदेवों को भी अपने वश में कर लेती हैं।

संसार को रुला देने वाले देवताओं को भी अपने मिठास से मोह लेने वाली कवि-रचना का जादू निराला है—क्योंकि पहुँची हुई कविता है ही वह, जो सूर्य भगवान् के समान जगती के कण-कण पर एक साथ छा जाती हो और जिसके पद-पद से प्रतिभा की किरणें फूटी पड़ती हों। ऐसी ही पारवेधी आविष्ट कूक यथार्थ कविता कहा सकती है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी ही वाणी पवित्र एवं चमत्कृत होने के कारण गायक, श्रोता एवं प्रेक्षक के अन्तरात्मा को आवर्जित करने में समर्थ होती है। विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, दाँते, शेक्सपीयर एवं गेटे की रचनाएँ इसी कोटि की हैं।

ऋग्वेद के X. 72. दूसरे मन्त्र में वाणी के संस्कार पर बल दिया गया है :

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

अर्थात् जब बुद्धिमान कवि, जिस प्रकार छाज से अन्न छड़ा जाता है उसी प्रकार अपने मन से वाणी को परिपूत करके उसे रम्य पदावली के रूप में सजाते हैं, तब विश्व की प्रसादक लक्ष्मी अनचाहे उनकी रचना में आ विराजती है। भद्र वाणी वाले गायक का चराचर जगत् के साथ सहज ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और ऐसा ही कलाकार अपनी आविष्ट लय द्वारा विश्व के अन्तस्तल को निनादित करने में समर्थ होता है।

पवित्रता एवं अलंकरण के परम स्रोत शाश्वत तत्त्व को मुखरित करने के लिए वाणी का पवित्र एवं मनोहर होना परमावश्यक है। इसी कारण हमारे वैयाकरणों एवं साहित्य-शास्त्रियों ने वाणी के संस्कार पर इतना अधिक और इतनी बार बल दिया है। वेद तो स्थान-स्थान पर 'द्युमती' वाणी के लिए प्रार्थना करता है। उदाहरण के लिए देखिए :

दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्। ऋ० वे० X. 98.2
अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्
बृहस्पते अनमीवाभिषिसम्।
यया वृष्टिं शंतनवे वनाव
दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश॥ X. 98.3

अर्थात् तेरे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करता हूँ। हे भगवन्! हमारे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करो! ओ बृहस्पति! ऐसी वाणी का, जो आधिव्याधियों से परे हो, जो जगती के कण-कण में कम्पन बहा देती हो; जिसकी स्वर-लहरियों से हम शन्तनु के लिए आकाश से जल बरसा दें। उस प्रकाशमय सोम का मधुमय बिन्दु मेरी जिह्वा पर आ विराजा है; मेरा रोम-रोम सोम के मादक रस से भिन्ना उठा है।

अथर्ववेद VI. ६९. द्वितीय मन्त्र ने द्युमती के स्थान पर भर्गस्वती का प्रयोग किया है :

अश्विना सारघेण मा
मधुनाङ्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचम्
आवदानि जनां अनु॥

ओ अश्विन् देवताओ! ओ सुन्दरता के स्वामियो! मेरे रोम-रोम में मधु भर दो, जिससे मैं जनता के प्रति भ्राजस्वती वाणी का प्रयोग कर सकूँ।

निश्चय ही इन मन्त्रों द्वारा वाणी में मधु एवं अलंकरण इन दोनों ही के आधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रार्थना की गई है—क्योंकि वेद के अनुसार आविष्ट वाणी में रस एवं अलंकरण दोनों ही उचित मात्रा में होने वांछनीय हैं।

वाणी के उक्त अलंकरण से आगे बढ़कर दूसरी स्टेज भरत मुनि द्वारा संकेतित एवं अग्निपुराण द्वारा प्रपंचित अलंकार-शास्त्र है। अलंकारों के विषय में दण्डी ने यों कहा है :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।।

वेद ने वाणी में चमत्कार डालने वाले अलंकारों का निराला प्रयोग किया है; और उपमाएँ तो जैसी वेद ने ढूँढी हैं वैसी अन्यत्र देखने को मिलती ही नहीं। प्रतीत होता है कि मानो वैदिक कूक को सुनकर स्वयं उपमालंकार मूर्तिमान हो उठा हो। उदाहरण के लिए पढ़िये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६ वें सूक्त को—यहाँ आपको एक-से-एक बढ़कर उपमा उघड़ती दीख पड़ेगी। द्यूत सूक्त में जुआरियों को क्षण में ऊँचा और क्षण में नीचा दिखाने वाले पासों को 'कुमारदेष्ण' अर्थात् बच्चों की तरह झट देने और पट छीनने वाले बताकर तो वेद ने उपमा की इति ही कर दी है। **'शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति'** में विरोधाभास की छटा खिल उठी है। वेद के किसी भी सूक्त को पढ़ जाइये—उसमें, आपको कोई-न-कोई अलंकार अपने रुचिर रूप में निभृत बैठा टार्च की न्याईं रचना के शब्द और अर्थ दोनों को भ्राजित करता दीख पड़ेगा। न केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार अपितु दोनों संवलित रूप में वैदिक रचना को एक निराले धरातल पर उठाते दीख पड़ेंगे और वह भी अपने स्वारसिक रूप में, प्रशान्त किन्तु सुवरां दूरगामी, अनजाने ही रचना की कूक-कूक में छिपे बैठे, स्वयं अनदेखे, किन्तु जगती के कण-कण को खिला देने वाले हैं।

वेदों के अलंकार-विन्यास से मुग्ध होकर काव्याचार्यों ने काव्य का सर्वस्व ही अलंकारों को मानना आरम्भ कर दिया और उन्हींके भेदोपभेदों की मीमांसा में उन्होंने काव्य-समीक्षा की इति कर दी।

अथर्ववेद का X. 8. ३२ वाँ मन्त्र रहस्यवाद का आदिम संकेत है। मन्त्र यों है :

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।।

कवि-रचना की लोकालोकता का अनूठा निदर्शन है। प्रतिभा विद्युत् की झमाल में आकर कलाकार दृश्यमान जगत् से ऊपर उठ जाता; और तब वह सामने फैली जगती को छोड़ता भी नहीं और वह उसे देखता भी नहीं है। प्रतिभा के घाम में पिघलकर कवि का आत्मा तरल बन जाता; तब वह सामने के विश्व को प्रतिभाग्नि में गलाकर उसके स्थान पर एक नवीन छाया-जगत् का निर्माण करता, और परम तत्त्व के लिंग-शरीर के रूप में उसे सहलाता और उसका रस पिया करता है। दैवी उन्मेष का रहस्य कवि की इस 'खोने में पाने वाली' ऊहा शक्ति में संनिहित है। इस पारवेधी दृष्टि से चुने गए अर्थ-प्रसून और उन्हें झंकृत करने वाली कविकूक सचमुच अमर होती है—न वह कभी जीर्ण ही होती और न वह कभी नष्ट ही होती है। क्योंकि अब उसमें निम्नलिखित परम तथ्य पूरी तरह प्रतिफलित हो गया है :

अमरता के जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास। ('यामा', ४८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अब वह परिवर्तन के पार 'शून्य के उस पुलिन' पर जा लगी है, जहाँ कि सब प्रकार की रचना का आदि सूत्र एक गोली के रूप में सिमटा पड़ा रहता है। इस आदिम सूत्र को प्रत्यक्ष करते ही कवि-पदावलि की तर्ज़ बदल जाती और उसका विषय यह स्थूल जगत् न रहकर उसके भीतर ज्वार लेने वाला 'कनकरस' बन जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कवि-रचना का लक्ष्य कवि के सम्मुख फैला हुआ भौतिक जगत् नहीं, अपितु उसके अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला लावण्यपरिपूर्ण छाया-जगत् है और उसीका समुचित उत्थापन आविष्ट रचना का प्रमुख लक्ष्य है।

यह तो हुई स्फोट के उस पक्ष की बात, जिसके अनुसार कि इस शब्द का अर्थ नाद के माध्यम से व्यक्त होने वाला पदार्थजात है, जोकि अपने तरल रूप में कवि-रचना से ध्वनित होता है। अब लीजिए स्फोट शब्द के उस पक्ष को, जिसके अनुसार कि पदार्थजात को व्यक्त करने वाला नाद इसका अर्थ है। इस पक्ष में भी कविता का असली रूप कवि की व्यक्त पदावली नहीं, अपितु इस पदावली के माध्यम से ध्वनित होने वाली वह मूलभूत परम ध्वनि है, जिसकी झंकृति-मात्र से मूल अव्यक्त चराचर जगत् के वर्तमान रूप में बदल जाता है। उसी आदिम नाद की रचनाकारिणी शक्ति कवि पदावली में अवतीर्ण होकर उसे नव-नव छाया-जगत् रचने की शक्ति प्रदान करती है और उसमें वह तवस्त्वरा ला देती है जो कि परमात्मा की अपनी रचना में दृष्टिगत होती है।

समग्र वेद को ध्यान से पढ़ जाइये; उसके पद-पद के पीछे आपको एक निराला सोमिल जगत् उभरता दीख पड़ेगा; एक अनोखी दुनिया कहीं दूर से झनझनाती सुन पड़ेगी, जिसका कवि-रचना की स्फुट पदावली से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जो कवि-कूक के तरंगित होते ही रभसा श्रोता एवं प्रेक्षक के सम्मुख आ खड़ी होती है। और यह बात इसलिए है कि वैदिक कवि ने विश्व के अणुजात को अनुप्राणित करने वाले चरम सूत्र को आत्मसात् कर लिया है और उसके द्वारा बिन्दु में समुद्र को और समुद्र में बिन्दु को एकाकार देख लिया है। तभी तो अथर्ववेद के X. ८.३७-३८ में यों कहा है :

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

चराचर में रमे परब्रह्म को वही जानता है जिसने इस विश्व-व्यापी सूत्र को देख लिया है जिसमें जगती के जन्मजात सूत्र बुने पड़े हैं और जिसने इसमें जान डालने वाले उस परम सूत्र को साक्षात् कर लिया है जिसके विषय में महादेवी वर्मा ने निम्नलिखित पंक्तियाँ गाई हैं—

'एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का।'
आदि में छिप जाता अवसान
अन्त में बनता नव्य विधान।
सूत्र ही है क्या यह संसार
गुँथे जिसमें सुख-दुःख जय-हार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक कवि कहता है कि मैंने उस सूत्र को देख लिया है जिसमें अशेष जन-जनपद जकड़े पड़े हैं; और मैंने इस विस्तृत सूत्र-जाल को अनुप्रणित करने वाले चरम सूत्र को भी देख लिया है। तभी तो मैं कहता हूँ कि मैंने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है।

यथार्थ कवि-रचना की इसी व्यापक गहनता को शेक्सपियर ने अपने 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में यों व्यक्त किया है :

The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, from
earth to heaven.
And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy
nothing
A local habitation and a name (Act 5, 12-20)

काव्य-प्रक्रिया का इससे अधिक एवं यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता; क्योंकि शेक्सपियर कविता-कामिनी के मर्मी रसिया थे और उनकी चुटकी-चुटकी में चराचर का श्वासोच्छ्वास केन्द्रित रहा करता था। भारतीय आचार्यों का यह कथन कि :

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

तो शेक्सपियर के प्रत्यक्ष दर्शन का आभास मात्र है।

हाँ, तो ऐसा निराला होता है तत्त्व-पान में बौराया हुआ एक कलाकार, जिसकी पदावली कहती तो कुछ है, किन्तु आशय जिसका कुछ और ही हुआ करता है। उसकी भाषा उस लोकालोक पर्वत-सी बन जाती है जिस पर आलोक और अन्धकार साथ-साथ फैले होते हैं और जहाँ का धरातल कुछ कल्पित-सा, कुछ मसमरीचियों में उघड़ता चित्रपट-सा, एक साथ सदसद्रूप हुआ करता है।

वेद की समग्र रचना कवित्व की इस पारवेधी शक्ति से अनुविद्ध है। इसे पढ़कर पाठक के सम्मुख एक ऐसा मन्दिर-जगत् उघड़ता है जो भौतिक होने पर भी सुतरां भूतातीत है, और जो इसीलिए सचमुच सुन्दर, शिव एवं परम सत्य है।

कविता के ध्वन्य अर्थ को लेकर काव्याचार्यों ने उसीकी मीमांसा में अपनी तर्क-शक्ति की इति कर दी, और कवित्व के इस पक्ष की रुचिरता से कांदिशोक हो वे उसके अन्य पक्षों को भुला बैठे।

सुकरात ने प्रेम का विवेचन करते हुए मध्यमार्ग की मनोरम उत्थानिका बाँधी है—जो ग्रीक सफलता की आधारशिला थी और जिसकी ओर श्री कृष्ण ने अपनी गीता में और भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक उपदेशों में मार्मिक संकेत किए हैं। सौन्दर्य का मर्म रचना की इसी मध्यमार्गी समंजसता में है और यथार्थ सत्य परा कोटियों के मध्य विराजने वाले इसी माध्यमिक समता बिन्दु पर टिका हुआ है। जीवन की सुस्थता एवं आर्जव इसीमें है और सुस्थता एवं ऋजुता ही सौन्दर्य के असली प्राण हैं।

ऋग्वेद का IX ९५.२ सरा मन्त्र काव्य के रीति-मार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिः सृजानः पथ्या भृतस्येयति वाचमरितेव नावम् ।
देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ।।

मन्त्र मर्मस्पर्शी है। इसमें रीतिमार्ग के सभी घटकों की ओर संकेत आ जाता है। रचना करने वाला कवि-प्रजापति ऋत के मार्ग पर अग्रसर होने वाली स्वर-लहरी का सृजन करता है ठीक उसी ध्यान एवं कौशल से जिसके साथ कि एक नाविक नाव चलाया करता है। अपनी रचना के माध्यम से वह परम रहस्य के मर्म को छू लेता और उसे रभसा जगती के सम्मुख अनावृत कर देता है। कितनी मार्मिक एवं मनोरम व्याख्या है यह कवि-रचना के मर्म की और कितने रोचक ढंग से यह कविता के रीतिमार्ग का निदर्शन करती है? क्योंकि सम्वादी रचना सचमुच है ही वह जो ऋत के मार्ग पर चलती हुई विश्व के स्थायी संविधान का व्याख्यान करती हो और उसके द्वारा दैवी रहस्य का रागात्मक-मुखवरण करती हो, क्योंकि सचमुच ऋत् के विश्वव्यापी सितार पर निनादित होकर ही रचना के अक्षर-अक्षर तत्त्व को व्याकृत करने में सफल हो पाते हैं। वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ
जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चिन्तत् समिनक्षन्त आशता–
ऽत्रा कर्तमव पदास्य प्रभुः।। ऋक्० IX ७३.९

अर्थात् ऋत का दैवी तन्तु वरुण की गुप्त शक्ति के द्वारा जिह्वा के अग्रभाग की चलनी पर टिका हुआ है। मेधावी कवि उस तक पहुँचकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं, इसके विपरीत वे अल्पज्ञ, जो इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, आजीवन नीचे ही पड़े रह जाते हैं।

रहस्य से समुपौढ हुई कवि-रचना का कितना मार्मिक निदर्श है? विश्व-व्यापी परमात्मा के प्रसाद से ही कवि की प्रतिभा जागती है और उसीके वर से उनकी वाणी ऋत के दुर्लभ तन्तु का विश्लेषण करने में समर्थ हो पाती है। मेधावी लोग प्रयत्न करके रहस्य के परम मूल को देख लेते हैं और उसीकी वन्दना में वे अपनी वाणी का पर्यवसान किया करते हैं।

हाँ, तो वेद के अनुसार स्पष्ट है कि ऋत के मार्ग पर चलने वाली कवि-रचना ही ऋत रूप सत्य के व्याख्यान में समर्थ हो पाती है—और कवि-रचना की यही सरणि वेद को वांछनीय रही है। किन्तु काव्यशास्त्रियों ने अतिशय के फेर में पड़कर वाणी की रीति को ही रचना का सर्वस्व मानना आरम्भ कर दिया। और इसके विश्लेषण में पड़कर वे रचना के आत्मरस तक को भूल बैठे। किन्तु वेद स्पष्ट कहता है :

पुनानो वाचं जनयन्न सिष्यदत्। ऋक्० IX १०६. १२.

अर्थात् विश्व का प्रेरक वह परम सोम-तत्त्व वाणी को अलंकृत करता हुआ 'रस' रूप में बहा करता है। मन्त्र के इस एक खण्ड में कविता के 'अलंकरण' एवं 'रस' ये दोनों घटक आ जाते हैं। और जब हम इस मन्त्र-खण्ड को उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रों के साथ लाकर पढ़ते हैं तब हमें काव्य के 'ध्वनि और 'रीति' ये दोनों पक्ष भी हस्तगत हो जाते हैं। किन्तु वेद ने सब जगह 'ऋतसारी' वाणी ही की सपर्या की है। यहाँ तक कि उसने वाणी का नाम ही सूनृता (सु+ऋता) और ऋतम्भरा आदि रख दिया है। इस ऋत के अना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरण में ही वैदिक ऋषि सचेष्ट रहते आए हैं। ऋग्वेद कहता है :

स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत
तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसिः
पतिर्जनीनामुपयाति निष्कृतम्॥ ऋक्० IX. ८६. ३२

पारवेधी कलाकार तत्त्व-ज्ञान के लिए सत्ता के परम तन्तु का आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में विश्लेषण करता हुआ प्रतिभा-सूर्य की किरणों से झिलमिला उठता है, और तब ऋत की नव-नव प्रशस्तियों में फूटता हुआ वामाओं का वननीय वह परम तत्त्व को पा लेता है।

स्पष्ट शब्दों में यह मन्त्र कवि के पारवेधी तृतीय नेत्र की ओर संकेत करता हुआ उसके सूर्यसम भ्राजमान रचना-निवेश की गरिमा का वर्णन करता है और बताता है कि ऋत के रागात्मक व्याख्यान में ही कलाकार के रागात्मक जीवन की सफलता सन्निहित है।

निश्चय ही इन मन्त्रों के अनुसार कवि-रचना का असल लक्ष्य ऋतरूप परम तत्त्व की रागात्मक व्याख्या करना है और उसीके चमत्कृत मुखरण में इन मन्त्रों ने सच्ची कविता का पर्यवसान माना है। जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उसीमें रम जाने वाले कलाकार को ऋत के दर्शन अलभ्य हैं—क्योंकि ऐसे कलाकार में विस्तार एवं संयम का विकास नहीं हो पाता और हमारे मन्त्रद्रष्टाओं ने इन दोनों के उचित विकास को परिपूर्ण जीवन स्वीकार किया है। क्योंकि जीवन में यदि विस्तार का होना आवश्यक है तो उसी परिसर में उसमें संकोच का होना भी वांछनीय है। मनोवृत्ति के इसी संयम को हम 'समाधि' कहते हैं। इसमें वैखरी चित्तवृत्ति का सम्यक् सन्निधान हो जाता है और इस समाहित चित्तवृत्ति द्वारा ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव हो जाता है, क्योंकि मनोवृत्ति की इस समाधि में जीवन के समग्र पहलू सामंजस्य के साथ एक-दूसरे से सम्वलित होकर अखण्ड 'रस' के उस प्ररोचन एवं प्रस्पन्दन को जन्म देते हैं जिनका उत्पन्न करना काव्य-कला का परम लक्ष्य है। जीवन एवं कला का यह सामञ्जस संविकास ही ऋषियों की दृष्टि में कला का परम लक्ष्य रहता आया है और इसीके उन्नयन में उन्होंने अपनी वाणी को सफल बनाया है।

'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति√ उच् धातु से है, जिसका अर्थ 'प्रसन्न होना एवं प्रसन्न करना' है। इसी√ उच् धातु से ओकस् शब्द बना है, जिसका अर्थ 'घर' है; क्योंकि घर सदा सबको समान रूप से प्यारा होता है। अंग्रेजी की 'Home sweet home' इस कहावत का मर्म यही है।

उचित के भाव को 'औचित्य' कहते हैं, और जिस प्रकार 'त्रिवृत' जीवन की सफलता औचित्य पर निर्भर है उसी प्रकार त्रिवृत् जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना का सौन्दर्य भी औचित्य पर निर्भर है। औचित्य के इसी व्यापक मर्म का निदर्शन अथर्ववेद III. ३० में इस प्रकार किया है :

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१॥
अनुव्रतः सितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।२।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।।
समानी प्रपा सह वो ऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यता–
रा नाभिमिवाभितः ।।
सध्रीचीनान् व संमनसस्कृणोमि
एकश्नुष्टन्ति् संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सोमनसो वो अस्तु ।।

विश्व के अणु-अणु को क्रियासूत्र में संवलित करके जीवन-पथ पर अग्रसर करने वाले औचित्य तत्त्व का अवबोध करने के लिए वेद ने बार-बार 'स', 'सह' एवं 'सम्' शब्द का प्रयोग किया है और इसके द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि मानव-जीवन को संवादी बनाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

और यदि जीवन में संवदन उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है तो निश्चय ही उसका रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना को सफल बनाने का काम भी औचित्य ही का है। तभी तो दण्डी ने कहा है :

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।
तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमुपजीवति ।।

'समाधि' शब्द से यहाँ हम औचित्य ही की ओर दण्डी का संकेत समझते हैं और औचित्याधान की दृष्टि से ही इन पंक्तियों की व्याख्या करते हैं। आनन्दवर्द्धन ने औचित्य को 'रस' की परा उपनिषद् बताया है :

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।
एतद् यशोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र सद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत्॥

अर्थात् कवि-रचना के आत्मा 'रस' के प्रवाह में यदि कोई वस्तु रोड़ा अटकाती है तो वह है 'अनौचित्य'; रस का बेरोक प्रवाह तो औचित्य पर ही अवलम्बित है। क्या पद्य और क्या गद्य सभी प्रकार की कवि-रचना का प्राण औचित्य है—उसीके उचित सन्निवेश में कवि-रचना की सफलता सन्निहित है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य की अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में रस-जीवित के रूप में स्थापना की है। ग्रन्थ के आरम्भ में वे कहते हैं :

औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

अर्थात् रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, कविकृति के स्वादिष्ट चर्वण में रस के जीवित रूप औचित्य पर अब हम विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र के उक्त कथन से व्यक्त है कि उनके अनुसार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है और कविता के मनोरम आस्वादन में द्रवित होने वाले रस का प्राण भी औचित्य ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता श्रोता एवं प्रेक्षक के आत्मा को तभी द्रवित करती है जब कि उसके अंग-प्रत्यंग औचित्य के द्वारा परस्पर-संवादी सम्पन्न हुए हों और औचित्य के माध्यम से अब वह सर्वात्मना आत्मा के साथ एकाकार बन गई हो। कह सकते हैं कि औचित्य ही काव्य के विभिन्न तंतुओं का संवलक है और उसीसे उनमें सौन्दर्य-निर्माण की क्षमता आती है। जीवन में रसास्राव औचित्य ही से होता है और उसी से चमत्कृत हुई वाणी श्रोता एवं प्रेक्षक को ब्रह्मरस का आस्वदन कराने में समर्थ होती है। औचित्य के महत्त्व को आगे चलकर क्षेमेन्द्र इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्याकथितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यामि न दृश्यते॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं। किन्तु सच पूछो तो 'रस' में पके काव्य का रहस्य उसके सर्वावयवसारी औचित्य में सन्निहित है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अलंकार, गुण और रस उत्कृष्ट रचना के लिए सभी आवश्यक हैं, किन्तु इन सबका चमत्कार तभी खिलता है जबकि इन सबमें व्यष्टि एवं समष्टि दोनों प्रकार से औचित्य रम गया हो।

हम पहले कह चुके हैं कि उचित शब्द की व्युत्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से हुई है, फलतः उचित शब्द का मौलिक अर्थ मन्द्र, रमणीय एवं प्रसादकारी है। मन्द्र एवं प्रसादकारी वस्तु ही उचित अर्थात् समंजस, संवादी, ऋजु एवं शिव होती है। काव्याचार्यों ने

CC-0: In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाए
NOT TO BE ISSUED

'उचित' शब्द के इस व्यापक अर्थ पर ध्यान न देकर उसके एक अंश अर्थात् 'समंजसता' में ही उसका पर्यवसान कर दिया। इसका फल यह हुआ कि औचित्य शब्द अपने मौलिक व्यापक अर्थ से च्युत होकर अपने प्रचलित अर्थ में चल पड़ा; और इस कारण समालोचकों ने उस पर संकुचित टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

किन्तु जब हम 'उचित' शब्द के मौलिक अर्थ 'मन्द्रता' पर ध्यान देते हैं तब अपने मौलिक एवं विकसित दोनों अर्थों को अपने भीतर समाहित करके क्षेमेन्द्र का औचित्य तत्त्व काव्य-सिद्धान्त के रूप में खिल उठता और रचना-सौन्दर्य का यह सर्वांगपूर्ण लक्ष्य बन जाता है।

यह हुआ यथार्थ औचित्य तत्त्व। यह जिस प्रकार चराचर को चलने वाले ऋत तत्त्व से अभिन्न है उसी प्रकार ऋतसारी कवि-रचना का भी यह जीवन-सूत्र है।

: २ :

आइए, अब जरा औचित्य की प्रचलित मीमांसा का दिग्दर्शन कर लीजिये। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र की निम्न कारिका उद्धृत की जा चुकी है :

उचितं प्राहुराचार्यो सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ आ० ७

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप है उसे हम उस वस्तु के लिए उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है। हम जानते हैं कि सब वस्तुओं का सभी के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। किसी वस्तु का किसी वस्तु-विशेष के साथ ही सम्बन्ध उचित हुआ करता है। उदाहरण के लिए मोतियों का हार गले में फबता है और नूपुर पैरों में। फलतः मौक्तिक हार गले के और नूपुर पैरों के लिए उचित हैं। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण, एवं वीर और रौद्र रस के साथ ओज गुण ठीक बैठता है। दो वस्तुओं के इस संवदन अथवा सामंजस्य को हम औचित्य कहते हैं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि औचित्य को काव्य-सिद्धान्त-रूप में प्रतिष्ठापित करने का सेहरा आचार्य क्षेमेन्द्र को है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती मीमांसकों का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था। क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत और आनन्दवर्धन औचित्य पर विचार कर चुके थे। भरत ने नाट्य में औचित्य की प्रतिष्ठा की थी और आनन्दवर्धन ने उसकी नाट्य एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अवतारणा की। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पूरे काव्य-जगत् में उसके उचित आसन पर बिठाकर उसकी एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा की है।

भरत के अनुसार अभिनय का लक्ष्य प्रेक्षक के हृदय में रस-संचार करना है। इसी उद्देश्य से नाट्य का सारा क्रिया-कलाप रसोन्मेष की ओर अग्रसर होता है। अभिनय, छन्द, अलंकार एवं स्वर आदि नाट्य की सारी ही कड़ियों का प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षक के हृदय में रस का स्रोत बहा देना है। भरत ने रस को काव्य का आधार मानकर ही गुण-दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार रस के अनुरूप होना ही गुण और उसके प्रतिकूल होना ही दोष है। गुण रसोद्रेक में सहायक होते और दोष रस के विघातक होते हैं। पात्रों के वेष की देश

सन्दर्भ ग्रन्थ
REF... BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालानुकूलता पर बल देते हुए भरत कहते हैं :

अदेश जो वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।।

अर्थात् यदि पात्रों का वेष देश-काल के विपरीत हुआ तो वे प्रेक्षकों के उपहास का पात्र बन जायँगे। क्योंकि गले में मेखला और हाथ में नूपुर डालना मूर्खता के सिवाय और क्या है ?

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय काम किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने औचित्य का विवेचन काव्य के प्रकीर्ण अंगों के सम्बन्ध में किया था; पर आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मभूत रस के साथ भी औचित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध उद्भावित करके औचित्य को सिद्धान्त के रूप में काव्य के व्यापक जगत् में अवतीर्ण किया। आनन्दवर्धन रस या रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस के परिपाक में सबसे अधिक आवश्यक 'औचित्य' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु एवं अलंकार रस के बाह्य उपकरण हैं—इसलिए रस की अपेक्षा ये दोनों गौण हैं। काव्य में इन दोनों का प्रयोग रसोत्थापन के लिए किया जाता है। इसी मान्यता के साथ आनन्दवर्धन ने वस्तु-औचित्य एवं अलंकारौचित्य की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है। काव्य में वस्तु एवं अलंकार का अपना स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अलंकार्य रस के चमत्कार पर ही इनकी सजीवता निर्भर है। आनन्दवर्धन कहते हैं :

रस भावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।। ध्वन्या लोक

वस्तु एवं अलंकारौचित्य के साथ-साथ आनन्दवर्धन ने 'रसौचित्य' की मीमांसा भी बड़े मार्मिक ढंग से की है; और इस बात को स्वीकार किया है कि रसौचित्य के विधान से रसदोष खड़े हो जाते हैं, जो कि सामान्य कोटि के दोष न होकर प्रधान कोटि के गिने जाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार रस का गहनतम रहस्य औचित्य है और उसका सबसे बड़ा विघातक अनौचित्य। इसीलिए उत्तम काव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसका अंग-अंग औचित्य के आधार पर घड़ा गया हो। रसौचित्य की प्रधानता पर बल देते हुए भी आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वाच्य एवं वाचक की औचित्यसंवादी योजना सारस्वत कवि का प्रधान लक्षण है :

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि विषयेणैतत् मुख्य कर्म महाकवेः ।।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि काव्य-जगत् में औचित्य का आदर प्राचीन काल से है; किन्तु यह बात निर्विवाद है कि औचित्य को काव्य का सुव्यवस्थित व्यापी सिद्धान्त क्षेमेन्द्र ने बनाया है। उनके अनुसार काव्य के अंग पद, काव्य, गुण एवं रसादि सब-के-सब औचित्य से संवलित होकर ही सफल होते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य के सब अंगों में प्राण फूँकने वाला औचित्य ही है। औचित्य की इसी व्यापक मान्यता के कारण क्षेमेन्द्र ने उसका काव्य के २४ अंगों के साथ सम्बन्ध दिखाया है।

एक समय था जब कि आलंकारिकों ने औचित्य को निरपेक्ष रूप से काव्य का जीवित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना था; पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार रस एवं व्यंजना से संवलित हुए बिना औचित्य के यथार्थ रूप को पहचानने का प्रयत्न औचित्य की विडंबना करना है। फलतः आचार्य अभिनव एवं आनन्दवर्धन ने औचित्य संवलित रस-ध्वनि को काव्य का आत्मा माना है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। आचार्य अभिनव का सिद्धान्त है कि काव्य का मूल तत्त्व 'रस' है। फलतः 'रस' को उसका उच्च आसन दिये बिना औचित्य की चर्चा अप्रासंगिक है; क्योंकि औचित्य का असली रूप तभी उघड़ता है जब कि जिसके विषय में औचित्य को स्थापित किया जाय वह वस्तु अपनी जगह अपने असली रूप में विद्यमान हो। काव्य-जगत् में वह वस्तु काव्य का आत्म 'रस' है, रस के बिना औचित्य की चर्चा विडम्बना-मात्र है। जैसा कि कहा है :

औचित्यवती जीवनमिति चेत् औचित्य निबन्धनं रुसमावादि मुवबा नान्यत् किंचिदस्तीति।

आचार्य अभिनव ने साफ शब्दों में औचित्य संवलित 'रस' को काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनसे कुछ आगे बढ़कर औचित्य ही को काव्य का जीवन स्थापित किया है। अपनी औचित्य-विचार-चर्चा के प्रारम्भ में क्षेमेन्द्र कहते हैं :

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

अर्थात् औचित्य ही काव्य में मनोज्ञता उत्पन्न करता है और वही रस चर्वण में रस की असली जान है। अलंकर-अलंकार ही हैं और गुण-गुण ही। किन्तु औचित्य तो रस में पके हुए काव्य का स्थायी जीवित है। निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की सिद्धि अर्थात् उसका पर्यवसान 'रस' में होता है, और 'रस' की जान औचित्य में है। इस प्रकार रस और औचित्य दोनों तत्त्व एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। निम्न उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य व्यावस्य धातुवद् रससिद्धयेव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्॥ औ०

क्षेमेन्द्र ने भी अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में काव्य के निम्नलिखित अंगों में औचित्य-विन्यास वांछनीय ठहराया है :

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद।

यहाँ इन सब अंगों के औचित्य पर विचार करना अप्रासंगिक होगा? अलबत्ता प्रधान अंगों के औचित्य पर विहंगम दृष्टि डाल देनी आवश्यक है।

गुणौचित्य

ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुण काव्य की शोभा को तभी बढ़ाते हैं जब उनका प्रकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ के अनुरूप प्रयोग हुआ हो। इसीलिए आलंकारिकों ने रस-विशेष के लिए गुणविशेष का उन्नयन ही उचित बताया है। उदाहरण के लिए यदि काव्य का वक्ता वीर है तो उसकी उक्ति में ओज गुण फबता है। और यदि काव्य में शृंगार-रस की अभिव्यञ्जना अपेक्षित है तो इस प्रसंग में कवि को माधुर्य गुण का उन्मेष करना उचित है।

अलंकारौचित्य

जिस प्रकार उचित अंग पर उचित रूप से सजाये गए आभूषण कामिनी को चार चाँद लगा देते हैं उसी प्रकार काव्य में उचित स्थान पर उचित रूप से प्रयुक्त हुए अलंकार उस में जान डाल देते हैं। अलंकारों का उचित प्रयोग तभी सम्भव है जब कि वे प्रकृत वस्तु के अनुरूप जड़े हुए हों। क्षेमेन्द्र के शब्दों में प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए अलंकारों से कवि-रचना उसी प्रकार खिल उठती है जैसे कि कामिनी के पीन स्तन पर लहराते हार से उसकी शोभा शतगुण हो जाती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।। औ०

सच पूछो तो अलंकार की अलंकारता इसी बात में है कि वह प्रकृत अर्थ का उन्नायक हो। नीरस काव्य पर अलंकारों के पन्ने बेजान साबित होते हैं—उन्हें देखकर रसिकों का हृदय अंकुरित नहीं होता। इसी कारण अलंकारिकों ने अलंकारों से चमत्कृत किन्तु रसविहीन कविता को अधम कोटि की माना है।

रसौचित्य

रसवादियों के अनुसार काव्य का आत्मा 'रस' है। यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है। किन्तु यह बात भी युक्तिसंगत है कि औचित्य से संवलित होकर ही रस काव्य का आत्मा बनता है और औचित्य संवादी रचना ही श्रोता, एवं प्रेक्षक के हृदय को आवर्जित करती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :

कुर्वन् सर्वांशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ।।
यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथा मिथः ।।
तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम्।
अनौचित्येन संसृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ।।

अर्थात् जिस प्रकार मधुमास की सहलन से अशोक अंकुरित हो उठता है उसी प्रकार औचित्य से संवलित होकर 'रस' श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में दैवी पीर पैदा कर देता है। जिस प्रकार कुशल सूद द्वारा संवलित हुए षड्रसों का योजन भोक्ता को विचित्र आनन्द देता है उसी प्रकार परस्पर संश्लिष्ट हुए विविध रस श्रोता एवं प्रेक्षक की मन की कली को चटका देते हैं। इसलिए रसों के संकर में औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। रससंकर के औचित्य का उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र ने व्यास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगिलोलं हि जीवितम् ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त पद्य में शृंगार एवं शान्त रस का संकर उचित सम्पन्न हुआ है। शृंगार रस के औचित्य पर क्षेमेन्द्र ने कालिदास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

इस पद्य के लिखने का आशय यही है कि कालिदास शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषारूप शृंगार उत्पन्न करना चाहते हैं। इस अभिप्राय को सामने रखकर ही उन्होंने वसन्त के नखों से क्षत होकर लाल हुई वनस्थली का वर्णन किया है। वसन्त का यह संयोग शृंगार प्रकृत अर्थ के लिए नितान्त संवादी है। शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति शृंगारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त यह उपयुक्त उद्दीपन कार्य कर रहा है।

यहाँ तक हमने भारतीय काव्य-शास्त्रों में औचित्य की गरिमा दिखाई है। औचित्य की यह महत्ता भारतीय काव्य-शास्त्र में ही नहीं अपितु पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में भी समान रूप से स्वीकार की गई है। प्राचीन काल से ही पाश्चात्य आलोचक औचित्य को काव्य-समीक्षा में महत्त्व देते आए हैं। किन्तु इन लोगों ने औचित्य को काव्य के बहिरंग तक ही सीमित रखा है। जहाँ एक ओर हमारे यहाँ औचित्य को काव्य का अन्तस्तत्त्व माना गया है वहाँ पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में इसे बाह्य सौन्दर्य का उपकरण बताया गया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रवर्त्तक अरस्तू ने अपने Poetics एवं Rhetorics नामक ग्रन्थों में औचित्य की मार्मिक मीमांसा की है। काव्य में भाषा के औचित्य पर विचार करते हुए अरस्तू कहते हैं कि रचना में भाषा का प्रयोग विषयानुसार होना चाहिए। सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में, एवं उग्र विषय का वर्णन सुकुमार शब्दों में किया जाय तो रचना का प्रभाव बिगड़ जायगा। अपनी Rhetorics में अरस्तू कहते हैं :

It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh language or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of persuasiveness.

अरस्तू के बाद अन्य आलोचकों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार इस प्रकार कर सकते हैं। भारत में वाणी की पूजा वैदिक काल से चली आ रही है और भारत के विचारकों ने वाणी के परिष्कार को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बताया है। वेदों ने अलंकृत भाषा का प्रयोग करके भावी विचारकों को अलंकार-शास्त्र का मार्ग दिखाया है; जिन्होंने परिष्कार के एक-एक पक्ष को लेकर अपने-अपने पृथक् सिद्धान्त स्थापित किये और उन्हें आगे बढ़ाया। प्रचलित काव्य-शास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि-रचना का प्रमुख लक्ष्य श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में चमत्कृत 'रस' का स्रोत बहाना है; दिल से रिसने वाली एक अनोखी 'पीर' पैदा करना है, जिसके आवेश में भौतिक जगत् तरल बनकर एक नवेले छाया-जगत् में बदल जाता और उसके कण-कण से ऐसा 'रस' रिसने लग जाता है जो श्रोता एवं प्रेक्षक की 'पीर' के साथ तादात्म्य होने के कारण उसे 'शून्य के उस पुलिन' पर पहुँचा देता है जहाँ सत् और असत् दोनों एक हो जाते हैं, जहाँ जीवन और मृत्यु समान रूप से आनन्ददायक बन जाते हैं। हमारे आचार्यों ने चमत्कार-संवलित शब्द और अर्थ के समवाय को साहित्य माना है और काव्यगत चमत्कार को विभिन्न आलंकारिकों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। आनन्दवर्धन इसे ध्वनि कहते हैं, जब कि कुन्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे वक्रोक्ति, अभिनव गुप्त वैचित्र्य, और क्षेमेन्द्र इसे औचित्य की संज्ञा देते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निराला स्थान है—किन्तु औचित्य शब्द की निष्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से होने के कारण इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है और इसमें रचना को चमत्कृत करने के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय को अंकुरित करते और जीवन के लिए क्षेमकारी होते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में औचित्य का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

भारत में ऐसे भी मीमांसक हो गए हैं जिन्होंने औचित्य की रसादि से सुतरां स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे ही काव्य-तत्त्व का श्रेष्ठ आसन प्रदान किया है। पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य से असहमति प्रकट करते हुए औचित्य को एक सम्बन्ध विशेष बताया है और इसी रूप में उसे काव्य के आत्मभूत 'रस' का परिपोषक स्थापित किया है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने काव्य, रस और औचित्य के त्रिभुज पर सरस्वती की वन्दना की है और उनकी दृष्टि में काव्य की सिद्धि रस में होती है और रस का जीवित औचित्य में है। क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोकों का आशय यही है :

'औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।'
'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रमेश कुन्तलमेध

साहित्य-सृजन और आलोचना-सिद्धान्त

कवियों तथा कथाकारों की गोष्ठियों में अक्सर यह सुनने को मिलता है कि 'पहले साहित्य रचा जाता है और बाद में आलोचना ! पहले सृजन होता है और बाद में सिद्धान्त बनते हैं।' और यदि कभी विचारों का प्रश्न अथवा सामाजिक सिद्धान्तों का प्रश्न उठा लिया जाय तो तुरन्त उत्तर मिलता है कि 'आलोचना का इन धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध ? वह तो केवल साहित्य की अभिव्यक्ति के प्रकार के भले-बुरे को आँकती है; वह केवल शैली और भावों से सम्बन्धित है।' गोया आलोचना का सम्बन्ध केवल शिल्प से है; अथवा वह लेखक की व्यक्तिवादी इच्छा-रुचियों की केवल-मात्र टिप्पणी है और साहित्य के भाव तथा विचार-समाज से पूर्ण स्वतन्त्र है; अथवा आलोचना साहित्य पर जीवित रहने वाली अमरबेल है ।

इस प्रकार की धारणाओं के पीछे कवियों तथा लेखकों के स्वयंभू, सर्वज्ञ, और समाज-निर्माता होने की भ्रान्त अहंवादी धारणा तो व्याप्त है ही, लेकिन साहित्य के आच्छादित सन्दर्भ में वे सृजन और सिद्धान्त को पूर्णतः एकांगी ढंग से सम्बन्धित मानने की गलती करते हैं। वे यह नहीं मानते कि आलोचना साहित्य द्वारा निर्मित और विकसित भी होती है तथा साहित्य का निर्माण और विकास भी करती है; सृजन के नवलतर विचार समाज-व्यवस्था के परिवर्तन के साथ आते हैं और सृजन सामाजिक व्यवस्था के विकास की विचारात्मक उपलब्धियाँ होती हैं।

धर्म, नीति, राजनीति, दर्शन आदि-जैसी विचारात्मक-संस्थाओं में सिद्धान्त और सृजन के दो भाग नहीं होते; इनमें प्रत्येक व्याख्या और प्रत्येक विचार सृजन और सिद्धान्त का अविच्छिन्न अंग-सा बन जाता है। यहाँ तक कि स्वयं व्याख्या भी व्यावहारिक सृजन का रूप धारण कर लेती है। किन्तु साहित्य में सृजन और आलोचना-सिद्धान्तों की पृथक् सत्ता है जो अन्योन्याश्रित है। साहित्य में सृजन न तो आलोचना बनता है और न आलोचना साहित्य-सृजन ! एक कला-कृति होती है तो दूसरी कलात्मक धारणा। क्योंकि आलोचना-सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध साहित्य-सृजन से होता है अतः उदाहरणों और व्याख्याओं के लिए सृजन (-कृति) की आवश्यकता होती है। सृजन के प्रकारों का सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार विकास होता रहता है, उनके रूपों में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए मध्यमवर्ग और बाद में जनवाद की भावना के प्रतिष्ठित होने से—क्रमशः उपन्यास, निबन्ध, रिपोर्ताज़, मुक्त छन्द आदि विकसित हुए। सामाजिक जीवन और व्यक्ति के अनुभवों की विवधता को अभिव्यक्ति देने के लिए ही ये माध्यम उत्पन्न हुए, जिनमें तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म, नीति, दर्शन के विचार अथवा सिद्धान्त विद्यमान थे; लेकिन प्रारम्भ में 'आलोचना' नामक साहित्य-सिद्धान्त का रूप विकसित नहीं हुआ था। यद्यपि यह कार्य साहित्य में निहित उपदेश, नीति, विचार-दर्शन आदि कर रहे थे किन्तु शिल्प और वस्तु की व्यापक सौन्दर्यात्मक समीक्षा नहीं हुई थी। तो प्रश्न उठता है कि क्या आलोचना का प्रारम्भ साहित्य के बाद नहीं हुआ? हम कहेंगे कि आलोचना-नाम से सम्बोधित किया जाने वाला साहित्य तो नहीं विकसित हुआ था किन्तु आलोचना की पूर्ति करने वाला और आलोचना के अधिकांश तत्त्वों से सम्पूर्ण साहित्य स्वयं ही कृति में धर्म, नीति, विचार, परम्परा, शैली, प्रतीक आदि के रूप में विद्यमान् था। जिस प्रकार एक विशेष कालावस्था में निबन्धों का, फिर उपन्यासों का विकास हुआ ठीक उसी प्रकार विशेष अवस्था में साहित्यालोचन का समारम्भ हुआ। जिस प्रकार आरम्भ में उपन्यास, निबन्ध, गद्य के न रहने पर भी हम साहित्य की सत्ता मानते हैं उसी प्रकार आलोचना-शास्त्र के न रहने पर भी हम साहित्य में प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक परम्पराओं तथा कृतियों को सिद्धान्त मानते हैं। साहित्य के आलोचना-सिद्धान्त शुद्ध-रूप में तो साहित्य से ही सम्बन्धित रहते हैं किन्तु वे अन्य तीन रूपों में भी विकसित होते हैं। तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक परम्पराओं और सौन्दर्य-बोधों के परिणामस्वरूप वे अभिव्यञ्जना व विषय-वस्तु उद्देश्यों में तो विद्यमान रहते ही हैं (जैसे शूद्रक का नाटक, शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन का महाकाव्य व्यवस्थित-आलोचना के पूर्व की कृति हैं) किन्तु लिपिबद्ध (Codified) नहीं रहते, दूसरे, वे (आलोचना का शास्त्रीय विकास न होने तक) नीति, धर्म, दर्शन, कानून, समाज-शास्त्र आदि में भी सापेक्ष रूप से उपस्थित रहते हैं और तीसरे, धारणाओं (Concepts) के रूप में भी एक दीर्घ परम्परा को आश्रय देते हैं जिनमें सिद्धान्त ही निहित रहते हैं। अतः आलोचना-सिद्धान्तों के भी भिन्न-भिन्न स्वभाव और प्रकृतियाँ तथा माध्यम हो सकते हैं जिस प्रकार साहित्य-सृजन के भिन्न-भिन्न प्रकार, भिन्न-भिन्न शैलियाँ और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। आलोचना तो मूल्यों का अंकन और साहित्य की व्याख्या करती है। आलोचक का कार्य केवल अपनी निजी प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करना नहीं होता, किन्तु वह यह विश्लेषण भी करता है कि अमुक लेखक ऐसा क्यों था, उसकी पृष्ठभूमि क्या थी, उसका काल कैसा था, उसके विचार क्या थे, उसकी भाषा कैसी थी; आदि। ये सभी तत्त्व प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न राजनीतिक, संस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक परम्पराओं में समानान्तर ढंग से विद्यमान रहते हैं।

जब-जब सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है, तब-तब कला, साहित्य, राजनीति, नीति आदि में भी परिवर्तन होते हैं। विचारों में परिवर्तन होने से कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों और आलोचना में भी व्यास आता है। लेखक स्वयं भी तो समाज में रहता है, अतः उसके विचारों की भी वही सम्पदा होती है जो समाज के अन्य व्यक्तियों की। केवल उसके चिन्तन की व्यापकता और अनुभूति की गहराई विशेष रूप से सराहनीय होती है। अतः कला और कलात्मक विचार साथ-साथ चलते हैं; कला लिपिबद्ध होकर साहित्य-ललित-कला आदि हो जाती है और कलात्मक विचार लिपिबद्ध होकर साहित्य-सिद्धान्त अथवा अलोचना का रूप धारण कर लेते हैं। कभी-कभी यह अवश्य होता है कि बौद्धिक विकास सामाजिक उपलब्धियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भी बहुत आगे हो जाता है। (और ठीक इसके विपरीत भी होता है।) इसलिए यदि साहित्य-कृति रस अथवा सौन्दर्यात्मक अनुभूति द्वारा समाज के सम्बन्धों की और विचारात्मक प्रगति की सूचना देती है तो कलात्मक विचार भी चिन्तन द्वारा यही सूचना देते हैं। इस प्रकार दोनों के मूल उद्देश्यों में समानान्तरता स्थापित हो जाती है; क्योंकि दोनों का आधार तो समान समाज है और विकास समानान्तर समाज-सम्बन्ध है। यदि कलात्मक विचार, जो आलोचना में पल्लवित होते हैं, किसी युग के सौन्दर्य-बोध की, प्रकृति-वर्णन की, पात्रों की सृष्टि की, मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की, शैली और अभिव्यञ्जना-प्रकारों की, सामाजिक समस्याओं तथा सहृदयों की रुचियों की विवेचना करते हैं और कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं तो कला-कृतियाँ इन्हीं तत्त्वों का वर्णन करती हैं जिनमें चिन्तन के बजाय भावनात्मक उन्मेष, व्याख्या के बजाय रस-स्थापना होती है। ये कला-कृतियाँ भी सामान्य तत्त्वों की चिन्तनात्मक, भावात्मक अभिव्यञ्जना करती हैं, किन्तु इनमें कलाकार का अपना व्यक्तित्व होता है जो शैली में परिणत होता है। लगभग समकालीन अश्वघोष, कालिदास और भास की कृतियों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में कुछ सामान्य कलात्मक विचार तथा सामाजिक सम्बन्ध थे। प्रकृति का आलम्बन विभाव के अन्तर्गत वर्णन, प्रकृति और नारी-सौन्दर्य का कान्त संयोग, सामन्त नृपतियों का रोमांस-प्रिय होना तथा धर्म एवं काम का सन्तुलन, विशेष प्रकार के वर्णन आदि की परम्परा प्रचलित थी; किन्तु इसके बावजूद भी हम देखते हैं कि कालिदास की प्रकृति के पशु-पक्षियों के मनोविज्ञान में गहरी पैठ, भारत का भौगोलिक ज्ञान और शृंगार का मादक वर्णन; भास के चरित्रों में अधिक पैनापन और अलंकारों के प्रति निर्मोह तथा अश्वघोष की कृतियों में धार्मिक प्रचार विद्यमान है। लेकिन फिर भी हम कहेंगे कि ये कृतियाँ उस युग के सामाजिक सम्बन्ध, विचार और (समष्टि—) शैली की रूप-रेखा प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार रीतिकालीन युग में विशेष प्रकार का नख-शिख-वर्णन, परम्परागत उपमान, उद्दीपन विभाव का ऋतु-वर्णन; अश्लील शृंगार प्रचलित था; फिर भी हम देव, बिहारी, पद्माकर, पजनेश, आलम, ठाकुर आदि की रचनाओं में वैयक्तिक अन्तर पाते हैं; यद्यपि सामान्य प्रवृत्तियों में बहुत कम मौलिक अन्तर है। अतएव यह कहना कि साहित्य की सृष्टि के आधार पर बाद में कलात्मक विचारों की स्थापना होती है, कुछ गलत है। कला और कलात्मक विचारों का विचार समानान्तर होता है। रीति-काल में सामन्तीय विलास का वातावरण ही ऐसा था कि राज-दरबारों में शृंगार, भोग-विलास की प्रवृत्तियों का बोल-बाला था, जिससे रुचियों और आलोचनाओं के मानदण्ड वैसे ही हो गए थे और वैसा ही चित्र-कला, नीति-शास्त्र, वेश-भूषा, साहित्य, रहन-सहन आदि में भी हुआ।

यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन आलोचना तो साहित्य-सृजन के समानान्तर न होकर संस्कृत-काव्य, शास्त्र का पुनरुत्थान थी। यदि यह मान लिया जाय तो यह भ्रम दूर हो जाता है कि साहित्य-सृष्टि के बाद उसके संकलन से ही सिद्धान्त निचोड़कर सम्मुख रखे जाते हैं। लेकिन बात यह नहीं थी। वस्तुतः संस्कृत के सौन्दर्य-शास्त्र का ही पुनरुत्थान हुआ था इस युग में अनेक शताब्दियों के बाद। लेकिन अब इसका ग्रहण बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों और बदलते हुए युग में हुआ था। हाँ, सामन्तीय-आश्रय और उनकी रुचियों की व्यवस्था में पर्याप्त समानता थी, परन्तु बाह्य परिवर्तन हुआ था इन पराजित हिन्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजवाड़ों तथा ह्रासोन्मुख सामन्तीय व्यवस्था तक आकर। इसीलिए संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों की वैसी ही अनुकृति हुई जैसा कि माघ और माघोत्तर कवियों ने अपने महाकाव्यों के अनेक वर्ग कभी वात्स्यायन मुनि के, कभी भरत मुनि के सिद्धान्त-निरूपण के अनुकूल रचे।

उपर्युक्त तथ्य में एक बुनियादी चुनौती यह है कि अपने युग के साहित्य का सार न लेकर आलोचना पूर्ववर्ती युग के उन सिद्धान्तों को ग्रहण करती है जो सामाजिक युग में अनुपयुक्त हैं। लेकिन यह क्यों होता है? यह क्यों होता है कि युग के प्रतिकूल प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य रचा जाय? सम्भवतः इसके अनेक कारण हैं—परम्परा का आग्रह इतना प्रबल हो जाता है कि सृष्टा उनका विरोध करने का साहस नहीं करता; या कलाकारों की मौलिक प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है अथवा उसके उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता; या सामाजिक सम्बन्धों के बुनियादी आधार वही रहते हैं; लेकिन कुछ छोटे-मोटे बाह्य परिवर्तन हो जाते हैं; अथवा सामाजिक परिवर्तन बहुत ही शिथिल होता है, जिससे विचार पिछड़ भी जाते हैं। कभी-कभी सामाजिक व्यवस्था से बहुत आगे बढ़कर बौद्धिक विकास हो जाता है जिसके फलस्वरूप कला, कला-विचारों, धर्म, दर्शन सभी में परिवर्तन हो जाता है। उत्तर भारत का भक्ति-आन्दोलन ऐसे ही काल की उपज है जब सिद्धान्तों की क्रान्ति ने समाज से आगे प्रगति की जिसके फलस्वरूप कबीर, सूर, मीरा, रैदास, दादू, नानक तथा अनेक सूफ़ी कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शती में बेहद पिछड़े हुए जर्मनी ने हाइने, हीगेल, गोएथे, काँट, फिख्टे, मार्क्स आदि को जन्म दिया। इसी प्रकार पिछड़े हुए रूस ने पुश्किन, तुर्गनेव, गोगोल, बेलिंस्की, चर्नीशे-वस्की, ताल्सताय को जन्म दिया। लेकिन सृजन-सिद्धान्त के द्वन्द्व का हमारी समस्या का समाधान यहाँ भी नहीं होता। पुनः भक्ति-युग का ही उदाहरण लें: इस युग में विचारों ने, धार्मिक सिद्धान्तों ने तथा उभरती हुई निम्न जातियों के लोगों के सौन्दर्य-बोधों ने मिलकर सृजन और सृजन-कृति अर्थात् साहित्य को संचालित किया। सिद्धान्तों के आधार पर ही भक्ति-काल का निर्गुण, सगुण और सूफ़ी मतों का अधिकांश साहित्य ढला है। उस युग की भाषा का सर्वसाधारण की भाषा होने का कारण यह है कि सामान्य कृषक, नीचे वर्गों की निर्धन जनता और सीधे-सादे गृहस्थों का यह आन्दोलन था। अतः (इस उदाहरण की पुष्टि के आधार पर) कलात्मक विचार, दर्शन के सिद्धान्त आदि साहित्य का निर्माण करते हैं और इतने जबरदस्त ढंग से प्रभावित करते हैं कि साहित्य सारे समाज में उथल-पुथल मचा देने वाला सर्वांगीण आन्दोलन तक बन जाता है। यह सिद्धान्तों की निर्देशन शक्ति से ही होता है यद्यपि (उस युग में) 'आलोचना' सिद्धान्त लिपिबद्ध न होकर धारणाओं और परम्पराओं के रूप में विद्यमान थे।

परन्तु जब इन्हीं सिद्धान्तों की अन्धानुकृति या काल के अनुपयुक्त अनुकृति होने लगती है तब या तो साहित्य भी परंपरावादी और निष्प्राण हो जाता है। जैसा कि रीति-काल में हुआ था, या फिर साहित्य सिद्धान्तों से बहुत आगे बढ़ जाता है; जैसा कि अधुनातन छाया-वादी काव्य-आन्दोलन में हुआ था। कभी-कभी बदले हुए युग-विचारों से साहित्य बहुत पीछे रह जाता है तो सिद्धान्त उसे आगे खींचते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन को यह श्रेय मिलेगा कि उसने साहित्य में सामान्य मनुष्य की मुक्ति, समता, सब प्रकार के शोषण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता और नव समाज-स्थापना के सिद्धान्त प्रसारित किए। यद्यपि इनके ग्रहण में भयंकर भूलें हुई हैं फिर भी ये सिद्धान्त और सृजन के द्वन्द्वात्मक अन्योन्याश्रय की पुष्टि करते हैं।

अस्तु हम कह सकते हैं कि समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होते ही *बहुधा* कला, कलात्मक विचार (सिद्धान्त), सामाजिक सिद्धान्त सभी में परिवर्तन होता है और नये सम्बन्धों के अनुकूल साहित्य रचा जाने लगता है, सिद्धान्त उभरने लगते हैं। साहित्य और आलोचना एक-दूसरे की परस्पर सहायता अवश्य लेते हैं और एक-दूसरे को निर्देशित करते हैं। इनमें से कोई भी एक-दूसरे पर पूर्णतः आश्रित नहीं होता बल्कि दोनों ही *समान* सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं और *समानान्तर* ढंग से विकसित होते हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम एक आदर्श उदाहरण देंगे। औद्योगीकरण के फलस्वरूप व्यक्तिवाद का अभ्युदय हुआ और सामन्तीय आदर्शों का ह्रास शुरू हो गया। पढ़े-लिखे नवोत्थित मध्यमवर्ग की बौद्धिक (न कि सामाजिक शक्ति के रूप में) प्रतिष्ठापना हुई। अतः अब वह पुराने क्षत्रिय शूरवीरों, नटों के स्थान पर स्वयं अपने आदर्शीकृत स्वरूपों को खोजने लगा। तब यह वर्ग काफ़ी सन्तुष्ट था और राजा-महाराजाओं सामन्तों की ओर से मुड़कर अपने पड़ोसियों के रोज़ के चेहरों, रोज़ के वार्तालापों, शहर के वातावरण, पारिवारिक समस्याओं और प्रणय-सम्बन्धों तथा प्राकृतिक छटा को निरखने लगा। ऐसी अवस्था में उपन्यासों का विकास हुआ। अंग्रेज़ी में रिचर्डसन, जेन आस्टिन, फ़ील्डिंग आदि ने ऐसे ही उपन्यास प्रस्तुत किये जिनमें कथा की अत्यन्त रोचकता थी, वातावरण की प्रधानता थी तथा कथोपकथन, पात्र-सृष्टि आदि भी आदर्शों तथा तरलताओं से पूर्ण थे। अतएव ऐसे सामाजिक वातावरण में एक ही प्रकार के कलात्मक विचार (सिद्धान्त) तथा कला (सृजन) का समान तथा समानान्तर विकास हुआ। यद्यपि तत्कालीन उपन्यासों के आलोचना-सिद्धान्त सम्भवतः लिपिबद्ध नहीं हुए थे फिर भी हम देखते हैं कि वे धारणाओं के रूप में विद्यमान थे। लेकिन उस काल से अनेक परिवर्तन हुए और सृजन में परिवर्तन के साथ सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हुआ। अब ज्वायस, हेमिंग्वे, विलियम फ़ॉकनर-जैसे उपन्यासकार रोचक कथा तथा आदर्श मध्यमवर्गीय पात्रों के बजाय केवल मात्र वातावरण की सृष्टि करते हैं: सोवियत् कथा-शिल्पी तो पात्रों को इतना महत्त्व भी नहीं देते और सामाजिक संघर्षों को चित्रित करके सामाजिक गुणों को उभारते हैं। ये सब परिवर्तन केवल-मात्र साहित्य में ही नहीं हुए, सिद्धान्तों में भी हुए और सामाजिक सम्बन्धों में भी हुए। यह कहना कि कौन पहले हुआ और कौन बाद में बिलकुल उसी प्रकार की खोज होगी जैसी कि पहले मुर्गी आई कि अण्डा। एक सामाजिक व्यवस्था बदलती है और तदनुरूप सिद्धान्त बदलते हैं; जब एक विशेष प्रकार की अवस्था या द्वन्द्व को प्रदर्शित करने की आवश्यकता होती है तो सिद्धान्तों में भी वही परिवर्तन होता है जो सृजनों में।

पुनः कुछ अहंवादी स्वयम्भू कवि और कथाकार चट से उदाहरण देंगे: देखो होमर के काव्यों को, ईस्किलस के नाटकों को! देखो, रामायण और महाभारत की, कालिदास शूद्रक के नाटकों को!! क्या उस समय भी तुम आलोचना की उपस्थिति मानकर झूठ बोलोगे? उत्तर में हम कहेंगे: बिलकुल नहीं।....लेकिन आप भी ज़रा ग़ौर करें, गुफ़ा मनुष्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर; देखें आदिम मनुष्यों को, जब वे भाषा लिखना भी नहीं जानते थे; तब आप क्या साहित्य की उपस्थिति के विषय में कुछ कहेंगे ? देखें, गुफ़ा-चित्रों को, जब केवल नृत्य और चित्र ही सृजन के माध्यम थे। हम कहेंगे कि समाज के विकास के साथ-साथ ही मनुष्य के भौतिक उत्पादन के क्षेत्रों के अतिरिक्त मानसिक क्षेत्रों में भी वृद्धि होती है। होमरकालीन, और रामायण-महाभारतकालीन साहित्यों के साथ भी सिद्धान्तों का विकास हुआ था जो 'आलोचना' या 'शास्त्र' के नाम से संग्रहीत न होकर समृति-ग्रन्थों, चारण-परम्पराओं, सूत्रों में संकलित थे। उस समय के सिद्धान्त धर्म और नीति के अभिन्न अंग थे। सृजन के विभिन्न अंगों के विकसित न होने के कारण सभी प्रकार की रचनाएँ 'काव्य' के अन्तर्गत आती थीं। तब सिद्धान्त अलिपिबद्ध थे और धारणाओं के रूप में व्याप्त थे। होमरकालीन और हिन्दू महाकाव्यों की सामाजिक अवस्थाओं के धूमिल इतिहास के बाद सुव्यवस्थित राज्यों की स्थापना के साथ—चाहे वे यूनान के नगर-राज्य हों या भारत के गणराज्य—हम उन कालों की केवल एकान्त कला के अलावा कलात्मक विचार ही नहीं पाते, अपितु राज्य-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कानून, सौन्दर्य-शास्त्र, भी पाते हैं—यह तो मनुष्य के ऐतिहासिक विकास की बात है। अस्तु, यदि सृजन भी भिन्न-भिन्न विकासावस्थाओं में रहा है तो सिद्धान्त भी वैसी ही परिस्थितियों से गुज़रे हैं। हम अपवादों को नियम नहीं मानते, यद्यपि उनकी व्याख्या को अनिवार्य समझते हैं। यहाँ हम पुनः दुहराते हैं कि जिस प्रकार साहित्य-सृजन के किसी युग में आलोचना-सिद्धान्त या तो लिपिबद्ध नहीं रहते (जैसा कि शेक्सपियर और मिल्टन के रचना-काल में हुआ), या वे धारणाओं के रूप में विद्यमान रहते हैं अथवा धर्म, नीति, दर्शन आदि में संकल्पित रहते हैं, उसी प्रकार ऐसा भी काल आता है जब सिद्धान्तों का ही चक्रवर्ती-साम्राज्य रहता है और साहित्य या तो लुप्त रहता है या धर्माश्रयी, नीत्याश्रयी, दर्शनाश्रयी हो जाता है। जैसे भारवि के बाद सिद्धान्त तो बनते रहे किन्तु साहित्यकार माघ शतियों बाद आए और माघ के बाद भी सिद्धान्त तो रचे जाते रहे किन्तु साहित्य लुप्त रहा और पण्डितराज जगन्नाथ वर्षों बाद आए। यहाँ हम प्रसिद्ध रचनाकारों की चर्चा कर रहे हैं।

अब कुछ शेष असहमत और अप्रसिद्ध कवि और कलाकार कहेंगे कि आलोचना का सम्बन्ध तो केवल शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार से है, न कि अन्य प्रकार के सामाजिक विचारों से। हम कहेंगे कि यह धारणा तो और भी संकीर्ण है। क्या प्रत्येक युग में शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार नहीं बदले हैं ? क्या प्रत्येक युग में इन्हींके अनुरूप नये कथानकों, विषय-वस्तुओं शैलियों, शब्द-चयनों, प्रतीकों का विकास नहीं हुआ ? हमारा उत्तर निश्चयात्मक होगा। यदि आलोचना (सिद्धान्त) का सम्बन्ध शिल्प और अभिव्यञ्जना-प्रकार से है, तो विचारों और अभिव्यञ्जना से भी तो हो सकता है; क्योंकि साहित्य में लगभग अस्सी प्रतिशत विचारों की (Content) तथा बीस प्रतिशत शिल्प (Form) की सम्पदा होती है और इसीके अनुरूप आलोचना-ग्रन्थों में शिल्प पर अन्त में कुछ पृष्ठ लिखे जाते हैं, शेष का सम्बन्ध सिद्धान्त, समाज, भावों, विचारों आदि से होता है। जब साहित्य में रूप-शिल्प तथा विषय-वस्तु का सम्मिलित योग है तो आलोचना को क्यों एकांगी बनाया जाय ? साहित्य के विचार तो सामाजिक व्यवस्था के परिणाम हैं और वे ही विषय बनते हैं। इसलिए आलोचना को यह अधिकार एक पथ-प्रदर्शक की तरह प्राप्त है कि वह देखे कि साहित्यकार अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतियों में कहाँ तक अपने युग के या ऐतिहासिक कृति के समाज की समस्याओं और मानव-सम्बन्धों की गहराई में डूबने में समर्थ हुआ है ? कहाँ तक उसने वर्णित युग और जन-जीवन को वाणी दी है ? कहाँ तक यह अभिव्यक्ति सच्ची और मंगलपूर्ण है ? इस दायित्व को निभाने के बाद आलोचना का शास्त्रीय और सैद्धान्तिक दायित्व आता है जो साहित्य के विभिन्न अंगों और कला (—अभिव्यञ्जना) की सफलता और असफलता की विवेचना करता है। यहाँ से यह विषय हमें पूर्णतः नये सम्बन्धों की ओर ले जाता है जिनका सीधा सम्बन्ध प्रतिपाद्य विषय से न होने कारण हम वाद-विवाद को स्थगित करते हैं।

हम यह अवश्य कहेंगे कि इस प्रकार का साहित्य-सृजन निस्सन्देह हेय समझा जायगा, जिसमें समाज का सच्चा चित्रण और लोक-मंगल का आदर्श नहीं होता; जिसमें लेखक व्यक्ति-वादी संकीर्णता से मुक्त नहीं हो पाता और जन-जीवन से दूर चला जाता है, जिससे वह अपने सुन्दर कक्षों में आराम से काल्पनिक जनता खड़ी करता है या अनेक कृतियों को पढ़ने के बाद उन्हें काट-छाँटकर अनुभवशून्य पात्र खड़े कर देता है। इसी प्रकार ऐसी आलोचना और अलोचना-सिद्धान्त भी हेय समझे जायँगे जिनमें आलोचक कृति को बिना पढ़े ही, या आलोचनाओं के आधार पर उसके विषय में अपना मत प्रकट करता है जो सैद्धान्तक न होकर व्यक्तिवादी होते हैं या पक्षपातपूर्ण होते हैं, जिन्हें कोई विशेष गुट स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए विज्ञापित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामरतन भटनागर

नया उपन्यास

हिन्दी में नये उपन्यास का आरम्भ जैनेन्द्र के 'परख' उपन्यास से माना जा सकता है, जिसका प्रकाशन १९२९ में हुआ था। परन्तु इस उपन्यास में जो शैलीगत और रूपगत विशेषताएँ थीं उनका जन्म यूरोप में बहुत पहले हो चुका था। इंग्लैण्ड में नई प्रवृत्तियों का जन्म १९१० के लगभग हुआ, परन्तु इन प्रवृत्तियों को स्थायित्व तीसरे दशक के आरम्भ में प्राप्त हुआ। फ़ार्स्टर की रचना 'द पेसेज टु इण्डिया' (१९२४) में हमें नई कोटि की एक अत्यन्त प्रभावशाली औपन्यासिक रचना के दर्शन होते हैं और बाद के बीस वर्षों में यह रचना अंग्रेजी उपन्यास-कला को बराबर प्रभावित करती रही है। इन नई प्रवृत्तियों का उदय फ्रांस और रूस के उपन्यासों में अन्तर्हित प्रवृत्तियों और प्रयोगों से हुआ और कालान्तर में उपन्यास उन्नीसवीं शती की परम्परा से विच्छिन्न हो गया। अमरीका के उपन्यासकारों के कुछ नवीन प्रयोगों ने भी नई कला के संयोजन में सहायता पहुँचाई। जो हो, यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-उपन्यास ने 'परीक्षा-गुरु' से 'परख' तक ५० वर्षों में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास की तीन शताब्दियाँ पार कर लीं और नये उपन्यास का उदय इंगलैण्ड की इस श्रेणी की रचनाओं के बहुत बाद नहीं हुआ। एक प्रकार से इस विकास को समकालीन भी कहा जा सकता है।

परम्परागत उपन्यासों में उपन्यासकार मूलतः एक मनोरंजक कथा को लेकर चलता था और साथ ही वह कुछ व्यक्तित्वों को भी उपस्थित करता था जिन्हें पाठक चरित्र की निश्चित और बँधी रेखाओं के भीतर से देखते थे। ये पात्र हमारे मित्रों और परिचितों से अभिन्न रहते थे और उनकी रूप-रेखा प्रशस्त रहती थी। उनकी सज्जा, उनकी मुद्राओं, वार्ताओं और प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक जोखा-लेखा रहता था। यह अवश्य है कि प्रारम्भ से ही ऐसे उपन्यासकार भी थे जो कथा के साथ-साथ जीवन-दर्शन भी देते थे, अथवा कथा में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जिहाद करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से ही उपन्यास समाज-सुधार का अस्त्र बन गया था और इस लक्ष्य को अंशतः सामने रखकर डिकेन्स जैसे कलाकारों ने बड़ी शक्तिशाली रचनाएँ उपस्थित की थीं परन्तु ऐसे भी उपन्यासकार थे जो सामाजिक समस्याओं से आगे बढ़कर अपनी कथा द्वारा धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विचारों का भी स्पर्श करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों में चार्ल्स किंग्सले का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है।

इंग्लैण्ड में जिन लोगों ने नई उपन्यास-कला के विकास में सहायता पहुँचाई उनमें हेनरी, जेम्स, हार्डी, आरनाल्ड बेनेट, गेल्सवर्दी, सॉमरसेट मॉम और कोनार्ड प्रमुख हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेस्टरटन, किपलिंग और सेमुअल बटलर का भी नाम लिया जा सकता है, परन्तु इनकी सभी रचनाएँ एक प्रकार से युग-परिवर्तन की सूचना नहीं देतीं। इन लेखकों के 'द मेन हू वाज़ थर्स्टडे', 'किम' (१९०७) और 'द वे आफ़ आल फ्लेश' को हम क्रमशः ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त १९१० तक की रचनाओं में ई० एम० फार्स्टर के चार उपन्यास हैं जिनमें अन्तिम 'होवर्ड्स एण्ड' (१९१०) है।

जिस मनोवैज्ञानिकता की नये उपन्यास में दुहाई है वह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हेनरी जेम्स के उपन्यासों में ही महत्त्व पाने लगी थी। इन नई रचनाओं में लेखक अपने पाठकों को साथ-साथ लेकर चलता है और पाठकों की काल्पनिक सहानुभूति ही पात्रों के भीतर प्रवेश पाने की एक मात्र कुञ्जी है। हेनरी जेम्स ने ही पहले-पहल पात्रों के कार्य-कलापों को अप्रधानता दी और उनके अन्तर्गत को विशेष महत्त्व दिया। जेम्स के उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है और इन कुछ पात्रों के कृत्यों के पीछे तर्क और भावना का एक विस्तृत जगत् है जो कहानी को रोचक और महत्त्वपूर्ण बनाता है। इससे यह हानि हुई कि उपन्यास मनुष्य के व्यापक कार्य-क्षेत्र को छोड़कर चरित्र और प्रेरणा के विशेष क्षेत्र में लग गया। इस आयोजना से उपन्यास बुद्धिमूलक बना और बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। कथा-प्रेम पीछे पड़ गया और बौद्धिक ऊहापोह प्रधान हो गई। कुछ उपन्यासकारों ने, जैसे हार्डी ने, बुद्धि और हृदय के बीच में सन्तुलन को बनाए रखा, परन्तु हार्डी के उपन्यासों में वातावरण की प्रधानता मिलती है जो नए उपन्यास का नया तत्त्व है। एक नये ढंग की विशेषज्ञता इस प्रकार की रचनाओं में आ जाती है। हार्डी ने काव्योपमयता और कथा के कलात्मक संगठन के रूप में दो नये तत्त्व भी नवीन उपन्यास-धारा को दिए। हेनरी जेम्स के बाद मनोवैज्ञानिकता का सबसे सुन्दर रूप हमें कोनार्ड में मिलता है, जिसकी रचनाओं में हमें संवेदनामयी और आकर्षक कथाओं के साथ-साथ पात्रों और प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण भी मिलता है और साथ ही जीवन का व्यापक एवं विस्तृत समालोचन भी। वास्तव में सूक्ष्म कलाकारिता और मनोवैज्ञानिक पकड़ के कारण कोनार्ड में उस युग के अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा आधुनिकता सबसे अधिक है। इन क्षेत्रों में हेनरी जेम्स से ही उसकी तुलना हो सकती है। जेम्स इस कला में अप्रतिम हैं और बीसवीं शताब्दी के उपन्यास पर उनका प्रभाव बहुत गहरा है।

नये उपन्यास के सृजन और निर्माण में बौद्धिक तत्त्वों का अधिक समावेश हुआ है। परम्परागत उपन्यास से इस दिशा में वह नितान्त भिन्न है। उपन्यास में कहानी और वस्तु (प्लाट) की आवश्यकता पर सन्देह किया जाने लगा और हार्डी एवं मेरिडिथ से एक कदम आगे बढ़कर उपन्यास को जीवन-दर्शन का वाहन मान लिया गया। उद्देश्य या बीज प्लाट और पात्रों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक नये उपन्यास के मूल में केन्द्र में एक विचार अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। इस विचार को पल्लवित करने में ही कथा और पात्रों की सार्थकता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि चुनते समय भी इसे ही ध्यान में रखा जाता है। चूँकि विचार पहले हैं, इसलिए उसके विकास के लिए प्रस्तुत कथा में असत्य का कुछ अंश होना अनिवार्य है। पुराने उपन्यासकार पहले पात्रों की कल्पना करते थे और फिर उनके अनुरूप कहानी गढ़ते थे, या पहले कथा की रूप-रेखा बनाते थे और तब उसे चारित्रिकता देते थे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कथा और पात्रों को एक साथ ही सर्जन-प्रक्रिया में निर्मित करते थे। इससे उपन्यास में मांसलता रहती थी और कथा एवं पात्र विश्वसनीय रहते थे। नये उपन्यासों में सिद्धान्त ही सब-कुछ था और कल्पना पंगु थी। मनोविज्ञान को दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए उपस्थित किया गया और औपन्यासिक भूमि पर से मानवीय हलचल को हटाकर उसे सीमित कर दिया गया। यह कहा गया कि पात्रों की अधिक संख्या केन्द्रीय विचार को पल्लवित करने में बाधक होती है। फलतः पात्र गिने-चुने रखे गए। इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार उपन्यास-कार के हाथ में ऐसे उपन्यास बड़े उत्प्रेरक हैं और धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती है। अधिक नये उपन्यासों में जीवन की समस्त और विविध भूमियों के उपयोग और कथा-निर्माण में विभिन्न व्यक्तित्वों के घात-प्रतिघात के स्थान पर केवल जीवन के सम्बन्ध में बौद्धिक ऊहापोह रहता है। इस प्रकार नया उपन्यास विचार-केन्द्रित है और उसकी अभि-व्यञ्जना आत्यन्तिक रूप से मनोवैज्ञानिक है, यद्यपि धीरे-धीरे यह नई मनोवैज्ञानिकता भी पुराने ढंग की मनोवैज्ञानिकता से दूर जा पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि अब भी ऐसे अनेक लेखक हैं जो परम्परागत उपन्यास को ही लेकर बढ़ रहे हैं या उसे अपनी व्यक्तिगत विशेषता और नये उपन्यास के तत्त्वों के सम्मिश्रण से महत्त्वपूर्ण बना रहे हैं, परन्तु यह निश्चय है कि आज के उपन्यास की मान्यताएँ बीस-पचीस वर्ष पहले के श्रेष्ठ उपन्यास की मान्यताओं से भिन्न हैं।

१९२० से पहले ही अंग्रेज़ी उपन्यास ने नई दिशाएँ टटोलनी शुरू कर दी थीं। कुछ उपन्यासकारों ने, जैसे काम्पटन मेकेन्ज़ी और एच० जी० वेल्स ने बचपन और युवावस्था का चित्रण किया। कुछ अन्य उपन्यासकारों ने, जैसे डी० एच० लारेन्स ने, कल्पना और भावना के अतिरेक को अपनी कला का आधार बनाया और अवैध प्रेम के रूप में नई संवेदनाओं का चित्रण करके मन के गहन पर्तों को छुआ। लारेन्स का 'सन्स एण्ड लवर्स' इस दिशा में एक क्रान्तिकारी रचना है। कदाचित् इतनी शक्ति और काव्यमयता के साथ किसी भी उपन्यासकार ने जीवन का संघर्ष नहीं किया। सच तो यह है कि लारेन्स ने उपन्यास को अपने नये धर्म की प्रचार-भूमि बना दिया। नर-नारी के यौन-व्यापारों और प्रेम-घृणा के संवेदनात्मक चित्रों ने उपन्यास-जगत् में हलचल मचा दी। इन सब उपन्यासों से अलग और विशिष्ट स्थान वेल्स का है, जिन्होंने उपन्यास को वैज्ञानिक कल्पना और वैचारिक प्रयोगों की भूमि बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की बेड़ियाँ बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही टूटने लगीं थीं और उसका क्षेत्र विस्तृत बन चला था।

परन्तु नये उपन्यास का जन्म १९२० से ही माना जा सकता है, क्योंकि इसी समय के लगभग पुराने ढंग के उपन्यासों पर कड़ी चोटें पड़ीं और नये प्रभावों ने उसकी सारी भूमि ही बदल दी। ये नये प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही पड़ने लगे थे, परन्तु सामूहिक रूप से उपन्यास इनसे फिर भी अछूता था। परन्तु ये नये सिक्के चलने लगे और नई मुद्रा प्रशंसनीय भी बनी। ये प्रभाव तीन दिशाओं से आए।

१—फ्रेंच उपन्यास का प्रभाव। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही जार्ज मूर और सामरसेट माम के उपन्यासों पर फ्रेंच प्रभाव दिखलाई पड़ने लगा था। यह प्रभाव अंशतः ज़ोला के नग्न यथार्थ (प्रकृतवाद) का प्रभाव था, परन्तु रूपगत-भाषागत प्रभाव भी कम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण नहीं था। फ्रेंच उपन्यासों में शिल्प और अभिव्यञ्जना को अनिवार्यतः महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। वे सच्चे अर्थों में कला-कृतियाँ हैं। पुराने ढंग के उपन्यासों में उपन्यासकार निर्बल भाव से चलता है, कभी-कभी तो कई कथाएँ लेकर चलता है। परन्तु फ्रेंच उपन्यासों में सूक्ष्म अभिव्यञ्जना और प्रासादिक शैली का महत्त्व है और उपन्यास का रूप-विधान भी सुगठित होना आवश्यक माना जाता है। १९२० के बाद प्रूस्त के उपन्यासों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना-शैली का प्रभाव पड़ने लगा।

२—दूसरा प्रभाव रूसी उपन्यासों का है। यह प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। टाल्सटाय, दोस्तोवेस्की, तुर्गनीव और चेख़व की रचनाएँ अनूदित हुईं और पाठक और लेखक दोनों उनमें डूब गए। ये रूसी कथाकार मानवात्मा में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। अंग्रेज़ी उपन्यासकारों ने इन गहराइयों को नहीं छुआ था। मानवीय व्यक्तित्व के अतलस्पर्शी मनोवैज्ञानिक आश्चर्य इन रचनाओं में उभर आए। इन उपन्यासों की संवेदना सार्वभौमिक थी। इनमें या तो देश-व्यापी आन्दोलन चित्रित थे या मनुष्य की अन्तरात्मा की पीड़ा उभारी गई थी। इनका संसार ही दूसरा था।

३—रूसी उपन्यासों के प्रभाव के साथ ही अवचेतन मन-सम्बन्धी फ्राइड के नवीन आविष्कार भी सामने आए। १९२० तक मनोविज्ञान की नई उपलब्धियाँ मान्य हो गईं और मनोविश्लेषण की पद्धति लोकप्रिय हो गई। इन नवीन तत्त्वों ने व्यापक रूप से उपन्यास को प्रभावित किया।

अंग्रेज़ी उपन्यास को नई औपन्यासिक भूमि देने का श्रेय जेम्स ज्वाइस और वर्जीनिया वुल्फ़ को है। ज्वाइस का पहला प्रकाशित उपन्यास आत्मकथात्मक था। (ए पाट्रैट आफ़ द आरटिस्ट एज़ ए यंग मेन, १९१६), परन्तु वह कुछ पहले से एक विस्तृत प्रयोग में लगा हुआ था। यह प्रयोग 'उलीसस' (१९१४-२२) था। वास्तव में इतना बड़ा प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र में हमें अन्य नहीं मिलता। १९२२ में जब पेरिस में उसका प्रकाशन हुआ तो साहित्य-जगत् में हलचल मच गई। वह एक ही साथ निन्दा और प्रशंसा का विषय बन गया। इस उपन्यास का नायक डबलिन में चौबीस घण्टे बिताता है कर्तव्य इतना ही है। परन्तु ज्वाइस ने बहिर्जगत् को नायक की चेतना के अन्तःसूत्रों के द्वारा पकड़ना चाहा है। अन्तश्चेतना का एक प्रतीकात्मक प्रवाह उसमें उभर आया है। साथ ही अंग्रेज़ी भाषा की सारी सम्भावनाएँ लेखक ने समाप्त कर दी हैं। पाण्डित्य और हास्य को एक ही सूत्र में गुम्फित कर दिया गया है और परम्परागत उपन्यास का उसमें कुछ भी शेष नहीं है। केवल मात्र नायक की मानवता बच गई है। पात्रों के अन्तरंग संवादों (इण्टरनल मानोलाग्ज) को पढ़कर पाठक अस्तित्व के सूक्ष्म रूप से परिचय पाता है, परन्तु कथा-विकास का पता नहीं चलता। कथा-संगठन लुप्त है। बीज इतना गहरा दबा है कि पता नहीं चलता। सामान्य पाठक की पकड़ में वह आता ही नहीं। अनेक अंश अनैतिक और अवैध यौन-सम्बन्धी हैं जिससे सेन्सर ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को इंगलैण्ड में प्रकाशित नहीं होने दिया, परन्तु यह निश्चय था कि एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग सामने आया है। 'उलीसस' के पात्रों के विचारों की यौनगर्भिता और उसकी शैली ने नये उपन्यास को इतना प्रभावित किया कि पुरातन ढंग से उपन्यास लिखना ही सम्भव नहीं रहा। रूसी उपन्यासों ने जो नवालोक उपस्थित किया था, वह इस प्रयोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी प्रखर हो गया। वर्जीनिया वुल्फ़ ज्वाइस से अधिक संयमित रही, परन्तु कदाचित् वही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि उपन्यासकारों के दो वर्ग हैं भौतिकवादी और आध्यात्मिक। पहला वर्ग गौण विषयों पर लेखनी चलाता है और उसकी कला की सारी सार्थकता इसी में है कि उसमें क्षुद्र महान् और वास्तविक दिखलाई देने लगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासकार जीवन के मूलभूत और स्थायी तत्त्वों को लेकर चलते हैं। वे मनुष्य के चेतना-प्रवाह के सतत परिवर्तनशील और धारावाहिक रूप को महत्त्व देते हैं जो बाहर के प्रभावों से बराबर बदल रहा है और भीतर को नया रूप दे रहा है। वुल्फ़ के विचार में जीवन एक अर्द्ध पारदर्शी ज्योति-चक्र है जो हमारी चेतना के आरम्भ से अन्त तक हमें घेरे रहता है। उपन्यासकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि इस अज्ञात, अपरिसीम और सूक्ष्म आत्म-तत्त्व का आभास अपने पाठकों को दे, चाहे इसके लिए उसे कितना ही सूक्ष्म निरीक्षण क्यों न करना पड़े और चाहे उसकी अभिव्यञ्जना कितनी ही गूढ़ क्यों न हो जाय। इस प्रक्रिया में उसे विजातीय और बहिर तत्त्वों का कम-से-कम मिश्रण करना होगा। ऐसा एक प्रयत्न ज्वाइस की रचना के रूप में उसके सामने था। ज्वाइस ने अन्तर की ज्योति-शिखा के सूक्ष्मतम स्पंदन को पकड़ना चाहा था और वह जीवन-प्रवाह के अन्तरंग स्रोत तक पहुँच गया था। इसीसे वर्जीनिया वुल्फ़ ने उसे अध्यात्मवादी कहा। रूसी उपन्यास में भी ऐसे क्षण आते हैं जब आत्मा का गहनतम अलोडन अत्यन्त गूढ़, ओत-प्रोत और अन्यतम रूप में गुम्फित हो जाता है जिससे कि मानवीय मस्तिष्क की एक अभिनव चित्रपटी हमारे सामने उद्घाटित होती है। अंग्रेज़ी उपन्यासों में हास्य-विनोद के प्रसंगों और भावात्मक प्रसंगों में इस प्रकार की एक झलक मिल जाती है, परन्तु जीवन की रहस्यमयी गहराइयों की उतनी विस्तृत और निगूढ़ झाँकी हमें नहीं मिलती। वर्जीनिया वुल्फ़ की प्रयोगात्मक रचनाएँ 'जेकब्स रूम' और 'मिस्टर डेलोवे' हैं, परन्तु 'टु द लाइट हाउज़' (१९२७) में उनकी उपन्यास-कला का परिपक्व रूप मिलता है, इसमें चेतना के आभ्यन्तरिक प्रवाह को आत्मा के ज्वार-भाटे के रूप मेंचित्रित किया गया है, प्रतीकों का भी उपयोग है, और एक अत्यन्त संवेदनशील कलाकारिता भी है जो काव्य-रस देने में समर्थ है। पुरातन ढंग की कथा समाप्त हो गई परन्तु चारित्रिकता, जो अंग्रेज़ी उपन्यास की विशेषता थी। फिर भी सुरक्षित रही।

परन्तु नये उपन्यास का वास्तविक विकास बाद में हुआ। इन दोनों लेखकों ने उपन्यास-संबन्धी रूढ़िवादिता को नष्ट किया, और नई सम्भावनाओं की ओर इंगित किया। वास्तव में नये उपन्यास का नारा एलडस हक्सले की रचना 'आइलेस इन गाजा'। (१९३६) से आरम्भ होता है। इस उपन्यास में काल-प्रवाह को तीन तलों पर बराबर चलाया गया है। सच तो यह है कि १९२० से १९३६ तक उपन्यास के क्षेत्र में सबसे बड़े परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र में नहीं थे, नैतिक क्षेत्र में नये विचारों की उद्भावना में थे। प्रथम महायुद्ध ने रूढ़िगत विचारों की जड़ें हिला दी थीं और फलस्वरूप उपन्यासों में नई नैतिक चेतना की दुहाई दी जाने लगी थी। टेकनीक के क्षेत्र में ई० एम० फास्टर, डी० एच० लारेन्स और एलडस हक्सले कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

नये संवेदना-क्षेत्र भी सामने आए। महायुद्ध को लेकर कई रचनाएँ प्रस्तुत की गई जिनमें अरनेस्ट हेमिंग्सवे की रचना 'ए फेयरवेल टु आर्म्स (१९२९) प्रमुख है। सिंक्लेयर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेविस, अप्टन सिंक्लेयर और ड्रेसर अन्य अमरीकी उपन्यासकार थे जिन्होंने यूरोप की नई औपन्यासिक चेतना को प्रभावित किया। कुछ उपन्यासकार धुर ग्रामीण जीवन को सामने लाए। बचपन और किशोरावस्था को लेकर भी कई रचनाएँ उपस्थित हुईं। काल्पनिक युगों और दूर देशों को लेकर भी रचनाएँ सामने आईं। ऐतिहासिक रोमांस का एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। नागरिक जीवन की विभीषिकाओं से भागकर उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन के काव्य-चित्र उपस्थित किए और उसे नागरिक जीवन एवं उद्योग-धन्धों के विपक्ष में पेश किया। अपराधी जीवन-सम्बन्धी रचनाओं और जासूसी रचनाओं की भी बाढ़ आ गई।

उपन्यासकारों की इस बाढ़ ने उपन्यास पढ़ने वाली जनता को कई वर्गों में बाँट दिया। एक वर्ग वेल्स, बेनेट, गेल्सवर्दी और कोनार्ड-जैसे परम्परानिष्ठ उपन्यासकारों को पसंद करता था तो दूसरा ज्वाइस और वुल्फ के प्रयोगों को, तीसरा गाँवों के चित्रण को, चौथा आइरिश या चीनी पृष्ठभूमि को। वास्तव में अनेक प्रकार की विचार-धाराओं ने उपन्यास को विश्रृंखलित कर दिया था। १९३७ के बाद 'प्रोलेतेरियेत नाविल' के रूप में मार्क्सवादी और साम्यवादी विचारों पर आधारित रचनाएँ सामने आईं और वर्गवाद तथा आन्दोलनों को महत्त्व मिला।

पिछले डेढ़ दशक में उपन्यासों का जो विकास हुआ है वह विशेषतः टेकनीक की दिशा में। उपन्यास का क्षेत्र छोटा होता गया है यद्यपि नये-नये क्षेत्रों की खोज भी की गई है। अब उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को न लेकर जीवन का एक खण्ड-मात्र लेता है, यहाँ तक कि चौबीस घंटों का जीवन या कुछ घंटों का जीवन भी उसने लिए काफी हो जाता है इन कुछ घण्टों में ही लेखक की चेतना काल-प्रवाह में आगे-पीछे दौड़ती है और उसके जीवन के अनेक श्रृंखल-विश्रृंखल चित्र पकड़ने में सफल होती है। इन्हीं चित्रों में पात्रों के जीवन की कथा बनती-बिगड़ती है। वास्तव में उसमें कर्तव्य नहीं होता, भाव-संवेदन ही होता है। फलस्वरूप, उसमें कथा की कड़ियाँ भी नहीं बनतीं, अथवा कथा सूक्ष्म ही रहती है। बीच-बीच में से कथा की श्रृंखलाएँ टूट आने पर मात्र अबूझ भी हो सकते हैं। इस प्रकार पाठक के पल्ले मानसिकता ही पड़ती है, चारित्रिकता नहीं। उपन्यास में मानस-भूमि पर जो तिरता दिखलाई पड़ता है वह केवल अस्तित्व-बोध-मात्र है। अधिकांश कथा एक प्रधान पात्र अथवा दो-तीन पात्रों से सम्बन्धित होती है। अन्य पात्र रंग-मात्र भरते हैं। प्रधान पात्र के सबल या या दुर्बल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में मनोविज्ञान ने बतला दिया है कि सभी मनुष्य मूलतः दुर्बल हैं और चारित्रिक स्वास्थ्य अलभ्य वस्तु है। जहाँ वह है भी, वहाँ नीचे के तल में विकृति ही मिलेगी। फलतः नये उपन्यास में न कथा हाथ लगती है, न चारित्रिकता; न मनोविज्ञान-निष्ठा, न तर्कसम्मत वार्ता; क्योंकि चारित्रिकता जहाँ नहीं है वहाँ मनोविज्ञान और तर्क-संगति भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्त में उपन्यास विचार या सिद्धान्त का विस्तार-मात्र रह जाता है और उसमें उपन्यासेतर अनेक अन्य तत्त्व आकर्षण देने के लिए महत्त्वपूर्ण ढंग से सामने आ जाते हैं। पूस्त के एक उपन्यास में एक पात्र रेल में सफर करते हुए एक आदमी को जान-बूझकर ढकेल देता है जिससे वह स्वयं कार्य-कारण की श्रृंखला से स्वतन्त्र रह सके (ले केब्ज दु वेतिकन, १९१४) यह निरुद्देश्य कर्म (ल एक्ते ग्रेचुई) का प्रमुख उदाहरण है। एक प्रकार से जीन पाल सार्त्र की अस्तित्ववादी विचार-धारा का सूत्र हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें मिल जाता है; क्योंकि यहाँ कर्म स्वतन्त्र अस्तित्व का सूचक-मात्र है, उसका न कोई पूर्वापर-सम्बन्ध है, न कोई उद्देश्य; इस प्रकार नया उपन्यास मनोविज्ञान पर भी उस तरह आधारित नहीं है जिस प्रकार हेनरी जेम्स और कोनार्ड के उपन्यास। वह मनोविज्ञान से भी स्वतंत्र होना चाहता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं, जो फ्राइड, एडलर और युंग की सैद्धान्तिक मान्यताओं से आगे नहीं बढ़ते और 'केस-हिस्ट्री' बन जाते हैं अथवा साइको थेरेपी-मात्र रह जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी हैं जो विशृंखलित, अतर्क्य कार्य-व्यापार और निरुद्देश्य भावोद्दीप्ति को लेकर चलते हैं। आज उपन्यासकार का विश्वास डिग गया है। वह उन्नीसवीं शताब्दी के महान् उपन्यासकारों की तरह मनुष्य को केन्द्रीयता नहीं दे पाता। मनुष्य उसके लिए दुर्बल और अबूझ है। वह या तो लारेन्स की तरह प्रकृति की ओर लौटना चाहता है, या कार्य-कारण-शृंखला और नैतिक नियमों को तोड़कर एकदम प्रकृत पशु बन जाता है। आत्मोपलब्धि का नारा वह बराबर उठाता है, परन्तु सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होकर ही यह आत्मोपलब्धि उसे मिलेगी, ऐसा उसका विश्वास है। फलस्वरूप औपन्यासिक जगत् में कर्तृत्व और चारित्रिकता का अभाव है और क्षुद्र ही उसके केन्द्र में बैठ गया है। इसीसे पश्चिम में उपन्यास के विघटन की बात उठी है और रेल्फ फ्लाक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द नाविल एण्ड द पीपुल' में पश्चिमी उपन्यास के पतन को अनिवार्य बतलाते हुए समाजवादी यथार्थ (सोशिलिस्टिक रियलिजम) की आवाज उठाई है। इसमें सन्देह नहीं कि रूसी उपन्यास की परिणति के रूप में यह समाजवादी यथार्थ सामने आया है और गोर्की-शोलोखव-जैसे कलाकारों की मान्यता उसे प्राप्त हुई है। परन्तु समाजवादी यथार्थ चाहे समाज के चित्रण के लिए जितना उपयोगी हो, चाहे उसमें नये सामाजिक नायकत्व की आदर्शवादी अतिरंजक कल्पना हो,—वह मानवीय चरित्र की उन सूक्ष्म भंगिमाओं को उपस्थित नहीं कर सकता, न उन गहराइयों को छू सकता है जो फ्रेंच उपन्यास में सहज रूप में दिखलाई देती हैं। व्यक्तिगत जगत् के सूक्ष्म को रूसी उपन्यासों में सामाजिक स्थूल पर बलि कर दिया गया है। परन्तु क्या यह स्थिति अनिवार्य है, क्या सामाजिक उद्देश्य की बैसाखी लेकर ही उपन्यास सार्थक बन सकेगा! क्या समाज और व्यक्ति के अन्तरावलम्बन को स्वीकार करके इन दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय की चेष्टा भविष्य में उपन्यासकार का ध्येय नहीं हो सकता। पश्चिमी उपन्यासकार जहाँ अन्तरंग में डूबकर खो गया है, वहाँ रूसी उपन्यासकार जीवन की मोटी-मोटी रूपरेखाएँ उभारने और सामाजिक-राजनीतिक प्रचारवाद में ग्रस्त है। दोनों अतिवादी हैं। कदाचित् दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय में ही उपन्यास का भविष्य अन्तर्हित है।

उपन्यास क्या नहीं रहा है और क्या नहीं है। अपने विकास में उसने कविता, आख्यान, लोक-कथा, उपदेश, रूपक, नाटक, निबन्ध, वार्ता सबके तत्त्व संग्रहीत किए हैं। वह सामाजिक, राजनीतिक, व्यंगात्मक, साहित्यिक सब प्रकार की स्थितियों को सुलझाता रहा है। उसने मनोविज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात् किया और ये उपलब्धियाँ ही उसे अब चारित्रिकता के केन्द्रीभूत तत्त्व से अलग लिये जा रही हैं। चरित्र अबूझ है, इसलिए उपन्यास भी अब अबूझ बन गया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान की उतनी अतलस्पर्शी गहराइयाँ उपन्यास का विषय नहीं हैं। उपन्यास सार्थक जीवन देता है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनाभास को लेकर चलता है। उसमें सिद्धान्त का आरोप क्यों हो ? क्यों लेखक जीवन को अपने नैसर्गिक रूप में हमें नहीं दे ? क्यों वह स्रष्टा बनने का दम्भ करे ? उपन्यास मनुष्य की कृति है और मानव-जीवन के अन्तर में पहुँचना ही उसकी सार्थकता है। बुद्धि को एक-दम परित्यक्त मानकर अबूझ के सहारे जीवन के अन्तराल में कैसे पहुँचा जा सकेगा ?

यूरोप से एक आवाज उठी है कि उपन्यास मर रहा है, या अपने अन्तिम दिन जी रहा है। पिछले वर्ष इस विषय पर कई विद्वानों ने चर्चा चलाई। जिस तरह संसार के अन्य सभी विषयों में, यहाँ भी मतभेद रहा और दो दल रहे। एक दल उपन्यास को सक्रिय और सशक्त मानता है और नई सम्भावनाओं की कल्पना करता है। दूसरा वर्ग उपन्यास के दिन ही उँगलियों पर गिन रहा है। दोनों के अपने तर्क हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास अब वह नहीं रहा जो डिकेन्स और थेकरे के जमाने में था, या टालसटाय के समय में। उसकी प्रकृति ही बदल गई है। वह उसी कोटि की चीज होते हुए भी भिन्न वस्तु है। नये उपन्यास का यह नयापन ही क्या उसके भीतर की छिपी जीवन-शक्ति की दलील नहीं है ? सम्भवतः पश्चिम के व्यक्तिवादी नये उपन्यास और रूस के समाजवादी यथार्थ के घात-प्रतिघात से एक नई उपन्यास-कोटि विकसित होगी जो चीन और भारत की नई जाग्रत औपन्यासिक प्रतिभाओं को भी आत्मसात् कर लेगी। पूर्व में अभी उपन्यास नये जीवन के चित्रण और नई सम्भावनाओं के उद्घाटन में लग रहा है। कथा-साहित्य का जन्म ऋग्वेदिक गाथाओं, औपनिषदिक रूपकों, पौराणिक देवकथाओं और जातक-कथाओं के रूप में भारत में ही हुआ। पश्चिमी संसार की कई शताब्दियों की यात्रा करने के बाद उपन्यास फिर अपने जन्म-स्थान में लौटा है। सम्भवतः उपन्यास के विकास के नये चरण पूर्व में ही पड़ेंगे और वह पश्चिम के अनुकरण से नहीं, पूर्व की प्रकृति को आत्मसात् करके ही आगे बढ़ेगा। इसी सन्दर्भ में हमें नये उपन्यास का अभिनन्दन करना है।

: २ :

नई उपन्यास-कला में जो चीज़ सबसे पहले हमारे सामने आती है वह यह है कि उसकी जीवन-सम्बन्धी संवेदना भिन्न और नई कोटि की है। उपकरण वही हैं, दर्पण वही पुराना है; परन्तु अब उसे नई क़लई मिल गई है। वास्तव में हम फार्स्टर से सहमत हैं कि विषय की नवीनता और महत्त्व उपन्यास के उतने महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं हैं जितनी उसकी संवेदना की भूमि। आधुनिक उपन्यास संवेदना की सूक्ष्मता और व्यापकता के कारण ही पुरातन उपन्यास से भिन्न है। वह वही चीज़ होते हुए भी वही नहीं है। घटनाओं और चरित्रों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है और एक तरह से मानव-जीवन का अर्थ ही नया उद्घाटित हुआ है। 'मूल्यों' के परिवर्तन ने उस चश्मे को नये रंग दे दिए हैं जिसके भीतर से हम अपने को और अपने चारों ओर के संसार को देखते थे। फलस्वरूप उपन्यास की कला बदली है और बदले हुए दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए उसने नये अवयवों का विकास किया है या पुराने उपकरणों को ही संवेदना की नई धार दी है।

नये उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्त्वों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। ये तत्त्व हैं : (१) जीवन-क्षेत्र का संकोच। काल-विस्तार और जीवन-विस्तार दोनों की दृष्टि से आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है। २४ घण्टों या कुछ ही घण्टों के जीवन-प्रवाह को कथा में बाँधने में आज उपन्यास की सार्थकता है। श्री गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' उपन्यास में एक दिन और एक रात की कथा कही गई है और प्रभातोदय के साथ नये जीवन के अभिनन्दन के साथ वह समाप्ति को प्राप्त होती है। ज्वाइस और वर्जीनिया वुल्फ़ इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो चौबीस घण्टे भी बहुत होते हैं। उपन्यासकार आज खण्ड मनुष्य को न देकर सम्पूर्ण मनुष्य को देना चाहता है। परन्तु यह मनुष्य की सम्पूर्णता उसके कर्तृत्व में नहीं है, उसके मन के आलोड़न-विलोड़न में है। इसीसे नया उपन्यासकार आज अणुवीक्षणीय हो उठा है। उसके लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है, प्रतीक नहीं, वह स्वयं ब्रह्माण्ड ही है। जैनेन्द्र में हमें यही दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। उन्होंने समस्त जीवन की कथा न कहकर सर्वजीवन की कथा कही है। काल के साथ जीवन की चित्रपटी भी छोटी होती गई है। आज अनेक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के उपन्यास लिख रहे हैं, या बचपन अथवा युवावस्था तक सीमित हैं, कुछ ने केवल गाँव को ले लिया है, कुछ सामूहिक चेतना के किसी अंग को लेकर चलना चाहते हैं। आज उपन्यास में जीवन का एक खण्ड ही बहुत है। उसका दृष्टिकोण विशेषज्ञ का दृष्टिकोण है।

(२) काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनामूलक कल्पना। आइंस्टाइन की खोजों ने आज देश और काल के सम्बन्ध में हमारी धारणा ही बदल दी है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बदली हुई धारणा उपन्यासकार के उपयोग की वस्तु है या नहीं, परन्तु आज घटना बहिर्जगत् की वस्तु नहीं, अन्तर्जगत् की वस्तु बन गई है और उसके क्रम-विकास की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं है। वर्जीनिया वुल्फ़ ने अपने 'द वेव्ज़' उपन्यास में काल-प्रवाह के तीन स्तर एक साथ चलाए हैं और घटनाओं की असंगति और क्रमहीनता से काल-स्रोत का आभास दिया है। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में स्थान-स्थान पर इस नई टेकनीक का प्रयोग किया है और बीती हुई घटनाओं को शेखर की विशृंखल मानसिक संवेदनाओं के माध्यम से देखा है। इस प्रकार के प्रयत्न उपन्यास से कथारस छीन लेते हैं और उसे विशेषज्ञों की वस्तु बना देते हैं। पाठक पात्रों के अन्तर्जीवन में भाग नहीं ले पाता, वह बेचारा द्रष्टा-मात्र रह जाता है। उपन्यास-लेखक का मन स्वयं काल की सीमाओं में बँधा हुआ है। वह काल के पार कैसे देख सकेगा ? रेम्बो ने रुग्ण मनस् या अतिजीवित क्षणों में काल और व्यक्तित्व के पार देखने की कल्पना की थी, परन्तु यह कल्पना उसकी कुछ कविताओं में ही बँध कर रह गई। आधुनिकता के नाम पर उपन्यासकार उसे फिर लेकर चलना चाहता है। जो हो, काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनामूलक कल्पना नये उपन्यास का बहुमूल्य सम्बल है।

(३) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण। अर्थात् फ्राइड, एडलर और युंग की मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक मान्यताओं पर आधारित घटनाओं का संकलन और नई चारित्रिकता का विकास; जो अवचेतन को अधिक महत्त्व देती है। यह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने परम्परागत उपन्यास से चारित्रिकता का अंग-मात्र लिया, परन्तु उसे बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रख सका। इसका कारण मनोवैज्ञानिकों की मन-सम्बन्धी खोजें थीं। मनोवैज्ञानिकों ने आज मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतन्त्र इकाई और अविभक्त थी, वह आज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में अराजकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है परन्तु उनका अपना आकर्षण भी है। उनसे हमारी जिज्ञासा की भी शान्ति होती है और हमें क्षण-भर क्रीड़ा-कौतुक का आनन्द भी होता है। स्वयं विधाता की भाँति हम मन को तोड़-फोड़ लेते हैं और टूटे हुए टुकड़ों को कभी एक तरह, कभी दूसरी तरह रखकर चमत्कार-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े-मात्र हैं, परन्तु ये मानवीय प्रकृति के अंग होने के कारण उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ये वे ईंटें हैं जिन पर वह भव्य भवन का निर्माण कर सकता है। इसलिए आज का उपन्यासकार इन बिखरे हुए मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार करे? क्या वह इनसे एक निश्चित रूप और आकार का निर्माण करे? पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार चरित्रांकन करते समय चरित्र के विभिन्न टुकड़ों को एक-दूसरे से बिलकुल सटा-कर एक सम्पूर्ण और निश्चित चरित्र का निर्माण करने में अपनी कला की सार्थकता समझते थे। यह नहीं कि वे मानव-चरित्र की असम्बद्धताओं और असम्पूर्णताओं को नहीं समझते थे और मनुष्य को देवता या राक्षस मानकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। हमें ऐसे अनेक चरित्र उन्होंने दिए हैं जो सफ़ेद और काले रंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हेमलेट-जैसी रहस्यवादिता है, जो निश्चित रूप-रेखाओं में बँध नहीं पाते। परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे चरित्र को 'चरित्रता' दें अर्थात् वह निश्चित, सुसंबद्ध, स्पष्ट, तर्कसिद्ध और अविभाज्य इकाई हो। चरित्र की डोरियों के सिरे परस्पर बँधे हों, वे झूलती न रहें। परन्तु बीसवीं शताब्दी की मनोविज्ञान की खोजों ने 'चरित्र'-सम्बन्धी मान्य-ताओं में महान् क्रान्ति कर दी। यह अवश्य है कि अब भी पुरानी परम्परा के सैकड़ों कथाकार हैं जो चरित्रों को सुनिश्चित और अखण्डित इकाई बनाए रखने में ही कला की सार्थकता समझते हैं, परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा ऐसा वर्ग भी है जो परम्परा की ओर मुड़कर नहीं देखना चाहता। उसकी दृष्टि भविष्य पर है और उसका कहना है कि किसी भी पात्र को अविभाज्य और सुस्पष्ट बना देना वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन में ऐसा नहीं होता। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते हैं वे हमें खण्डित रूप में ही, या अनेक खण्डों के रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन चरित्रगत खण्डों को जोड़कर अपने लिए एक सम्पूर्णाभास तैयार करना होता है। इसीलिए आज का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता, वह चरित्र के विभिन्न अंगों या खण्डों पर प्रकाश डालता है। मनोवैज्ञानिकों ने मन को जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है, वे विभिन्न स्तरों की चीज़ें होते हुए भी चरित्र के पुनर्निर्माण के आवश्यक अंग हैं क्योंकि आज हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन-मन से कार्य-क्षेत्र में उतरता है। या वह यह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से संचालित है। परन्तु उसके पीछे उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर-विरोधी, कभी-कभी असम्बद्ध और भयावह तत्त्व हैं और उसकी चेतना उसके अवचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित होती रहती है। आज उपन्यासकार ने मानव-मन के अवचेतन के तत्त्व को समझ लिया है और उसका शिल्प भी बदल गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा-सा, निश्चित-सा रेखाचित्र है, न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध खण्ड-चरित्र मात्र को सामने रखकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। वह पाठक और चरित्र के बीच में ज़रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी खड़ा होना नहीं चाहता। नये उपन्यासकार अपने चरित्रों को कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं, कभी विरोधाभासपूर्ण। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर उसे हम उसी प्रकार क्यों नहीं चित्रित करें? एक दूसरी कठिनाई यह है कि यह सब-के-सब मनस्-खण्ड एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित हैं, कुछ अन्तश्चेतना का प्रवाह-मात्र अथवा उपचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया-मात्र और कहीं अवचेतन की अन्ध-शक्तियाँ हमारे सामने आती हैं जो पात्रों की चेतन मान्यताओं को झकझोर डालती हैं। इन विभिन्न स्तरों और खण्डों को लेकर हमें एक समन्वित चरित्र तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र से अब कालानुक्रम लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं, परन्तु वे किसी निश्चित काल-क्रम से नहीं। कभी हम सहसा आगे बढ़ जाते हैं, कभी झटका खाकर एकदम पीछे उसके बचपन या किशोर जीवन के गर्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषम और असम्बद्ध गति की भाँति कथा और चरित्र-भूमियाँ आज विषम, असम्बद्ध और अगतिशील बन गई हैं। उपन्यासकार आज हमें अखण्डित सम्पूर्ण नहीं देता। वह हमें जीवन-खण्ड ही देता है। वह सुनिश्चित होना नहीं चाहता और चरित्र के खण्ड देकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। जो वह देता है उसमें एकसूत्रता स्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एकसूत्रता नहीं होगी। इसे हम भावगत एकसूत्रता कह सकते हैं। सेसिल डे लेविस ने इसे 'इमोशनल सीक्वेन्स' कहा है। वे कहते है : **"तर्क-संगति के नितान्त अभाव आदि न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़-सा जाता है.....संगति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर डालकर उसे अतिसंवेदित कर देना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे लगेगा कि उसने सूत्र को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो।"** वास्तव में नया उपन्यासकार चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्कग्रहीत सम्बन्ध-सूत्रों की उसके उपन्यास में स्थापना असम्भव होगी। अब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय-निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था, परन्तु जहाँ साहित्यकार ऊपरी मन के धरातल को छोड़कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण, असंगत और अर्द्धस्फुट विचार-प्रवाह या भाव-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहाँ तर्कशास्त्र-समस्त निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-खण्ड सम्पूर्ण चित्र कैसे दे सकेंगे? आज का उपन्यासकार इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को पूर्णतया नहीं जान सकेंगे, तो नया दृष्टिकोण कहता है कि हम अपने निकट-से-निकट सम्बन्धी का अन्तर्बाह्य-पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं। कभी जान भी न सकेंगे, यह भी नहीं कह सकते। जब दैनिक जीवन में ऐसा है तो हम उपन्यासकार से यह क्यों चाहें कि वह हमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे? आज का उपन्यासकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी अपनी चीज़ है। उसे छोड़कर कोई उससे सम्पूर्णतः परिचित होने का दावा नहीं करता। फिर भी जो असम्बन्धित चित्र आज हमें उपन्यासकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है, वे पात्र के मन की एक झाँकी देने में समर्थ हैं। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्क-सिद्धता और गणित का योगफल हमें नहीं ढूँढना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उसमें अकल्पित और असम्भाव्य को भी स्थान है। वहाँ हमें योगफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएँ। हम उपन्यासकार के कल्पना-चित्रों में डूब जायँ और उनके प्रवाह में अपने को बहने दें। तभी हम जीवन-प्रवाह की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

४—नये उपन्यासकार में अन्तर्जीवन की प्रधानता है और उसके भीतर से बहिर्जीवन को देखने का प्रयत्न है। फलस्वरूप एक ही घटना को या एक ही चरित्र को विविध दृष्टिकोणों या पात्रों के माध्यम से देखा जाता है। नई चरित्र-दृष्टि चरित्रों को असंगत अवचेतनीय प्रतिक्रियाओं का समाहार मानती है। इससे परम्परागत ढंग की चारित्रकता और वस्तु-संगठन को आज अमान्य समझा गया है। आज का उपन्यासकार मानव-जीवन के क्षण-क्षण भावोत्थान-पतन का आलेखन-मात्र करता है और उसीमें जीवनाभास हमें देता है। परन्तु यह निश्चय है कि उसकी अपनी सीमाएँ हैं, जिनका व्यतिक्रम वह नहीं कर सकता। आज उपन्यासकार के लिए कालक्रमागत जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मूल्यगत जीवन, परन्तु केवल मूल्यगत जीवन को लेकर चलने से घटनाओं की शृंखलाएँ ही टूट जाती हैं और कथा कथा नहीं रह जाती। वास्तव में कालक्रम और 'मूल्य' दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और एक के लिए दूसरे की बलि उचित नहीं है। फ़ोरेस्टर ने अपने ग्रन्थ 'आस्पेक्ट्स आफ द नाविल' (१९२७) में उपन्यास के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता देते हुए कहा है कि उपन्यास के ताने-बाने के भीतर कालक्रम को एकदम अस्वीकार कर देना उपन्यासकार के लिए असम्भव बात है। चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में हो उसे कथा-सूत्रों से चिपटा रहना होगा, काल के अपरिसीम धारा-प्रवाह को उसे अनिवार्य रूप से छूना होगा, नहीं तो वह अबूझ हो जायगा और उपन्यासकार के लिए यह घातक ग़लती मानी जायगी। आधुनिक उपन्यास कालक्रमागत जीवन से ऊपर उठना चाहता है। एक-मात्र मूल्यगत जीवन ही वह देना चाहता है। परन्तु कथा में आकांक्षा, जिज्ञासा और समाधान के जो सूत्र हैं वे उसकी पकड़ से जाते रहते हैं और इसीसे उसकी रचना में जीवन-प्रवाह की वास्तविकता होने पर भी उससे हमें सन्तोष नहीं होता। अन्तर्जीवन का अन्यतम चित्र होने पर भी रचना अवास्तव ही रहती है।

आज उपन्यास कथा के सूत्र अदृश्य उपन्यासकार के हाथ में रखने का कायल नहीं है। वस्तु-संगठन तर्कमूलक बौद्धिक प्रतिक्रिया है और अन्ततः इस प्रक्रिया को लेकर चलने से रचना निष्प्राण ही हो सकती है। बहुधा घटनाएँ और चरित्र उपन्यासकार के सूत्रों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उपन्यास को परिसमाप्ति देने के लिए उपन्यासकार उनके साथ बलात्कार करता है। नया दृष्टिकोण इसे अनाचार मानता है। उपन्यास रूपरेखा को लेकर चले ही क्यों? क्या वह स्वाभाविक अथवा प्रकृत रूप से विकसित नहीं हो सकता? वह समाप्त हो ही क्यों? क्या वह खुला नहीं रह सकता? जीवन की भाँति वहाँ भी सब-कुछ सम्भावनाओं पर ही क्यों न छोड़ दिया जाय? सूत्रधार न होकर उपन्यासकार रचना के भीतर अपने को भी क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं डाल दे और किसी अकल्पित लक्ष्य की ओर बहने का आनन्द ले ? इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-संगठन कथा को आकर्षक और रोचक बना देता है, परन्तु वस्तु-संगठन नाटक से उधार ली हुई चीज़ है और रंगमंच की सीमाओं की उपज है। उपन्यासकार किसी भी रंगमंच से बँधा नहीं है। वह जीवन की व्यापकता का आभास क्यों न दे ? यह स्पष्ट है कि नये उपन्यास ने अपने को नाटक और काव्य के प्रतिबन्धों से मुक्त करना चाहा है और इसीलिए कालक्रम और वस्तु-संगठन की उसने उपेक्षा की। इसीलिए आज उपन्यस कही जाने वाली चीज़ एक नई साहित्य-कोटि बन गई है।

५—नये उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी विचारमूलकता है। वैसे हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का वाहन बना हुआ है, परन्तु आज यह विचारमूलक जीवन-दृष्टि में बदल गई है। टाल्सटाय, ऐन्द्रे ज़ीद, सार्त्र सब कथा को जीवन-सम्बन्धी ऊहापोह का साधन बनाते हैं। जहाँ जीवन-प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है वहाँ भी जीवन-दृष्टि की नवीनता ही अभिधेय है। इस प्रकार नया उपन्यास जीवन का चितेरा नहीं, जीवन का समीक्षक है। वह 'मूल्य' देता है, औपन्यासिक रस, चारित्रकता, अन्तर्मन की उपलब्धि ये उसके लिए आज महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रेल्फ़ फ़ाक्स ने इसी परिवर्तन में उपन्यास का ह्रास देखा है। परन्तु जो हो, यही नई दिशा आज उपन्यास ने ग्रहण की है और इसीमें उसने नई सम्भावनाओं की कल्पना की है।

६—नये उपन्यास में सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन के बीच पटरी बिठाने की चेष्टा भी दिखलाई पड़ती है। रूसी उपन्यासों का तो यह विषय है ही, क्योंकि रूस में सामूहिक जीवन के विकास का प्रयत्न हो रहा है और नये समाजवादी यथार्थ में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नहीं, उसकी समाजगत चेतना ही अंकित है, परन्तु पश्चिमी यूरोप के उपन्यसकार भी एक दूसरे ढंग से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे हैं। उपन्यास ही क्यों, काव्य और नाटक भी मूल रूप से इसी समस्या को लेकर चलते हैं। इब्सन और शा के नाटक और वेल्स की रचनाएँ इस द्वन्द्व को प्रारम्भ में हमारे सामने लाए और उन्होंने मनुष्य की मौलिक समाज-मूलकता का उद्घोष किया। बाद में व्यक्तिवाद के समर्थक भी सामने आए और समसामयिक युग में सार्त्र नाटकों में यह व्यक्तिवाद अपने सबसे नंगे रूप में दिखलाई देता है। इस समय पश्चिमी यूरोप मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है और पूर्वी यूरोप सामूहिक जीवन के प्रयोग कर रहा है। उपन्यास में यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से सामने आता है।

७—उपन्यास के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र में हुआ है। आज उपन्यासकार निर्वैयक्तिक ढंग से वैयक्तिक होना चाहता है। तटस्थता उसकी कला का प्राण बन गई है। फलतः कथा कहने के विविध ढंगों का उसने आविष्कार किया है। आज उपन्यासकार वस्तुगत जीवन नहीं देना चाहता। इसीसे आज वह कहानी में मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ही भर देना चाहता है। उसकी कला आज रूपकात्मक या अभिव्यञ्जनात्मक है। आन्तरिक संवाद और अन्तश्चेतन-प्रवाहमूलक पद्धतियाँ उपन्यास को आध्यात्मिकता प्रदान करने में समर्थ हैं। बहिर्जीवन की चीज़ न होकर आभ्यन्तरिक जीवन की उपलब्धि हो गया है। नई-नई अभिव्यञ्जना-शैलियों का आविष्कार हो रहा है और भाषा-शैली के नये मार्मिक प्रयोग सामने आ रहे हैं। 'मुक्त आसंग' (फ्री एसोसियेशन) की पद्धति, सांकेतिकता का प्रयोग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीकवाद (विशेष रूप से स्वप्न-प्रतीकों और यौन-प्रतीकों का व्यापक उपयोग) और इसी प्रकार की दूसरी नवीनताएँ नई उपन्यास-कला का निर्माण करती हैं। उपन्यासकारों ने तर्क-संगति को तोड़ दिया है और वे भाव-संगति को प्रधान बनाकर चले हैं। तर्कबद्ध बौद्धिकता के द्वारा नहीं, भावमूलक प्रतीक-पद्धति के द्वारा नया उपन्यासकार हमें नई औपन्यासिक संवेदना देना चाहता है। यही नहीं उसका शिल्प भी आज उसकी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही सफल है और उसका रूप भी बदल गया है। उपन्यास का प्रारम्भिक विकास नाटक, आख्यान और महाकाव्य के आधार पर हुआ और जहाँ नाटकीय आकांक्षा-निर्वाह की पद्धति वस्तु-संगठन में प्रमुख मानी गई, वहाँ उपन्यास के रूप-विधान में महाकाव्यात्मकता को प्रश्रय मिला। आज का उपन्यासकार उपन्यास को निर्बन्ध निबन्ध और संगीत की पद्धति पर ले जा रहा है। फ़ारेस्टर ने टाल्सटाय के 'वार एण्ड पीस' उपन्यास में और प्रूस्त की रचनाओं में संगीतात्मक अनुबन्धों और लयों की खोज की है। एक ही प्रकार की स्थिति, भावना या शब्दावली की पुनरुक्ति अथवा समानान्तर घटनाओं एवं भावों के विकास से उपन्यासकार 'सिम्फ़ोनी' (गीतिबन्ध) का आभास हमें देता है। उपन्यासकार की अन्तश्चेतना और अभिव्यञ्जना संगीत-कला के विकास के समानान्तर रखी जा सकती है, जो नई उपलब्धि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : भारतीय लेखक

प्रो० बेचन, एम० ए०

नागार्जुन : जीवन और कृतित्व

नागार्जुन मैथिली और हिन्दी के चिर-परिचित कवि हैं। १९४३ तक ये 'यात्री' नाम से लिखते रहे हैं। हिन्दी में इन्होंने १९३०-३५ से लिखना प्रारम्भ किया। इनका एक संक्षिप्त परिचय देते हुए डॉ० जयकान्ति मिश्र ने अपनी पुस्तक "A history of Maithili literature" में लिखा है—

"Vaidyanath Mishra "Yatri" (b. 1908) of Trauni, Read Sanskrit in early years. Studied at Tranraic, Matisi, Satlakha Ganouli, Banaras and Calcutta; sometimes teacher at Saharanpur. Toured all over India. Edited Dipaka (a Hindi Paper), Journey to Ceylon 1936. Became a Budhist monk 1937 by the name of 'Nagarjuna' the name being still used in his Hindi writings. Travelled Burma & Tibet (twice). Became a Grihastha again in 1941. Now at Patna. Inspiration to write in Maithili at Banaras under Sita Ram. Especially during 1930-33, Fine collection of poems published as Chitra & Paro (novel) Introduced modernism in Maithili literature. Being himself a noted communist."

हिन्दी-साहित्य में नागार्जुन आज न केवल एक जनकवि हैं, वरन् प्रेमचन्द की परम्परा को पुनः हिन्दी में स्थापित करके आगे बढ़ाने वाले सुप्रसिद्ध उपन्यासकार भी माने जा रहे हैं। 'युगधारा' नाम से इनका एक स्फुट कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। अब तक पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जिसमें एक उपन्यास 'बलचनमा' विश्व-साहित्य के उपन्यासों में स्थान पाने योग्य है।

आज से पन्द्रह साल पूर्व हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला की काव्य-कृति 'अनामिका' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था :

"लोग गाँव-गाँव को चले
कोई बाजार कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघियाँ-लँगोटा ले, सँभले,
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान !—निराला

फिर भी युग की प्रगति को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का ठेठपन आगे अधिक प्रभावित करेगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज नागार्जुन की कविता में भाषा का यही ठेठपन, व्यंग्य की चुटीली चमक और कहीं-कहीं यथार्थ से उत्पन्न भीषण कर्कशता हम पाते हैं। नागार्जुन की कविता इसलिए आज प्रसिद्ध भी हो पाई है। 'निराला' के बाद वही एक-मात्र कवि है जिसने इतनी सतर्कता और काफी सरलता से 'निराला' की परम्परा को काव्य में एवं प्रेमचन्द की परम्परा को गद्य में स्थापित किया है। 'निराला' की परम्परा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि 'निराला' स्वयं किसी धारा में उत्पन्न एक कवि ही नहीं है, वरन् एक असीम सागर है जो विभिन्न धाराओं में इधर-उधर बहते रहे हैं। इसलिए मैं 'निराला' को मात्र किसी 'वाद' का कवि नहीं मानता। द्विवेदी-युग के बाद निराला ही एक ऐसा व्यक्तित्व आया जो सब प्रकार की कविता लिखने में प्रवीण निकला और आज भी, (अपनी विक्षिप्त अवस्था में भी) हिन्दी-साहित्य को नये-नये गीत देता चला जा रहा है। फलतः द्विवेदी-युग के बाद के काव्य-साहित्य को मैं निराला-युग मानता हूँ। 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', मँहगू मँहग रहा' इत्यादि निराला की कविताएँ उसके काव्य-साहित्य की एक विशेष दिशा की परिचायिका हैं, जिसमें युग की यथार्थता और जन-चेतना प्रत्यक्ष रूप में बोलने लग गई है। इसी सामाजिक जन-चेतना के गायक नागार्जुन हैं। क्योंकि उनका सिद्धान्त साम्यवाद है, और विषय मनुष्य। फलतः उन्होंने उसी टेकनीक को अपनाया। पर निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन की कविता स्पष्टतः निराला की काव्य-प्रणालियों का अनुसरण करती है। यह गवेषणा का विषय है। हाँ, कुछ समानता तो मिलती है। निराला खजोहरा में लिखते हैं :

"दौड़ते हैं बादल काले-काले
हाईकोर्ट के वकील मतवाले।"

नागार्जुन लिखते हैं :

"बताऊँ ?
कैसे लगते हैं—
दरिद्र देश के धनिक ?
कोढ़ी-कुढ़व तन पर मणिमय आभूषण !!"

दोनों की कविता की आन्तरिक स्पिरिट मिलती-जुलती है। टेकनीक का बहुत अंश नागार्जुन ने निराला से ग्रहण किया, ऐसा लगता है। परन्तु उनकी कविता की अस्त-व्यस्त रूखड़ी भावभूमि उनके विषय की प्रतिच्छाया है, यह उनका अपना मत है। नागार्जुन का विषय सामाजिक है, इसलिए उनकी कविता में सामयिक जीवन का रूखड़ापन और उसका अन्तर्विरोध उभरकर आता है। जिस प्रकार जीवन में संगीत का पूर्ण लालित्य आज सुनाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार नागार्जुन की कविता में भी संगीत का पूर्ण लालित्य नहीं सुनाई पड़ता, यथार्थ की विषमताएँ दिखलाई पड़ती हैं।

प्रो० रामचरण महेन्द्र ने नागार्जुन की कविता पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है : **"नागार्जुन सर्वहारा कविता की धारा को तीव्र कर देते हैं। उनमें मज़दूर-वर्ग की संघर्ष-शील चेतना समुन्नत रूप में प्रकट हुई है। पूँजीवादी चट्टानों से टकराती, भयंकर संघर्षों में तपती, मज़दूर-वर्ग की हिमायत करती हुई नागार्जुन की काव्य-धारा जनवादी परम्पराओं में आगे बढ़ी है। नागार्जुन साम्राज्यवाद के संस्कृति-विनाशक प्रयत्न को एक चुनौती देते हैं।"**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागार्जुन की कविता की कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं—

(१) देश-प्रेम से उत्पन्न आत्म-वेदना—

इस प्रकार की बहुत सारी कविताएँ नागार्जुन ने लिखी हैं; जिनमें से एक सुप्रसिद्ध कविता है सन् १९४८ में प्रकाशित भारत की आजादी के प्रथम जन्म-दिवस पर लिखी गई :

"आज क्या है
कुछ नहीं, बस,
जन्म-दिन शिशु-राष्ट्र का है !
आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनाहगारों से,
छोड़कर संघर्ष का पथ
भूलकर अन्तिम विजय की घोषणाएँ
भोंककर लम्बा छुरा तुम सर्वहारा जनगणों की पीठ में
लड़खड़ाकर गिर पड़े थे
रेशमी, तीन रंगे गदेले पर—
तख्त-ए-ताऊस पर।"

आजादी के गत ८ साल की तुलना इस कविता से करके कवि की महत्ता एवं देश-प्रेम को समझा जा सकता है।

(२) साम्राज्यवाद के भयंकर स्वरूपों के विरुद्ध क्रान्ति—

सन् १९५० में साम्राज्यवाद के भयंकर युद्ध-लिप्सु फैसलों के विरुद्ध नागार्जुन ने लिखा था :

"एटम बम के बलबूते जो सपना देखें विश्व-विजय का
सौ-सौ टन बम गिरा रहे हैं फिर पूँजीवादी हत्यारे
नफाखोर तो यही चाहते छिड़ जाये तीसरी लड़ाई
इसीलिए वे हाइड्रोजन बम की करते फिरें बड़ाई
शान्ति सर्वहारा को वरने आई रचकर स्वयं स्वयम्वर
उठो, तान लो, मुट्ठी साथी, आ पहुँचा फिर सात नवम्बर"

अन्तिम पंक्ति में कवि ने जनवादी-परम्परा को संगठित रूप से प्रकट किया है। समाज का प्रचलित कला-रूप तो जन-कला हो सकती है ! और नागार्जुन का सम्पूर्ण काव्य जन-कला है। कवि किसी चमत्कार के लिए काव्य नहीं लिखता और न पाठकों को भुलाता है, वह प्रत्यक्ष जीवन देता चलता है—आज के गरीब साहित्यकारों एवं स्वयं अपने जीवन की अभिव्यक्ति करते हुए नागार्जुन ने एक कविता में लिखा है :

"ठीक ही तो फर्माते हैं आप
मार्केट डल है जेनरल बुक्स का
चारों ओर स्लंपिंग; मगर ! मगर, दो साल हो गए
बेटा जकड़ा है बोन टी० बी० की गिरफ़्त में
पचास ठो रूपइया और दीजिएगा
बत्तीस-ग्राम स्टेप्पो माइसिन कम नहीं होता है !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि की भाषा-शैली के सम्बन्ध में अलग से विचार किया जायगा।

अन्य प्रवृत्तियाँ—(३) जनवादी-परम्परा को संगठित रूप से प्रकट करना, (४) समाज में प्रचलित कला-रूपों को अपनाना तथा (५) जन-भाषा के सरल-सरस स्वरूप की ओर सम्मान। वे क्रान्तिकारी हैं। 'मत करो क्षमा' हिन्दी के बीसियों पत्रों ने उद्धृत की थी। राष्ट्र-प्रेम नागार्जुन में फूटा पड़ता है। देश की दुर्दशा पर, वर्तमान असहाय अवस्था पर उन्होंने आँसू बहाए हैं। जन-जागृति के लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। प्रतिनिधि विचार-धारा को व्यक्त करने वाली कविताओं के उदाहरण स्वरूप आपकी 'भुस का पुतला' कविता को ले सकते हैं। प्रतीक-शैली में कवि ने वर्तमान स्थिति को 'भुस के पुतले' की तरह बतलाया है, जो जनता की रक्षा करने में समर्थ नहीं है। लोमड़ियाँ खेत चर रही हैं, जनता को जगाने की जरूरत है। अन्त में कवि ने कहा है :

"सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल-दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।"

स्वतन्त्रता-संघर्ष के प्रति उनके हृदय में जागरूकता है। साम्राज्यवादी शक्तियों को ललकारता हुआ उनका कवि कहता है :

"केशर की मासूम क्यारियों से आती आवाज
कश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज।"

नागार्जुन अपनी कविता के द्वारा प्रति क्रियाशील शक्तियों को मात्र चुनौती नहीं देते वरन् एक नये विश्व की स्थापना में विश्वास करते हैं—कामरेड भारद्वाज की स्मृति में लिखी गई कविता में उन्होंने यही विचार व्यक्त किया है :

"रत्तीभर भी है न मुझे सन्देह
हमारा युग आया है
अन्तिम विजय निकट है।"

नागार्जुन ने यह फैसला सन् १९५४ में दिया है। सन् १९४१ में कवि ने इस प्रयत्न की ओर बढ़ने का सन्देश दिया था, जो उनकी मैथिली की एक अति प्रसिद्ध कविता 'कविक-स्वप्न' में वर्णित है :

"उठह कवि, तो दहक ललकारा कने
गिरि शिखर पर पथिक-दल चढ़ते करे।"

(ऐ कवि, उठो, और ललकार दो, क्योंकि पथिकों की टोलियों को पहाड़ की चोटी पर चढ़ना है।) आज सचमुच मानवता गिरि-शिखर पर चढ़ने जा रही है। आज विश्व में फैली जन-चेतना को देखते हुए नागार्जुन की इन पंक्तियों को झुठलाया नहीं जा सकता। उनका स्वप्न जनता का स्वप्न है, उनका स्वप्न नई ज़िन्दगी, नई जवानियों और नये युग का स्वप्न है, दुनिया की दो-तिहाई आबादी का स्वप्न है।

कामरेड भारद्वाज पर लिखी गई छोटी-सी कविता में हमें Epic गुण का दर्शन होता है, जिस प्रकार का Epic गुण महाकवियों की कविता में होता है, जिस प्रकार का Epic

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण लेनिन पर लिखी गई मायाकोस्की की कविता में आलोचकों ने पाया था।

अपने दो निजी गुणों के कारण नागार्जुन हिन्दी-साहित्य में एक नये मार्ग-स्तम्भ के समान खड़े रहेंगे—वह है अपने काव्य का वैशिष्ट्य; जिसे मैं ऊपर बता चुका हूँ और दूसरा है नूतनतम भाषा-शैली-निर्वाह। 'युगधारा' में प्रकाशक ने लिखा है : **"प्रत्यक्ष राजनीति की वाम-पक्षी प्रवृत्तियों ने नागार्जुन को जनसाधारण से संयुक्त कर दिया कि वह आसान-से-आसान भाषा में लिखने लगे।"** इतना ही नहीं नागार्जुन ने उन प्रचलित शब्दों को भी अपनी कविता में स्थान दिया जिन्हें आज तक काव्य में वर्जित समझा गया है। इस प्रकार नागार्जुन पर ऊबड़-खाबड़ भाषा के प्रयोग करने का आरोप भी लगाया गया है, पर नागार्जुन उससे कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहते हैं। यह उनका कलात्मक ह्रास नहीं बल्कि जनता की भाषा को अधिकाधिक अपने काव्य में स्थान देने का प्रयास है। मेरी कविताओं पर अपनी सम्मति भेजते हुए नागार्जुन ने लिखा था : **"चलनी और सूप भी अपना-अपना प्रयोग करवाके रहेंगे।"**

'युगधारा' में ही प्रकाशक ने पुनः लिखा है कि **"नागार्जुन की हिन्दी-रचनाओं के मूल्यांकन में उनकी मैथिली कवि-कर्म का पर्याप्त परिज्ञान सिद्ध होगी।"** हमारे एक साहित्यिक मित्र ने मुझे लिखा था : **"आये दिन अधिकांश आलोचक नागार्जुन के साथ यह अन्याय करते हैं कि उन्हें मात्र क्रान्तिकारी कविताओं का रचयिता रूस-चीन की विरुदावली गाने वाला कवि मान बैठे हैं। इस तथ्य को मैं अंशतः सत्य मान सकता हूँ, किन्तु पूर्ण सत्य तो यह कभी हो ही नहीं सकता। सचाई यह है कि नागार्जुन की ऐसी रचनाओं की भी कमी नहीं जो नारेबाजी और क्रान्तिकारी भावनाओं से सर्वथा दूर हैं एवं जिनमें मानव-हृदय की अनेक शाश्वत संवेदनाओं को बड़ी ही सुष्ठु एवं मधुर अभिव्यक्ति मिली है। नागार्जुन एक ओर जहाँ जनवादी वस्तुबोध से उद्दीपित रचनाएँ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रियतमा का सिन्दूर, तिल-तिल भात और नन्हे की दन्तुरित मुस्कान भी भूल नहीं पाते।"** मित्र का यह कथन नागार्जुन की मैथिली एवं हिन्दी की सम्पूर्ण रचनाओं के पारायण करने से बिलकुल सार्थक सिद्ध होता है। प्रथम मैथिली कविता-संग्रह 'चित्रा' में कहीं-कहीं स्वाभाविक अनुराग की पंक्तियाँ प्रखर होकर प्रवाहित हो गई हैं। कवि अपनी प्रिया से दूर बम्बई में है, उसे प्रिया का पत्र मिलता है। पत्र मिलने के बाद गार्हस्थ्य-स्नेह की धारा इन पंक्तियों में उमड़ पड़ती है :

"झट आउ गाम,
नहिं आबी तँ हमरे सप्पत;
जँ होए एकों रत्ती सिनेह बेटाक हेतु
जनु अनठबियौ
भ जाउ बिदा चिट्ठी पबैत देरी तुरन्त
से लिखलनि ए अपनहिं हाथें बउ आक माया।"

जीवन का इससे मधुर प्रेम-गीत और क्या हो सकता है। करुणा की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति सच्ची भाषा में सभी नहीं कर सकते। यह बात सही है कि नागार्जुन ने छायावादियों की तरह जीवन से अपने को विमुख करके व्यक्तिवादी प्रेम-गीत नहीं लिखे। इनकी अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताओं में जो Universality है वही चीज इनकी अनुरागपूर्ण कविताओं में भी है। और यही नागार्जुन की प्रतिभा का द्योतक भी। इनकी कविता में प्रत्यक्ष जीवन के उन सभी छवि-चित्रों की अभिव्यक्ति हुई है, जो सत्य है। कल्पना के सुनील गगन में नागार्जुन केवल उड़ना ही नहीं जानते, उन्हें धरती और जीवन का भी सोच है। इन पंक्तियों में नागार्जुन की कल्पना-शक्ति है और बिम्ब उपस्थित करने की क्षमता देखें :

"अमल-धवल गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा है
छोटे-छोटे मोती - जैसे, अतिशय शीतल वारि-कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम कमलों पर गिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

हिन्दी के कुछ आलोचक नागार्जुन की कविता में मैथिली से आये प्रचलित शब्दों को न पकड़ सकने के कारण उनकी भाषा को उबड़-खाबड़ कहते हैं। नागार्जुन ने एक कविता में लिखा है :

"राह चलते लोग रुक-रुक पास आते
बाँचते हैं परस्पर को ताकते हैं।"

'बाँचते' और 'ताकते' ये दोनों शब्द विशेषकर मैथिली में प्रयुक्त होते हैं। छायावाद की सीमित भाषा-शैली को मानने वालों को यह अच्छा नहीं लगे, पर इन्हीं दो शब्दों के कारण इस पंक्ति में एक लोच-सा आ गया है। कविता से आत्मीयता टपकती है। लोकल कलर Local colour उभरकर आया है।

नागार्जुन की कविता में Local colour भाषा-शैली के कारण भी आ जाता है—'बाग पोखर चौर-चाँचर' इत्यादि शब्द धरती की धड़कन का परिचय देते हैं। ये शब्द कतिपय स्थलों पर कवि को स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त करने पड़ते हैं। क्योंकि उनके बदले हिन्दी में कोई ऐसा शब्द नहीं है जो रखा जा सके। मैथिली के ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जिनका हिन्दी करना कठिन है। उसे उसी रूप में नागार्जुन रखते हैं। इनकी कविता में मैथिली के मुहावरे, उपमा-उपमेय, अलंकार इत्यादि भी धड़ल्ले से प्रयोग में आते हैं। इनकी कविता में Legend एवं Image भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जब नागार्जुन कहते हैं :

"कैसी लगती है—
'पंचवर्षीय' योजना ?
'हिडिम्बा' की हिचकी 'सुरसा' की जँभाई।"

'हिडिम्बा' और 'सुरसा' दोनों को समझने के लिए पौराणिक गाथाओं का सहारा लेना होगा। ऐसा करना भी हिन्दी के भण्डार को भरना है। वस्तुतः नागार्जुन आधुनिकता के प्रचार के लिए मैथिली और हिन्दी दोनों साहित्यों में समान रूप से आदर की दृष्टि से देखे जायँगे।

नागार्जुन जी ने जो आज करना चाहा है वह कोई अजीब-सी बात नहीं है। इसे भारतेन्दु ने प्रचारित करना चाहा था। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति और साहित्य' में लिखा है : **"भारतेन्दु ने एक घोषणा प्रकाशित की थी कि जनता में नवीन चेतना फैलाने के लिए ग्रामीण भाषाओं का सहारा लेना चाहिए। गीत ग्रामीण भाषा में लिखे जायें और गायकों से उन्हें गवाया जाय।"** शायद डॉ० रामविलास शर्मा ने ही लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि "**द्विवेदी-युग के संस्कार ने भारतेन्दु युग की सजीवता नष्ट कर दी।**"

पर जिसे, मेरे विचार से पुनः नागार्जुन ने पुनरुज्जीवित किया। जिसकी ओर दिशा-निर्देशन सम्भवतः निराला ने किया, पर उसका प्रचार और प्रसार नागार्जुन के सिर ही पड़ा। नागार्जुन जी का 'चना जोर गरम' ऐसी ही एक रचना है जो लोक-गीत की तरह आज चारों ओर प्रचारित हो गई है। नागार्जुन जी गीतों और संगीतों में भी ऐसी सरल ग्रामीण भाषा चाहते हैं, जिसकी ओर उन्होंने मुझे संकेत किया था।

नागार्जुन ने अपने कृतित्व पर विचार व्यक्त करते हुए इन पंक्तियों के लेखक को बताया था कि 'कोर्ट की दीवार' शीर्षक रचना मेरी तीन सर्वश्रेष्ठ कविताओं में एक है। यह मेरा अपना चुनाव है।

आज के काव्य की भाषा-शैली और वस्तु पर विचार करते हुए कवि ने कहा था कि इस युग में किसान, मज़दूर, डाक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर, बेईमान सेठ, कर्मचारी सब आपके पाठक हैं, मात्र बुद्धिजीवी ही आज के साहित्य का पाठक नहीं। इसलिए विकास के क्रम से गुँथा हुआ जो काव्य होगा वही ठीक होगा। वह सर्वसाधारण के लिए मान्य होगा! उन्होंने आगे बतलाया कि आज मराठी इत्यादि अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार का प्रयोग चल रहा है। मराठी के एक खण्ड-काव्य में 'एंजेल्स' एवं डार्विन के विकास-सिद्धान्त का बड़ी सफलता से प्रयोग किया गया है। इस दिशा में कार्य होना चाहिए। आखिर न होगा तो साहित्य आगे कैसे बढ़ सकता है। आज मात्र तुक्कड़ों का जमाना नहीं। जन-गीत और जन-काव्य का जमाना है। ऐसा केवल मैं नहीं कहता, जनता कहती है, जो कि एक सफल आलोचक भी है। आज 'दिनकर' की तुक्कड़बाजी में भूसा अधिक मिलता है, अनाज कम। इस जन-काव्य की सृष्टि के लिए अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है—किताबी और—जन-जीवन दोनों का अध्ययन।

"**मैं-मैं की परिधि में देखने से आत्म-हत्या की भावना साहित्य में उत्पन्न होगी पर यह वास्तविकता नहीं है। १९५४ के लिए 'मैं' नहीं चाहिए। वह काव्य के लिए बहुत बड़ा दोष एवं ऊर्जस्वित अहम्‌वाद है। आज कविता जन-समुदाय के लिए हो।**"

तीसरी बात नागार्जुन ने कविता के External रूप (बाहरी रूप) के सम्बन्ध में बताई थी। "**आज छन्दों में एक ललकार और स्वरों में दृढ़ता होनी चाहिए।**"

नागार्जुन की कविता के सम्बन्ध में एक भ्रम यह भी है कि उनकी कविताएँ प्रयोग-वादी हैं। लेकिन नागार्जुन की कविता का रूप प्रयोग होते हुए भी प्रयोगवादी नहीं है। वह प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करते। समकालीन जीवन एवं कार्यों की आलोचना करने के लिए वे जो काव्य के उपकरण काम में लाते हैं—वह स्वतः प्रयोग-सा हो जाता है। उनका सिद्धान्त भी प्रयोगवादी सिद्धान्तों से मेल नहीं खाता—वह वस्तुतः प्रगतिवादी जीवन-दर्शन के गायक हैं। और प्रगतिवादी कला के प्रयोगात्मक पक्ष का निखार उनकी कविता में स्पष्ट है। वे जीवन को गतिशील मानते हैं और मानवता के भविष्य में विश्वास करते हैं। पर प्रयोगवादी जीवन को गतिहीन एवं प्रकृतिवाद की तुलना पर तौलना चाहते हैं—जिससे नागार्जुन का गहरा विरोध है। वे स्पष्टता से प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया शील मनोवृत्ति को समझते हैं। यही कारण है कि लाख प्रयोगवादी कहे जाने पर भी वे प्रयोगवादी दर्शन से प्रभावित नहीं हुए; क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका मस्तिष्क साफ है। प्रयोगवाद के अन्तर्गत जितने भी कवि आते हैं (कम-से-कम प्रथम और द्वितीय सप्तक के कवि) सबका दिमाग एक कुण्ठित कलाकार का मस्तिष्क है—किसी में दर्शन की स्पष्टता नहीं है। हालाँकि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वे काफी प्रगतिशील थे और उस ओर बढ़ रहे थे। परन्तु ऐसा लगता है (उनके काव्यों को पढ़ने से) कि उनका मार्ग असमय ही अवरुद्ध कर दिया गया। और इसके लिए पूर्णरूपेण 'अज्ञेय' एवं अज्ञेय का प्रयोगवाद उत्तरदायी है। अगर ऐसा न होता तो कालान्तर में ये कलाकार गम्भीर वैज्ञानिक क्रान्तिकारी भावनाओं को साहित्य में स्थान देते एवं उन सभी प्रश्नों का उत्तर काफी सतर्कता से देते जो प्रश्न अक्सर युग साहित्यकार से पूछा करता है। निस्सन्देह प्रयोगवादियों ने युग के किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहा है। आधुनिक काव्य (छायावाद से) के पृष्ठपोषक, उदार समालोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आज से कई वर्ष पूर्व 'प्रयोगवादियों' की इस ह्रासमूलक प्रवृत्ति के प्रति अनास्था प्रकट की थी।[1] पुनः वाजपेयी जी ने 'आलोचना', अंक १९ में उसी अनास्था की पुनरावृत्ति करते हुए प्रयोगवाद के अग्रणी (१)[2] कवि अज्ञेय की कविता का उद्धरण देकर उसे प्रभावहीन कविता बतलाया है। कविता में यह प्रभावहीनता प्रयोगवादियों की शास्त्रीय अज्ञानता, कुण्ठा, निराशा और घुटन आदि का द्योतक है। (वाजपेयी का मत)

पर नागार्जुन की कविता में प्रयोग का यह दोष नहीं हालांकि वे प्रयोग की परम्परा में आवश्यकता से अधिक विश्वास रखते हैं। पुराने कवियों की घिसी-पिटी अभिव्यञ्जना और टेकनीक की आलोचना करते हुए इस पंक्ति के लेखक को नागार्जुन ने लिखा था : **"कविता की नई टेकनीक में बिहार के कवि बुरी तरह पिछड़ रहे हैं, कवि-कर्म शिथिल चेतना और फूहड़ शब्द-शिल्प का शिकार बन रहा है...."**

वस्तुतः आज (१९५७ में) यदि समस्त प्रयोगवादी [नई कविता (१) भी] साहित्य का अध्ययन किया जाय अर्थात् 'तार सप्तक' के बाद की कविता-धारा का अध्ययन करते हुए प्रयोग-काव्य की खोज की जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित होगा कि अब तक दो प्रकार के प्रयोग हिन्दी में होते आये हैं—प्रथम श्रेणी में प्रगतिशील कवियों का प्रयोग और दूसरी श्रेणी में प्रयोगवादी कवियों का प्रयोग सामने आता है। नागार्जुन का प्रयोग प्रथम श्रेणी का है, जिसकी परम्परा अपना सम्बन्ध भारतीय जन-साहित्य से रखती है। **"यही मार्ग भारतीय साहित्य का प्रशस्त मार्ग है। इसी मार्ग पर हमारे महान् पूर्वज सन्त कवि, भारतेन्दु, 'प्रसाद', प्रेमचन्द और छायावादी कवि चले थे। इसी परम्परा का विकास आज के प्रगतिशील लेखक, राहुल, यशपाल, भगवत शरण उपाध्याय, अमृतराय, नागार्जुन, अश्क, सुमन, और रांगेय राघव आदि कर रहे हैं।"**[3]

---

१. आधुनिक साहित्य
२. वस्तुतः प्रयोगवाद के प्रथम हिन्दी-कवि शमशेर सिंह हैं।
३. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

कवि और सामाजिक दायित्व

: १ :

मालार विन्दम् चतुर्वेदी

आज काव्य को अपरिभाषेय मानकर विद्वान् उसे अनेक प्रकार से समझने का प्रयास करते हैं। क्योंकि आज का युग सामाजिक समस्याओं का है, अतः काव्य एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर काफ़ी विवाद चल रहा है। इस विवाद में प्रवेश करने से पूर्व यह सभी चीन होगा कि हम प्रथमतः काव्य की सीमा निश्चित कर लें। प्रत्येक संगीतात्मक या पद्यात्मक, लिखित अथवा मौखिक साहित्य को हम कविता नहीं कहते। साधारणतः गाँवों में गाये जाने वाले गीत 'लोक-गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार सिनेमा के गीतों को भी कुछ अंश तक 'लोक-गीत' की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि लोक-गीतों में अनेक स्थलों पर उत्कृष्ट काव्यत्व के दर्शन होते हैं, तथापि हम उन्हें कविता की संज्ञा नहीं देते। यहाँ हम उसी कविता का परिशीलन करेंगे, जिसे परम्परानुसार कविता शब्द से समझा जाता है। जैसे कालिदास-कृत 'रघुवंशम्', तुलसी-कृत 'रामचरित मानस' एवं प्रसाद-कृत 'कामायनी' आदि।

इस प्रकार की कविता को भी आज विद्वान् 'समाज का दर्पण' या उसकी अनुकृति अथवा आलोचना मानते हैं। कुछ विद्वान् कविता में समाज का प्रतिनिधित्व या उसका अथवा समाज का दर्पण कहते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से, आलोचक समाज की मिथ्या दुहाई देकर, समाज की कविता के प्रति, एवं विशेष रूप से अपने प्रति आस्था बनाये रखने का प्रयास करते हैं। परन्तु यह सब-कुछ या तो आलोचकों की अदूरदर्शिता का परिणाम है या वे समाज को जान-बूझकर धोखा देते हैं—समाज से कविता को येन केन प्रकारेण सम्बद्ध कर देना चाहते हैं। किन्तु अध्ययन के क्षेत्र में किसी भी वैज्ञानिक सत्य की घोषणा करने में हिचकिचाना अथवा मिथ्या प्रचार करना वास्तव में एक अपराध है।

कविता का स्रष्टा कौन है, कविता का सृजन कैसे होता है, तथा कविता में क्या सृजित होता है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर, यदि हम ठीक-ठीक प्राप्त कर लें तो प्रतीत होगा कि सामाजिकता, कविता में नहीं के बराबर होती है। कविता का स्रष्टा कवि है, जो प्रथमतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो व्यक्ति मात्र है ही, साथ ही सामाजिक नाम से व्यवहृत 'व्यक्ति' का अपवाद रूप भी है। प्रश्न उठता है कि कैसे ? उत्तर स्पष्ट है कि समाज में जिस प्रकार के मनुष्यों का बहुमत है, कवि उनसे बिलकुल निराला है। बाह्याचार व्यवहार में सभी प्राणी, जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं तथा जिनसे मिलकर समाज आस्तित्व में आता है, समान हैं; परन्तु कवि-जीवन एक विशेष प्रकार का होता है जैसा कि अन्य व्यक्तियों का नहीं। जिस प्रकार एक विशेष जीवन-यापन-प्रणाली के कारण मनुष्य-समाज अन्य जन्तु-समाजों से अपने-आपको भिन्न मानता है, उसी प्रकार कवि, सम्पूर्ण मानव-समाज से अपने व्यक्तित्व को भिन्न रखता है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके दर्शन के अनुसार आँका जा सकता है। हम देखते हैं कि समाज का बहुजन किसी-न-किसी बहुश्रुत व्यक्ति के दर्शन का अन्धानुकरण करता है। परन्तु कवि चिर-संवेदनशील और चिन्तनशील प्राणी है। वह अपने दर्शन एवं आदर्श का निर्माण स्वयं अपनी चिन्तनशील शक्ति एवं नित्य-नूतन निर्मिति करने वाली प्रतिभा के अनुसार करता है। अतएव समाज में कवि उसका अपवाद रूप होकर रहता है। शायद इसीलिए समाज अपने युग के श्रेष्ट कवियों को सदा से विक्षिप्त की संज्ञा देता आया है। क्योंकि पागल मनुष्य होते हैं, पशु नहीं। आपके समाज में मनुष्य या तो कार्यक्रम की चाबी से चलने वाली मशीन है या दो पैरों से चलने वाला पशु है, जो अपनी आदत तथा रूढ़ि-दत्त वृत्तियों का गुलाम है। ऐसे व्यक्तियों की समाज में कमी नहीं है जिनके सम्पूर्ण जीवन में एक भी विचार या अनुभूति उनकी स्वयं की नहीं होती। यदि कुछ अंश तक चिन्तनशील व्यक्ति हैं भी तो वे उस चिन्तन-शक्ति का दुरुपयोग अपनी स्वाभाविक वृत्तियों (Insticts) की तृप्ति में ही करते हैं। मनुष्य शब्द के अर्थ को सिद्ध करने वाले प्राणी आज के समाज में बहुत कम हैं। साथ ही कवि नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों में सच्चा क्रान्ति-दर्शी कवि, यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि विरला ही है, एवं वह कवि वास्तव में आज के समाज के बहुजन का अपवाद ही है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि एक असामाजिक प्राणी है। यह सत्य है कि कवि समाज में ही जन्म लेता है एवं एक प्रकार से समाज ही उसका जीवन-दाता है। परन्तु जीवन-दान की क्रिया ही व्यक्तित्व का स्वरूप नहीं है। दान पर दाता की छाप रह सकती है, परन्तु वस्तु वह दूसरे की हो जाती है। वास्तव में कवि स्वयंभू है। अपने व्यक्तित्व का निर्माण वह स्वयं करता है। समाज हर बार कवि के संवेदनशील हृदय पर आघात करता है, परन्तु कवि उससे मरता नहीं; जागृत होता है एवं इसी जागृति में जब प्रतिभा का सम्पुट लगता है तब ही कवि का निर्माण होता है। यहाँ प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे (Goethe) के शब्द याद आते हैं, जिनमें नवोदित कवि को इसी प्रकार की जागृति प्राप्त करने की सलाह दी है। "वह कहता है कि "The young poet must do some sort of violence to himself to getout of the more general idea. No doubt this is difficult, but it is the very life of Art."

मनोविज्ञान की एक यह भी सिद्धि है कि कवि द्वि-व्यक्तित्व-सम्पन्न प्राणी है (A man of double personality)। एक है साधारण (Normal) मानव-रूप और दूसरा है कवि रूप; जिसमें सृजनशीलता (Creativity) प्रधान रहती है। कवि के अतिरिक्त समाज में द्वि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व सम्पन्न प्राणी और भी पाए जाते हैं; जैसे दार्शनिक, नेता, धोखेबाज, चोर आदि। ये सभी अपने साधारण (Normal)) रूप से समाज में समाजोचित व्यवहार करते हैं तथा अपने असाधारण (Abnrrmal) रूप से स्वार्थ-सिद्धि की योजना (Moticration) बनाते हैं, तथा योग्य समय प्राप्त होने पर व्यवहार भी करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि असाधारण व्यक्तित्व का सम्बन्ध अचेतन मन से रहता है, जब कि साधारण व्यक्तित्व का सम्बन्ध चेतन मन से रहता है। अचेतन मन के प्रकाशन के अवसर तब ही सम्भव हैं जब कि चेतन-मन सुप्त प्राण हो या अचेतन मन की भावना अधिक प्रबल हो। इसीलिए असाधारण व्यवहार के अवसर बहुत थोड़े आते हैं। इसीमें कविता करने का समय भी शामिल है। कवि के व्यक्तित्व की यह विशेषता उसे समाज के बहुजनों से भिन्न सिद्ध करती है।

इसके अतिरिक्त साधारणतः समाज में मनुष्यों की आत्मानुभूति बहुत कम होती है; जबकि कवि की यह प्रथम आवश्यकता है। आजकल यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि समाज को उसके दुःखों को समझाने के लिए नेता या समाज-सुधारक आदि किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, तथा समझाने के पश्चात् भी उसका ज्ञान सबको नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि आज के समाज का बहुजन लोक-जीवन के सुख-दुःख से परिचित नहीं है। इसीलिए दुःख का प्रतिकार या प्रतिकार का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर भी समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जिन्हें अपने-आपका अनुभव न हो। परन्तु कवि की विशिष्टता यह है कि वह स्वात्मानुभूति के साथ-साथ परात्मानुभूति भी कर सकता है। परात्मानुभूति में कवि की कल्पना-शक्ति का योग रहता है एवं उसके प्रकाशन में प्रतिभा का।

इसके अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व के विकास में एक ऐसा तत्त्व है जो उसे सभी प्राणियों से भिन्न कर देता है, तथा वह तत्त्व है सार्वजनिकता (Universality) का। उसके सुख-दुःख तथा उसकी अनुभूतियों का जन्म व्यक्तिगत हो सकता है, परन्तु उनका प्रकाशन सदैव विश्व-व्यापी होता है। अरस्तू अपने ग्रन्थ (pocties) में काव्य तथा इतिहास का भेद बताते हुए कहता है कि "...For poetry tends to express the Universal, the history the particular." (Poetics chapl. IX. 3-4.) क्योंकि अन्ततोगत्वा कवि का व्यक्तित्व देशकालातीत विश्व-व्यापकत्वपूर्ण हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि कवि का जीवन, दर्शन एवं आदर्श आदि सभी कुछ समाज से निराला, मौलिक एवं विलक्षण होने के नाते, उस समाज के सामान्य स्तर और उस स्तर की प्रवृत्तियों से भिन्न कोटि का होता है।

कविता के स्रष्टा को देख लेने के पश्चात्, अब विचारणीय है कि कविता का सृजन कैसे होता है? कवि अपने साधारण तथा कभी-कभी असाधारण रूप से समाज में रहता है, तथा अनुभव प्राप्त करता है। यह अनुभूति उसकी बिलकुल निजी निधि होती है। अतः वह उसके व्यक्तित्व से अभिन्न होती है। जब कोई विशेष अनुभूति, एक योग्य मानसिक भूमिका को प्राप्त करती है तब वह एक असह्य आवेग में परिणत हो जाती है, एवं तब कवि को उसका प्रकाशन कविता की भाषा में करना पड़ता है। क्योंकि मानसिक जगत् का प्रकाशन सदा एक विशेष प्रकार के संकेतों के माध्यम से होता हैं (जैसा कि स्वप्न आदि में होता है) अतः बाह्य सांसारिक संकेतों से उनका सम्बन्ध हो भी सकता है और नहीं भी। अतः उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक संकेतों को बुद्धिगम्य बनाने के लिए कवि को अपनी प्रतिभा का योग भी उस प्रकाशन में करना पड़ता है। इस प्रकार कविता का सृजन होता है। इस प्रसङ्ग में David stafford clark के कवि के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में से कुछ शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं : "Those who suffer them, are aware of an urge to seek release and expiration, to communicate something of the source and nature of their feelings and thereby in some degree to gain peace. This as we have seen, is precisely the kind of tension, which drives many to their doctor or confessor, it may well drive others to write or to paint or to sculpt or to compose, with varying degree of talent.' (From "Psychiatry to day." Page 278)

कवि समाज में उसीके द्वारा निर्मित अपने एक आवरित व्यक्तित्व में रहता है, अर्थात् कवि जिस रूप से समाज में रहता है अथवा उसका अध्ययन या अनुभव करता है, उसी रूप में उसका प्रकाशन नहीं करता। कवि की अनुभूति एवं कविता में उसका प्रकाशन, वास्तव में दो भिन्न वस्तु हैं; जिसका विशद अध्ययन मनोविश्लेषण-विज्ञान का कार्य है। कवि को जो अनुभव समाज या प्रकृति से प्राप्त होता है उसकी अनुरति कवि चाहे जिस प्रकार से कर सकता है तथा उसका प्रकाशन भी ऐच्छिक रीति से करा सकता है। इस प्रकार वह किसी भी रूप में समाज का ऋणी नहीं रहता। क्योंकि अनुभूति में कर्ता का स्वत्व प्रधान रहता है। ज्ञान दूसरे की वस्तु हो सकती है एवं हमारे पास आकर भी पराई रह सकती है, जब तक कि उसकी अनुभूति हमें न हो! इसीलिए एक वस्तु का ज्ञान सभी व्यक्तियों को समान हो सकता है, परन्तु अनुभूति सदा भिन्न-भिन्न होती है। आशय यह है कि कविता का सृजन सदा व्यक्तिगत रूप से ही होता है।

अब प्रश्न है कि कविता में क्या सर्जित होता है? बिलकुल वस्तुपरक दृष्टि (Objectively) से देखा जाय तो स्पष्टतः कविता में जो-कुछ है वह कवि के व्यक्तित्व का कुछ-न-कुछ अंश है। चाहे वह कवि की अनुभूति हो या विचार, दर्शन हो या आदर्श। कवि-कृत प्रकाशन का यदि वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसमें कवि की इच्छा, कल्पना एवं विचार का मिश्रण या उनका शुद्ध रूप होता है परन्तु सदा इनकी भूमिका के रूप में कोई-न-कोई भावना या अनुभूति रहती है। कवि का आदर्श, जो कि उसकी इच्छा, कल्पना एवं विचारों का मूर्त रूप होता है, उसकी अनुभूति भी कवि की होती है। क्योंकि उसके प्रकाशन में किसी भी ऐसी वस्तु को नहीं खोजा जा सकता जिसका मानसिक अनुभव उसे न हो, चाहे उसमें सामाजिकता या सांसारिकता का स्पर्श हो या न हो।

कविवर रवीन्द्र टैगोर के शब्दों में कहा जाय तो, "the Principal object of Art is the expression of personality" ("What is Art?" निबन्ध से) अर्थात् कविता में कवि का देशकालातीत विश्व-व्यापकत्वपूर्ण व्यक्तित्व ही प्रकाशित होता है। और उस प्रकाशन का भी विश्लेषण यदि हम करें तो स्पष्ट होगा कि प्रथमतः कवि जो-कुछ वास्तव में है उसका प्रकाशन करता है, दूसरे जो कुछ वह इच्छा करता है उसका प्रकाशन करता है और तीसरे वह जिसकी कल्पना करता है; उसका प्रकाशन करता है। अर्थात् कुछ ऐसी भी सीमाएँ कवि के व्यक्तित्व की होती हैं जिनसे आगे कवि कल्पना भी नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ यदि तुलसी के काव्य को लें, तो उसमें उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन है। दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके काव्य में, उनकी चरम कामना, आदर्श भक्ति का प्रकाशन है एवं अन्तिम रूप में उनकी कल्पना, कामना एवं विचारों का चरम रूप राम एवं रावण में हम देखते हैं। राम एवं रावण न तो ऐसे थे जैसे कि मुगलकालीन कवि ने उनका चित्रण किया है एवं न ही तुलसी के राम-रावण, वाल्मीकि के राम-रावण का अनूदित रूप ही हैं। वास्तव में यहाँ हमें तुलसी की कल्पना की चरम सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् तुलसी के व्यक्तित्व के प्रकाशन के वे माध्यम हैं। सारांश यह कि कविता में कवि अपने आदर्श व्यक्तित्व का ही सृजन करता है।

जब कविता का स्रष्टा (कवि) एक असामाजिक प्राणी है, एवं उसका सृजन व्यक्ति-रूप में होता है, जब उसमें कवि के आदर्श व्यक्तित्व का सृजन होता है, तब कविता एवं समाज का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है। वास्तव में आज के आलोचकों की यह मान्यता कि समाज एवं कविता में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध है, भ्रामक एवं अवैज्ञानिक है।

यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता एवं समाज के सम्बन्ध को सिद्ध करने वाले सभी सिद्धान्त पाश्चात्य काव्य-मीमांसकों के हैं एवं आधुनिक भारतीय विद्वान् उसका अन्धानुकरण कर रहे हैं। संस्कृत के काव्याचार्यों ने ऐसी भूल कहीं भी नहीं की है। केवल काव्य के अधिकारी की चर्चा करते हुए रसिक एवं सभ्य सामाजिक का उल्लेख है। परन्तु काव्य-शास्त्रों में वर्णित रसिकों की संख्या आज के शिक्षित समाज में भी नगण्य है। प्रमाण रूप में केवल आजकल विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं में होने वाले कवि-सम्मेलन आदि की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा। अतः यह कहना उचित होगा कि न कविता में समाज है, और न समाज के लिए कवि। समाज चाहे तो कविता का उपभोग या उपयोग कर सकता है, परन्तु इससे कवि-कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि समाज का बहुमत मूर्खों या सभ्य शब्दों में अरसिकों का बना हुआ है।

: २ :

डॉ० प्रेमशंकर

साहित्य को सबसे अधिक ख़तरा उन नारों से होता है, जो समय-समय पर लगाए जाते हैं। धर्म, दर्शन और राजनीति से इनका सूत्रपात होता है। जीवन और समाज की दुहाई देते हुए धर्म प्रचारक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक नेता साहित्य को भी एक बनी-बनाई रेखा के भीतर रखना चाहते हैं। इतिहास में ऐसे अवसरों का अभाव नहीं है जब पर्याप्त समय तक धर्म और दर्शन ने साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण किया है। संस्कृत में बौद्ध धर्म से प्रभावित 'बुद्ध-चरित' आदि की रचना हुई। जातक कथाओं की एक परम्परा ही चल पड़ी। धर्म की यह शक्ति इतनी प्रबल थी कि महान् कवि भी इससे पूर्ण मुक्ति न पा सके। संस्कृत में शैव और वैष्णव कवियों की अलग-अलग परम्पराएँ हैं। हिन्दी में सगुण, निर्गुण कवि हैं जिन्होंने अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है।

साहित्य पर धर्म का अंकुश विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। आस्था, विश्वास, श्रद्धा, दैवी प्रेरणा, भक्ति-भावना किसी सीमा तक धर्म-भावना के ही पर्याय हैं। मनुष्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यों-ज्यों तर्क-बुद्धि का प्राधान्य हुआ धर्म का स्थान स्वतन्त्र चिन्तन और विचारणा को प्राप्त हुआ। धार्मिक अनुशासन में साहित्य देवी-देवताओं से उलझा रहा है। मानवों का विभाजन भी सुर-असुर के रूप में किया जाता है। देव-दानव-संघर्ष की कथा प्रायः सभी महाकाव्यों में कमो-बेश मिलती है। 'आदर्श' की स्थापना के पीछे साहित्य की यही धार्मिक मनोवृत्ति काम करती दिखाई देती है। कालान्तर में धर्म पूर्णतया साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर नहीं चला गया, किन्तु इतना अवश्य हुआ कि कवियों में दार्शनिकता और बौद्धिक जीवन-दृष्टि की प्रवृत्ति अधिक आ गई।

दर्शन को धर्म के प्रति एक विद्रोह नहीं कहा जा सकता। धर्म में दार्शनीकरण की प्रवृत्ति का समावेश उन अवसरों पर भी किया गया है, जब उदार-पन्थी विचारक खुले-आम धार्मिक कट्टरता का विरोध नहीं कर सकते थे। प्रोफेसर ए० जे० आर्बरी ने अपनी पुस्तक 'सूफ़ीवाद' में सूफ़ी धर्म और साहित्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि उनके प्रतिबिम्बवाद और प्रतीक-योजना तथा दार्शनीकरण के पीछे एक सुरक्षित कक्ष में पहुँचने की मनोवृत्ति है। ज्यों-ज्यों समाज की विचार-धारा धर्म के बन्धनों से मुक्त होती गई, साहित्य का दर्शन भी अधिक स्पष्ट और मुखर होता गया। यह प्रवृत्ति उस आरम्भिक काल में दिखाई देती है जब समाज ने धार्मिक मान्यताओं में सन्देह किया था। साहित्य में हम इसे मानवतावाद कह सकते हैं। इसमें धर्म के स्थान पर कतिपय मानवीय मूल्यों को प्रमुखता मिलती है। यह प्रवृत्ति पर्याप्त सीमा तक धर्म-निरपेक्ष कही जायगी। इसमें तर्क और विचार का आग्रह अधिक होता है। स्वतन्त्र विचारों के पल्लवन के साथ साहित्य में यह प्रवृत्ति प्रबल होती जाती है। प्रायः सभी साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में मानवीकरण करते हैं।[1] टालस्टॉय ने अपने अधूरे आत्मकथात्मक उपन्यास में उसके नायक निकोली के मुख से कहलवाया है : "आरम्भ से ही मेरी आदत थी कि मैं प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करने लगता था। दार्शनीकरण की अपनी प्रवृत्ति के कारण मैं घण्टों सोचता रहता था।"

साहित्य में यह मानवीकरण प्रायः समाज में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक अथवा राजनीतिक वादों से भी परिचालित होता है। समाज में प्रचलित एक विशिष्ट विचार-धारा, दर्शन अथवा राजनीतिक मत इतने प्रभावशाली और शक्तिमान हो जाते हैं कि कभी-कभी साहित्य उनका अनुगामी बनकर रह जाता है। साहित्य के लिए यह भयावह स्थिति होती है। इतिहास से ज्ञात होता है कि यद्यपि समय-समय पर समाज ने धार्मिक कठोरता के प्रति अपना विरोध दबे स्वरों में प्रकट किया था, किन्तु एक बड़ी लम्बी अवधि तक धर्म ही हमारे सामाजिक जीवन का प्रमुख नियामक बना रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में जो पुनर्जागरण (रिनेसाँ) का युग आया, इसमें प्रथम बार ईश्वर और धर्म को छोड़कर साहित्य नई भूमि पर आया। विज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ एक सर्वथा नया जीवन-दर्शन विश्व-समाज में विकसित होने लगा। इतना अवश्य है कि नया ज्ञान-विज्ञान आज भी धर्म का पूर्ण स्थान नहीं ग्रहण कर सका, क्योंकि जितने व्यापक सामाजिक स्तर पर धर्म ने कार्य किया था, उतना विज्ञान द्वारा सम्भव नहीं हो सका। इसी कारण साहित्य और समाज दोनों में

१. No man was ever a great poet, without being at the same time a profound philosopher.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म के स्वरों को पूर्णतया विलीन नहीं किया जा सका। रिनेसाँ में बुद्धि और ज्ञान का जो स्रोत प्रवाहित हुआ, उसने धर्म के स्थान पर राजनीति को समाज का नियामक बनाया। विचारों के असंख्य द्वार खुलते ही अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ साहित्य और समाज में दिखाई देने लगीं। स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि कभी-कभी दो पूर्णतया परस्पर-विरोधी विचार-धाराएँ भी देखने को मिल जाती हैं।

सामाजिक जीवन में राजनीतिक प्रवेश अनेक दृष्टियों से साहित्य के लिए एक महत्त्व-पूर्ण घटना है। इस युग में सत्ता मठाधीशों के हाथ से निकलकर राज्य-संचालकों के हाथ में आ गई। इंगलैण्ड का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कुछ समय तक चर्च और राजा में संघर्ष चला। कालान्तर में जनता और उसके प्रतिनिधियों ने राजा के दैवी अधिकार को चुनौती दी। राजनीतिक प्रभुता के युग में साहित्य में स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति प्रबल होती दिखाई देती है, यद्यपि उस पर अब भी एक प्रकार का राजनीतिक प्रभाव बना रहा। साम्य-वाद, नाज़ीवाद आदि के आगमन में तो 'सेन्सर' क्रमशः ज़ोर पकड़ता गया। समाज में ज्यों-ज्यों राजनीति के तत्त्व प्रबल होते गए साहित्यकार के लिए असम्पृक्त, निर्विकार मनीषी अथवा विचारक की भाँति तटस्थ रहकर किसी आदर्श लोक का निर्माण करना असम्भव हो गया। उसे प्रथम बार अपने राजसिंहासन से उतरकर नये परिवर्तनों को पास से देखना पड़ा। अंग्रेज़ी कवि मिल्टन (१६२५) ने तो क्रॉमवेल की सरकार में सक्रिय भाग तक लिया। मिल्टन के पूर्व शेक्सपियर की रचनाओं में भी अपने युग की अवस्था अंकित हुई है। मध्य-युग से एलिजाबेथियन युग का अन्तर स्पष्ट करते हुए एडवर्ड डाउडन ने अपनी पुस्तक 'शेक्सपियर' में लिखा है : **"पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के युग में जीवन एक वास्तविक वस्तु हो गया था। मध्ययुग का आतंक और विवाद लौकिक सुख का त्याग आध्यात्मिक इच्छा की अतृप्ति और उसका शोक, धर्म में सन्देह पर प्रतिबन्ध तथा इन्द्रिय-निग्रह; ये सब जो जीवन के प्रमुख रूप थे, समाप्त हो गए।"** शेक्सपियर और मिल्टन के अनन्तर जो रचनाकार आए, उन्हें किसी-न-किसी रूप में समाज और उसकी राजनीति का पर्यवेक्षण करना पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में डॉ० जान्सन के सहयोगियों ने वैचारिक आन्दो-लनों में सदैव भाग लिया। इसी प्रकार फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के अनन्तर व्यक्ति की जो महत्ता प्रतिष्ठित हुई, उसने भी साहित्य पर अपना व्यापक प्रभाव डाला। वर्ड्स्वर्थ उस क्रान्ति से प्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ ही था। रोमाण्टिक कवि कल्पनाशील होते हुए भी राज-नीति से परिचालित कवि हैं। बॉयरन ने तो उसमें सक्रिय भाग लिया था। राजनीतिक क्षेत्र में फ़ासिज्म और साम्यवाद के आगमन से साहित्यकारों पर राजनीति का अंकुश किंचित् कठोर हो गया। सांस्कृतिक आन्दोलनों की ओट में इटली और जर्मनी के फ़ासिस्ट नेताओं ने साहित्य को एक बँधी-बँधाई सीमा से जाने पर बाध्य किया। सम्पूर्ण समाज और साहित्य का आर्थिक आधार पर आकलन करते हुए मार्क्स ने एक स्थान पर लिखा है : **"रूसी आशावाद, जिसमें देश के अनेक तथाकथित क्रान्तिकारी भी विश्वास करते हैं, इस कृति में ('मज़दूर वर्ग की अवस्था') बड़ी निर्ममता से उद्घाटित हुआ है। यद्यपि कतिपय स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से (सम्भवतः मार्क्स का तात्पर्य आर्थिक आधार से ही है) यह पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं है; फिर भी इसका महत्त्व घटा नहीं है। यह एक गम्भीर द्रष्टा,**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भय कार्यकर्ता, तटस्थ आलोचक, एक महान् कलाकार और इनके सबके ऊपर एक ऐसे व्यक्ति की रचना है जो हर प्रकार के बन्धन का विरोधी है ।.....इस प्रकार की कृतियाँ (Flerowsky) की तथा तुम्हारे गुरु (Chernyshevsky) की रचनाएँ रूस को गौरव प्रदान करती हैं और यह प्रमाणित करती हैं कि तुम्हारा देश भी उसी प्रकार हमारे देश के सामान्य आन्दोलन में भाग ले रहा है ।" ये मार्क्स के विचार हैं, जो एक महान् चिन्तक था। आगे चलकर जब मार्क्सवाद राजनीतिक सेनानियों के हाथ में पड़ गया, तब 'सर्वहारा वर्ग के समाजवादी साहित्य' के नाम पर जो कुछ अच्छा-बुरा लिखा गया, उसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

ऊपर के इस ऐतिहासिक क्रम को संक्षेप में केवल इसीलिए उठाना पड़ा, क्योंकि सम्भवतः कुछ विद्वान् यह मत रखते हैं कि 'किसी सतयुग' में साहित्य समाज से पूर्णतया असम्पृक्त था। साहित्यकार (विशेषतया कवि) का समाज के प्रति कोई दायित्व न था। वह एक चिन्तक-मात्र था। इसके लिए 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि विशेषण पेश किये जाते हैं। सम्भवतः यह धारणा अत्यधिक आदर्शवादिता अथवा जीवन से पलायन-वृत्ति के कारण बन गई है। समाज सदैव धर्म, अध्यात्म, दर्शन अथवा राजनीति से अनुशासित रहा है और साहित्य, जो समाज का ही एक मानसिक और भावात्मक प्रकाशन है, क्रमशः धर्म, दर्शन और राजनीति की पगडडियों से होकर गुज़रा है। प्रश्न केवल इतना ही है कि साहित्य किस सीमा तक समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। क्योंकि साहित्यकार रेडियो कमेण्टेटर-मात्र नहीं है। जो 'आँखों देखा हाल' आपको सुनाता है। ज्ञान का साहित्य अथवा शास्त्र समाज को तथावत् चित्रित कर सकता है। इतिहासकार, राजनीतिज्ञ आदि किसी सीमा तक इसी अर्थ में सामाजिक लेखक हैं। यद्यपि वे भी भविष्य-द्रष्टा हो सकते हैं। किन्तु दूसरे ललित साहित्य अथवा काव्य समाज को ज्यों-का-त्यों 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' नहीं अंकित कर सकता। यहाँ हम मुख्यतया काव्य अथवा रचनात्मक साहित्य को लेकर ही समाज से उसके सम्बन्ध की चर्चा करना चाहेंगे।

साहित्य, रचनात्मक साहित्य और समाज का सम्बन्ध मूलतया अभिव्यक्ति का प्रश्न है। वह सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। समाज के विषय में सभी लेखकों की एक प्रतिक्रिया होती है। किन्तु इस प्रतिक्रिया का रूप सर्वत्र एक नहीं होता। अपने समय के समाज के प्रति प्लेटो की भी एक प्रतिक्रिया थी। किन्तु 'सत्य' और 'नैतिकता' का मोह उसे इतना अधिक था कि वह केवल बौद्धिक और तार्किक स्तर पर ही सोच सकता था। इसी कारण उसने 'आदर्श राज्य' में कवियों का बहिष्कार किया, और होमर का भी विरोध किया। रचनात्मक साहित्यकार, विशेषतया कवि अधिक संवेदनशील प्राणी है। बहुत अधिक तटस्थ, निरपेक्ष होना उसके लिए किंचित् कठिन है। जहाँ तक समाज को देखने-सुनने का प्रश्न है प्रायः सभी लेखक अपनी शक्ति के अनुसार उसका अध्ययन करते हैं, किन्तु आगे चलकर उस सामाजिक चित्र को प्रस्तुत करने की विधि में अन्तर हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया कुछ ऐसी होती है कि रचनाकार साहित्य-सृष्टि के पूर्व अपने मानस में उन सभी चित्रों को ले आता है, जिन्हें उसने कुछ समय पूर्व देखा था। वह अपनी बुद्धि से यह निर्णय करता है कि इनमें से कौन-से चित्र ऐसे हैं, जिन्हें प्रस्तुत करने पर 'सार्थक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति' हो सकेगी। इस प्रकार किसी सीमा तक रचनाकार के मानस-जगत् में एक द्वन्द्व की-सी स्थिति आ जाती है। वह समस्या मूलतया 'संचयन' अथवा वस्तु के चुनाव से सम्बन्ध रखती है। सम्भवतः इसी कारण अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में 'प्लॉट' को इतना महत्त्व दिया है। यद्यपि समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वास्तव में वह तो समस्या का आरम्भ है। सामग्री के चुनाव में रचनाकार फोटोग्राफर से भिन्न होता है। वह केवल उन्हीं तथ्यों और सत्यों को अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील होता है, जिन्हें उसने अपनी चेतना में आत्मसात् कर लिया है। यही कारण है कि साहित्य की अभिव्यक्ति रागात्मक होती है—रस-सम्पन्न! मनोविज्ञान काव्य-सृजन के जिन चार चरणों की क्रमशः अनुभूति, पल्लवन, अभिव्यक्ति और प्रभाव-चर्चा करता है, उनमें पल्लवन का बड़ा महत्त्व है। अभिव्यक्ति देने के पूर्व इसी दौरान में वह निर्णय करता है कि उसे क्या रखना है, और क्या फेंक देना है।

साहित्यकार केवल ऐसे सत्य का उद्घाटन नहीं करता, जिस पर उसने विचार-मात्र किया है। वह अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति करता है। केवल चिन्तन सत्य के सहारे महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं। अपनी कृति को अधिकाधिक प्राणवान और सशक्त बनाने के लिए रचनाकार अनुभूत सत्य को उसकी पूर्ण तीव्रता में अंकित करता है। अपना उद्देश्य निश्चित कर लेने के अनन्तर वह ऐसे प्रमाण एकत्र करता है ताकि चित्र अधिक-से-अधिक विश्वस्त (convincing) हो सके। इस प्रकार साहित्य में समाज की जो तस्वीर आती है, वह रागात्मक, सोद्देश्य और कटी-छँटी होती है। उदाहरणार्थ हम युद्ध के दौरान में रचे गए साहित्य को ले सकते हैं; जिसमें उस समय की सम्पूर्ण विभीषिका, निराशा और पशुता को केवल एक संकेत रूप में अंकित किया गया है। किन्तु साहित्य का यह संकेत कितना सार्थक है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि 'ध्वनि-काव्य' सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है। रचना-विधान, साहित्य-सृजन के चरण किसी गणित के प्रश्न को सुलझाने की रीति से किंचित् भिन्न होते हैं। साहित्य-सृष्टि के नपे-तुले, यान्त्रिक नियम नहीं बनाए जा सकते। अपने रागात्मक स्वर की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न साहित्यिकों ने विभिन्न मार्ग बनाए हैं, जो कभी-कभी स्थूल दृष्टि से देखने पर एक-दूसरे के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनकी सृजन-प्रक्रिया ऐसी ही है जैसे अनेक अन्वेषी विभिन्न दिशाओं से आते हुए एक ही केन्द्र-बिन्दु पर मिलते हों। साहित्य का मूल उद्देश्य आनन्द-सृष्टि ही है—जिसकी अनेक विधियाँ हो सकती हैं।

समाज की साहित्यिक तथा अन्य अभिव्यक्तियों में सृजन-प्रक्रिया के कारण जो अन्तर दिखाई देता है, उसे समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि साहित्य 'रस' का निर्माण करता है जब कि अन्य शास्त्र केवल 'आसव' से भी काम चला सकते हैं। साहित्य में विभिन्न ज्ञानराशियों को उनके सांस्कृतिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक रूप में नहीं प्रस्तुत किया जाता, किन्तु 'साहित्यिक रूप' में ही उनका अंकन होता है। इस वक्तव्य की किंचित् व्याख्या अपेक्षित होगी। साहित्य और काव्य जीवन और संसार में बिखरी हुई विभिन्न चिन्तन-धाराओं की अवहेलना नहीं कर सकते, किन्तु वे उनके व्याख्याता-मात्र बनकर नहीं रह जाते। दर्शन को छन्द की नपी-तुली पंक्तियों में लिपिबद्ध कर देने-भर से वह रचना काव्य की संज्ञा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं प्राप्त कर सकती। इसके लिए तो यह अपेक्षित है कि उस दर्शन के अनुरूप ऐसे जीवन-दृश्य उपस्थित किये जायँ, जिनके माध्यम से वह विशिष्ट दर्शन बोलता हो। गीता का कर्म-वाद श्लोकों में बँध जाने-मात्र से काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। मूलतः वह एक दर्शन-ग्रन्थ है। किन्तु गीता से ही अनुप्राणित 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म का जीवन-दर्शन जीवन-चित्रों के साथ आने के कारण काव्य की सीमा छू लेता है। साहित्य में जिस समाज और जीवन की अभिव्यञ्जना होती है, उसके अनुरूप चरित्र-सृष्टि की जाती है। पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण पर जो इतना बल दिया गया है, उसका एक कारण यह भी है कि उनके माध्यम से एक विशिष्ट जीवन-दर्शन अपने सजीव रूप में बोलता है। इसी कारण पात्र कभी-कभी एक प्रतिनिधि का कार्य करते हैं और उन्हें अमरत्व मिलता है। मार्लो अपने नाटक में फाउस्ट के मुख से अपनी प्रेयसी के लिए 'हेलेन' शब्द का प्रयोग करवाता है। वही हेलेन, जिसके कारण अनेक महल जल गए थे।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसे प्लेटो ने 'अनुकृति-मात्र' कहकर टाल दिया है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि साहित्यकार सृष्टि की भी युग-सृष्टि करता है। कारण यह है कि वह सृजन के समय उसमें अपना व्यक्तित्व भी सन्निहित कर देता है। इस 'व्यक्तित्व' को यदि साहित्य-सृष्टि से निकाल लिया जाय तो वास्तव में उसमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसी कारण साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व सबसे प्रमुख स्थान का अधिकारी है। इसी आधार पर हम महान् और साधारण साहित्य में अन्तर जान सकते हैं। महान् साहित्यकार अपने युग और समाज का आकलन करते हैं। और महाकाव्य का रचनाकार तो एक युग की बिखरी हुई सांस्कृतिक चेतना को ही लिपिबद्ध कर लेता है। यह कार्य उनके व्यक्तित्व के कारण ही संभव है, साहित्य की युग-आकलन की प्रक्रिया इतिहासकार आदि से भिन्न होती है। वह घटना-क्रम से न उलझकर मूल चेतना को ही ग्रहण कर लेता है और उसे ही मांसल अभिव्यक्ति देता है। इसी कारण सोमरसेट मॉम ने एक स्थान पर लिखा है कि 'महान् साहित्यकार को इतना अवसर नहीं रहता कि वह वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करे।' वह केवल वे ही दृष्टान्त जुटाता है जो युग की मूल चेतना का आभास देते हों। विलियम जाजों का एक उपन्यास है 'द ट्वेण्टीफिफ्थ आवर'। उसका नायक युद्ध बन्दी के रूप में सैकड़ों मील तार के नीचे से गुजरता है! अन्त में युद्ध की समाप्ति पर जब वह सौभाग्य से अपनी पत्नी और बच्चों से मिलता है तो वह देखता है कि सभी के मुख पर एक गहरी विषाद की छाया है। उस परिवार का चित्र लेते हुए एक अमरीकन फोटोग्राफर कहता है: "हँसो, जरा हँसते रहो!" यह हँसने के प्रयास पर तीखा व्यंग्य बनकर आया है। साधारण लेखक विवरणों से उलझकर रह जाते हैं, और यह समझते हैं कि वे युग का अंकन कर रहे हैं। यह क्रिया कुछ-कुछ मुगल चित्र-कला की भाँति है, जिसमें पच्चीकारी तो बहुत है पर उसमें आत्मा का पता नहीं चलने पाता। साधारण लेखक बहाव में आ जाते हैं। वर्तमान उन्हें अभिभूत कर लेता है। यह एक प्रकार से उनके व्यक्तित्व की पराजय है। किन्तु महान् लेखक समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक शृंखला का कार्य करते हैं।

प्रश्न है कि समाज साहित्य की गति-विधि का किस सीमा तक संचालन करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः लगाए जाने वाले नारों में एक प्रमुख नारा यह है कि साहित्य समाज का है, साहित्यकार समाज का है। एलबर्ट से माल्ज ने अपनी पुस्तक The Citizen Writer में लिखा है : "वह (लेखक) पूर्णतया समाज के प्रति उत्तरदायी है; क्योंकि समाज, मनुष्य-जाति उसे उत्तरदायी ठहराती है।" मैंने जान-बूझकर एक ऐसे देश के समाजवादी लेखक को लिया है, जहाँ पर साम्यवाद अभी नहीं आया है और सम्भवतः शीघ्र आने की कोई आशा भी नहीं है। कम्युनिस्ट देशों के नेता तो इस प्रकार के नारे बराबर लगाया ही करते हैं। चाउ-एन-लाइ ने एक बार लगभग सात सौ प्रतिनिधियों के समक्ष भाषण दिया था, जिसका विषय था : 'जनता की मुक्ति का युद्ध और कला तथा साहित्य की समस्याएँ'। यह भाषण एक पुस्तक (The Peoples New Literature) में संगृहीत है। उसमें उसने स्पष्ट कहा है कि साहित्य का उद्देश्य 'जनता की सेवा' (Serving the People) है। पुस्तक में जो लेख संगृहीत हैं उसके अन्त में वह भी कोष्ठक में दे दिया गया है कि सभी प्रतिनिधि खड़े हो जाते हैं, और बड़े जोर से तालियाँ बजती हैं। इस प्रकार के स्थूल सिद्धान्त मानकर चलने वाला साहित्य 'पत्रकारिता' की संज्ञा पा सकता है! वह एक सामयिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। शॉ और शैक्सपियर के नाटकों की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। एक फेबियन समाजवाद का चश्मा लगाए हुए अपने युग को धक्का देने में लगा रहा, पर दूसरे ने अपने युग को चिरन्तन अभिव्यक्ति दी।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसको सूक्ष्म रीति से देखना-परखना होगा। स्थूल ढंग से उसे नहीं समझा जा सकता। साहित्यकार अपने समाज का जो अंकन करते हैं, वह इतिहास-सिद्ध होता है। एक ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करने के कारण वह ऊपर से चिपकाया हुआ, अथवा एकांगी नहीं प्रतीत होता; उसमें एक तारतम्य आ जाता है, साथ ही उसमें शाश्वत उपादान भी सम्मिलित हो जाते हैं। वह चित्र, चिरन्तनता प्राप्त करता है, क्योंकि उसमें केवल 'सामयिक मूल्यांकन'-मात्र नहीं है। महान् लेखकों में वह असाधारण प्रतिभा होती है, जिसके सहारे वे एक इतिहास-सिद्ध यथार्थ को अवतरित कर लेते हैं। यही कारण है कि जहाँ वह सामाजिक यथार्थ युग का परिचायक होता है, वहीं वह युग-युग तक प्रवहमान भी होता है। महान् लेखक समाज के उन्हीं प्रश्नों से जूझते हैं जिनका महत्त्व सार्वभौमिक और चिरन्तन होता है। 'सेवा सदन' और 'गोदान' की समस्याओं में यही अन्तर है। प्रश्न का समाधान करते हुए ये महान् लेखक किसी बने-बनाए नुस्खे से काम नहीं चलाते (जैसा कि प्रायः राजनीतिज्ञ करते हैं), बल्कि वे अपने चिन्तन से समस्या का हल पेश करते हैं। बीसवीं शताब्दी के कुछ उपन्यासों में गांधी और स्टालिन की जय सुनने को मिलती है। जनता के प्रदर्शन को स्पष्ट करने के लिए यदि इन महापुरुषों का जय-जयकार हो, तो किसी को आपत्ति न होगी, किन्तु कृति को जब एक विशेष राजनीतिक मत का प्रचार-साधन बना दिया जायगा, तब साहित्य का विद्यार्थी उसमें 'स्थूलता' की शिकायत अवश्य करेगा। रूसी उपन्यासों में जहाँ वस्तु-वर्णन की प्रशंसा करनी होगी, वहीं यह भी स्वीकार करना होगा कि वे फासिस्ट जर्मनों और पूँजीवादी अमरीकनों पर गालियों की वर्षा करते हैं। हिन्दी में नागार्जुन के कई उपन्यास अपने सजीव चित्रण में मार्मिक होते हुए भी अन्त में इस दुर्घटना का शिकार हो गए हैं। समर्थ साहित्यकार अपनी आँखों पर रंगीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चश्मा लगाकर समाज को नहीं देखता। वह उसे अपनी उदार और स्वतन्त्र दृष्टि देता है। जब कभी प्रचार के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले नारों के पीछे साहित्य को ले जाने का प्रयास किया जाता है, साहित्य अपने गौरव से वंचित हो जाता है। साहित्य तो हमारे जीवन की असंख्य सम्भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं का रागात्मक चित्र है, भला उसे कठघरे में कैसे बाँधा जा सकता है ! महान् साहित्यकार कभी 'फरमायशी' नहीं हो सकता ! एक बार गेटे से उसके ड्यूक ने युद्ध के लिए कुछ प्रयाण-गीत (मार्चिंग सॉंग) लिख देने को कहा। गेटे ने तुरन्त उत्तर दिया : "बिना मानव को घृणा किये, मैं युद्ध के गीत कैसे लिख सकता हूँ। ड्यूक, आपकी जानकारी के लिए मैं यह बता दूँ कि मैंने प्रेम-गीत भी उसी अवस्था में लिखे हैं जब मैंने प्रेम किया है।"

समाज की साहित्यिक अभिव्यक्ति को ठीक से न समझ पाने के कारण जहाँ रचना और सृजन में व्यवधान आ जाता है; गतिरोध तक की शिकायत की जाती है, वहीं उसके मूल्यांकन में भी बड़ी अराजकता प्रस्तुत होती है। साहित्य को जनवादी, प्रतिक्रियावादी, समाजवादी, व्यक्तिवादी आदि खेमों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार का कृत्रिम और यांत्रिक विभाजन तभी सम्भव है जब मनुष्य और जीवन का भी इसी प्रकार बँटवारा कर दिया जाय; क्योंकि आखिरकार साहित्य उसीकी तो अभिव्यक्ति है। सम्भव है एक बार महान् रचनाकार धर्म अथवा राजनीति के कठोर शासन की अवहेलना कर जाय; वह 'सेन्सर' और 'बैन' की चिन्ता न करे, किन्तु किसी धार्मिक अथवा राजनीतिक वाद के प्रबल होने के कारण उसकी कृतियों का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता ! कारण स्पष्ट है। उस महान् लेखक की चेतना ने नारों के पीछे चलने से इन्कार कर दिया है, फिर उसका समादर वादग्रस्त समीक्षक कैसे कर सकते हैं। समीक्षा एक पूर्वग्रह और पक्षपात से बँध जाती है। उदाहरणार्थ हम लेनिन के उस निबन्ध को लेना चाहेंगे, जो उन्होंने टॉलस्टाय पर लिखा है। विश्व के महानतम लेखकों में टालस्टाय का स्थान सुरक्षित है, सभी उनकी महत्ता स्वीकार करते हैं। लेनिन ने इस महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है : **"टालस्टाय ने अपने युग का सफल चित्रण किया है ! उन्होंने आमने-सामने को देखा और समझा है—एक महान कलाकार की दृष्टि से, एक महान् विचार के मस्तिष्क से। संक्षेप में यही तथ्य है, जो उनकी कृतियों को इतना गरिमामय बनाता है। मानवता के कलात्मक विकास में यह एक क्षण और है।"**[1] किन्तु लेनिन टॉलस्टाय की शिकायत भी कम नहीं करते। वे कहते हैं : "टालस्टाय अपने युग के ऐतिहासिक क्रम, विकास-रेखा और युग-शक्तियों को पहचानने में पूर्णतया असफल रहे। 'अन्ना केरिनिना' में जो वस्तुएँ उन्हें सबसे अधिक पसन्द आईं, वे हैं 'खलिहान की बातें, मजदूरों की दलील' आदि। साहित्य की व्याख्या के लिए मार्क्सवाद ने जो आर्थिक आधारभूमि, भौतिक दृष्टि प्रदान की है, वह सर्वथा स्तुत्य है, किन्तु साहित्य के विशाल क्षेत्र का आकलन करने के लिए उसे 'अन्तिम शब्द' मानने में स्वतन्त्र द्रष्टा को किंचित् संकोच होगा। पूँजीवादी युग में जो कुछ लिखा गया है, वह सारा-का-सारा 'अस्पृश्य' नहीं घोषित किया जा सकता। साहित्य में सामाजिक अभिव्यक्ति का अन्तर यहीं स्पष्ट दीखने लगता है। हमारी इन्द्रियाँ जिस 'गन्दगी' को समाज में देखने से मुख मोड़ लेना चाहती हैं, वहीं जब

१. Lenin, Collected Works xv

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष आती हैं, तब मानस पर एक 'रसात्मक प्रभाव' पड़ता है। साहित्यकार जब आपके समाज की कल्पना-समन्वित तस्वीर आपके सामने हाजिर करता है तो आपको वह 'अनुकृति' सत्य और यथार्थ से भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती है। साहित्य में समाज को मूर्त्त करने की यह सृजन-प्रक्रिया किंचित् जटिल और सूक्ष्म है, तब भला उसका मूल्यांकन इतने सीधे-सादे ढंग से कैसे हो सकता है।

साहित्य और समाज के प्रश्न से साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। वह युग गया जब साहित्यकार को 'ऋषि' अथवा 'प्रॉफेट' कह देने-भर से काम चल जाता था। बदली हुई परिस्थितियों में लेखक के व्यक्तित्व को समाज से पूर्णतया असम्पृक्त करके नहीं देखा जा सकता, देखना उचित भी नहीं है। लेखक का जीवन उसके साहित्य से पूर्णतया विलग नहीं किया जा सकता। बॉयरन ने ग्रीस-युद्ध में भाग लिया था। गोर्की कारागार में डाल दिये गए थे। कॉडवेल स्पेन के गृह-युद्ध में काम आए। ये सभी घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि साहित्यकार समाज के बहुत निकट भी आए हैं। उन्होंने सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग भी लिया है। उनके ये सामाजिक कर्म उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को एक विशिष्ट गौरव प्रदान करते हैं। किन्तु जब हम किसी साहित्य की परीक्षा करेंगे तब हमें यह ध्यान रखना होगा कि कहीं हम लेखक के जीवन-चरित से अभिभूत न हो जायँ। कॉडवेल स्पेन के गृह-युद्ध में न मरकर यदि रोग-शय्या पर ही समाप्त हुआ होता तो भी लगभग उनतीस वर्ष की अवस्था में साहित्य को अपनी तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखने वाले उस समीक्षक का महत्त्व साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी के लिए कम न हो जाता। यह स्वाभाविक ही है कि एक कार्यकर्त्ता अथवा नेता के रूप में समाज की सेवा करने वाले अथवा उसमें सक्रिय भाग लेने वाले साहित्यकार का आदर जनता में उस साहित्यकार की अपेक्षा अधिक होगा जो मूक साहित्य-सेवी रहा है। गोर्की और माओ को सम्भवतः इसी कारण साम्यवादी देशों में अधिक पूजा जाता है। एक ही श्रेणी के दो लेखकों में इस प्रकार की विशिष्टता यदि समाज-सेनी साहित्यकार को दी जाय तो उचित है। किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। समीक्षा के क्षेत्र में सामाजिक कार्यों को घसीटा जाता है। साहित्य की अपेक्षा लेखक के नेतृत्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। किन्तु इतना निश्चित है कि लेखक का चरित्र उसके साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्णायक नहीं बन सकता। क्योंकि कभी-कभी वे एक दूसरे के विरोधी बनकर भी आ सकते हैं। निकृष्ट चरित्र महान् साहित्य की सृष्टि कर सकता है और एक साधु पुरुष साधारण साहित्य का जनक हो सकता है। चरित्र व्यक्तिगत पूँजी है जब कि साहित्य एक सामाजिक सम्पत्ति है। साहित्यकार का कृतित्व (साहित्यिक) समाज के लिए उसके सामाजिक कृतित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है। और इसी कारण साहित्य की परीक्षा साहित्यिक मूल्यों के आधार पर करना ही उचित है, जो इस बात को ध्यान में रखकर बनाए जायँ कि समाज को साहित्य में अभिव्यक्ति देने की सृजन-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप क्या है।

इस प्रकार इतना निश्चित है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध घनिष्ठ होते हुए भी, किंचित् समस्यामूलक है। यह रिश्ता सीधा-सादा नहीं है। साहित्य-समाज व्यापक समाज से अपना जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उसमें साहित्य और कला के रचना-विधान का महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। साहित्य समाज की अवहेलना नहीं कर सकता। लेखक स्वयं एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रहता, साँस लेता है। जब सर्वत्र जीवन है तो वह भागकर जायगा कहाँ? बस, एक ही स्थान है, वह है व्यक्ति का अपना अहं, जिसे कॉडवेल ने 'स्वयं (अथवा अहं) का संसार' कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रकार का कुण्ठाग्रस्त साहित्य मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर इधर पर्याप्त मात्रा में चल निकला है। मनुष्य को शव-परीक्षा की जो प्रणाली मनोविश्लेषण शास्त्र बताता है उसे ज्यों-का-त्यों साहित्य में नहीं लाना चाहिए। मनुष्य और समाज में सब-कुछ है, किन्तु साहित्य 'कल्याण' का ध्यान रखकर चलता है। वह दोष भी ऐसे ही प्रस्तुत कर सकता है जो कल्याण-नियोजन में सहायक हों। 'शाइलॉक' की सृष्टि का उद्देश्य है, उस मनोवृत्ति की भर्त्सना। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देकर चलने वाले लेखक प्रायः यह दावा करते हैं कि वे व्यक्ति की चेतना की मुक्ति चाहते हैं! वे मानव-मन का उद्घाटन करेंगे। यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति-मन की परीक्षा भी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही करनी उचित होगी; और व्यक्ति-चेतना की मुक्ति के नाम पर 'यौन-साहित्य' का निर्माण तो किसी भी प्रकार जायज नहीं है। एक छोटे-से समाज की परिक्रमा करने वाला साहित्य 'अपने विशिष्ट समाज' में भले ही मनोरञ्जन का साधन बना रहे, किन्तु वह व्यापक सामाजिक चेतना का स्वर नहीं बन सकता। इस व्यापकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उसमें सार्वजनिक प्रभाव हो। साहित्य जनता का हो, समाज से—व्यापक समाज से—उसने प्रेरणा अवश्य ली हो, किन्तु वह समाज अथवा जनता को सामने रखकर, उसकी वासना-पूर्ति का साधन-मात्र बनकर न रह जाय। लोकप्रिय साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह महान् भी हो। सामान्य जनता की स्वीकृति साहित्य की महत्ता की निर्णायक नहीं बन सकती। साथ ही यह भी है कि क्लिष्ट साहित्य महान् का पर्याय नहीं होता। साहित्य के सामाजिक तत्त्व निस्सन्देह उसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं, पर इनकी परीक्षा बहुत समझ-बूझकर करनी होगी। विशुद्ध शास्त्रीय अथवा सौन्दर्यवादी दृष्टि से साहित्य को परखकर उस पर अन्तिम निर्णय दे देना भी ठीक नहीं है।[1] सामाजिकता का तो ध्यान रखना ही होगा, किन्तु सृजन प्रक्रिया को दृष्टि-पथ में रखकर; क्योंकि यही साहित्य में समाज के प्रकाशन का मेरुदण्ड है, जो उसे अन्य रचना-प्रकारों से वैशिष्ट्य प्रदान करता है।

---

१. To stand outside art is to stand inside society. Illusion and Reality, Page 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' और 'शैव मत'

'बौद्ध धर्म-दर्शन' प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री और विचारक दिवंगत आचार्य नरेन्द्रदेव की गवेषणापूर्ण कृति है।

आचार्यजी भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्येता थे और उन्होंने विशेष रूप से बौद्ध-धर्म और दर्शन का अध्ययन किया था। प्रायः आजीवन इस विषय पर वे मनन और चिन्तन करते रहे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे बौद्ध-धर्म पर एक आकर-ग्रन्थ की रचना करें। किन्तु जहाँ विद्या से उनको इतना अनुराग था वहाँ वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों में होने के कारण राजनीतिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते थे। अतः उनको पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता था कि अपने ग्रन्थ को अन्तिम रूप देकर उसे मुद्रणार्थ भेजें। उनके देहावसान के समय तक यह ग्रन्थ छप न सका था। उनकी आत्मा को अवश्य ही सन्तोष हुआ होगा कि बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके लिए बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् बधाई की पात्र है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक बहुत ही व्यापक और ठोस रचना है। इसके प्रारम्भ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित भूमिका तथा स्वयं लेखक द्वारा लिखी हुई उनकी जीवनी है। इसके पश्चात् ग्रन्थ पाँच खण्डों और बीस अध्यायों में विभक्त हुआ है। 'प्रथम खण्ड' में पाँच अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में बुद्ध की जीवनी है। द्वितीय में बुद्ध का मूल उपदेश, तृतीय में पालि बौद्धागम, चतुर्थ में निकाय-विस्तार तथा पंचम में स्थाविरवाद की साधना वर्णित है। 'द्वितीय खण्ड' के षष्ठ अध्याय में महायान का उद्गम और उसकी विशेषता, सप्तम में बौद्ध संस्कृत-साहित्य और उसका परिचय, अष्टम में महायान के प्रधान आचार्य, नवम में महायान के तन्त्रादि साहित्य एवं दशम में महायान की साधना तथा चर्या—इन विषयों का निरूपण हुआ है। 'तृतीय खण्ड' के एकादश अध्याय में बौद्ध दर्शन की भूमिका, द्वादश में कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त, त्रयोदश में कर्म-फल के सिद्धान्त तथा चतुर्दश में विभिन्न बौद्ध-सिद्धान्तों में निर्वाण के रूप का विवेचन किया गया है। 'चतुर्थ-खण्ड' के पंचदश अध्याय में वैभाषिक नय, षोडश में सौत्रान्तिक नय, सप्तदश में आर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंग के विज्ञानवाद, अष्टादश में वसुबन्धु के विज्ञानवाद तथा उनविंश में माध्यमिक नय का दिग्दर्शन किया गया है। 'पंचम खण्ड' में एक ही विंश अध्याय है, जिसमें बौद्ध-न्याय का विश्लेषणात्मक परिचय है। अन्त में बृहत् शब्दानुक्रमणी दी गई है। उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि इस ग्रन्थ में यथासम्भव बौद्ध धर्म तथा दर्शन से सम्बद्ध सभी विषयों पर विद्वान् लेखक ने अपना विचार प्रकट किया है। राजनीतिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी आचार्य जी ने मूल तथा अर्वाचीन प्रचुर सामग्री का उपयोग अपने ग्रन्थ-प्रणयन में किया है। अतः हिन्दी में प्रकाशित बौद्ध धर्म पर यह सर्वांगीण ग्रन्थ है। इसमें आचार्य जी के प्रगाढ़ अध्ययन, लम्बे अनुभव और प्रौढ़ प्रतिभा का प्रचुर परिचय मिलता है। बौद्ध-धर्म के महत्त्व-पूर्ण आदर्शों को उन्होंने अपने जीवन में उतारने की साधना भी की थी। इसलिए उनकी लेखनी की अपेक्षित सजीवता इस ग्रन्थ में परिस्फुटित हुई है।

इस विशाल ग्रन्थ का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी कई स्थल ऐसे हैं, जहाँ मतभेद के लिए स्थान है। प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति की दो धाराओं की चर्चा की गई है। दो धाराएँ ब्राह्मण और श्रमण मानी गई हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समीचीन नहीं है। मूल में 'श्रमण' वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा में ही एक आश्रम था, जो परवर्ती संन्यास के समकक्ष था और इसमें वर्णाश्रम धर्म तथा कर्मकाण्ड का परित्याग आवश्यक था, क्योंकि वर्णाश्रम तथा कर्मकाण्ड का सम्बन्ध जीवन के प्रवृत्ति मार्ग—गार्हस्थ धर्म से है और श्रमण या संन्यास का सम्बन्ध जीवन के निवृत्ति मार्ग से। यही प्राचीन 'श्रमण' शब्द बौद्ध 'भिक्षु' के अर्थ में रूढ़ हो गया। किन्तु इसका सम्बन्ध न तो सम्पूर्ण समाज से था और न समस्त भारत देश से। इसलिए श्रमण वृत्ति को एक प्रकार का 'यति-धर्म' तो कह सकते हैं किन्तु एक स्वतंत्र सांस्कृतिक धारा नहीं। ब्राह्मण और श्रमण का निरोध भी पीछे का है, जिसमें वैदिक परम्परा का गृहस्थ ब्राह्मण निष्क्रिय और मुण्डित भिक्षु को अशुभ और असामाजिक मानता था; सामाजिक दृष्टि से तो संन्यासी भी मृत ही समझा जाता था। भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध-धर्म एक दार्शनिक सम्प्रदाय और एक विशिष्ट साधना का मार्ग था, स्वतन्त्र एवं अपने में परिपूर्ण सांस्कृतिक धारा नहीं। यही कारण है कि इसकी पृथक् सामाजिक स्थिति न होने से यह मध्ययुग में अपने मूल स्रोत में विलीन हो गया; केवल बाहर के देशों में ही स्थानीय भिन्नताओं और विशेषताओं के साथ वह सम्प्रदाय रूप से जीवित रहा।

दूसरे अध्याय में 'बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता' का प्रतिपादन किया गया है। प्रायः यह मानना परिपाटी-सी बन गई है कि बुद्धपूर्व वैदिक धर्म में सार्वभौमिक तत्त्व नहीं थे, जिनकी पूर्ति बुद्ध ने की। जहाँ तक सामान्य नैतिक धर्म और मोक्ष का सम्बन्ध है वैदिक धर्म में इनका द्वार सदा और सभी के लिए मुक्त था। विशिष्ट धर्म का सम्बन्ध वर्णाश्रम से था, जो अधिकार-भेद पर आधारित था। यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध ने सामान्य धर्म पर अधिक बल दिया, जो उनके समय में उपेक्षित हो रहा था। इसी प्रकार मध्यम मार्ग (संयम, समुच्चय अथवा समन्वय), शिक्षात्रय (शील, समाधि तथा प्रज्ञा) समुत्पादन (कार्य-कारण-परम्परा अथवा कर्म-सिद्धान्त), अष्टांगिक मार्ग (दार्शनिक तथा नैतिक सन्तुलन का मार्ग), पंचशील (प्राणातिपातविरति-अहिंसा; अदत्तादान-विरति-अस्तेय; काम-मिथ्याचार-विरति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्य; मृषावाद-विरति-सत्य तथा सुरामैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति-मादक-द्रव्य-त्याग) आदि सिद्धान्त भारतीय परम्परा में थे और उपनिषदों में इनका पूरा महत्त्व स्वीकार किया गया है। भगवान् बुद्ध के समय में यह परम्परा रूढ़ हो रही थी। इन सिद्धान्तों को लोक-भाषा द्वारा जनता तक पहुँचाने का श्रेय उनको है। ऐसा लगता है कि विभज्जवादियों की प्रधानता के कारण सम्प्रदायों के विकसित होने पर प्राचीन परम्परा से भेद महायान के उदय तक बढ़ता गया।

तृतीय अध्याय में बुद्धदेशना की भाषा पर विचार किया गया है। आचार्यजी का मत है, **"जो कुछ हो भाषा की बनावट को देखते हुए हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पड़ती है और इसके विकास में संस्कृत का अच्छा-खासा हाथ है।"** (पृ०२७ पैरा २)। यह विचार सम्भवतः वेस्टरगार्ड और कुह्न के आधार पर किया गया है, जो पालि के मूल रूप को उज्जयिनी से इस कारण से जोड़ते हैं कि सिंहल में मूल बौद्ध धर्म के प्रचार करने वाले अशोक के पुत्र महेन्द्र का जन्म उज्जयिनी में हुआ था, जहाँ की बोली वे बोलते थे। किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि महेन्द्र की माता विदिशा-राजकुमारी थी और स्वयं महेन्द्र विदिशा में रहते थे और उन्हींके आवास के लिए विदिशा (भिलसा) के पास (सम्भवतः साँची में) विहार बनवाये गए थे। इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध स्वयं शाक्य जनपद में उत्पन्न हुए थे और सबसे अधिक श्रावस्ती में निवास करते थे। पालि के इन मूल प्रवर्त्तकों के अतिरिक्त रचना की दृष्टि से भी पालि मध्यदेशीय भाषा है। प्रसार के समय पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव पड़ा। क्योंकि सिंहल में गुजरात और बंगाल से जाकर लोग बस गये थे, अतः पालि पर गुजराती और बंगाली प्रभाव भी सम्भव है।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में बौद्ध संघ के विकास और महत्त्व पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। यह अभाव भी खटकता है। परन्तु ये सब ग्रन्थ के मौलिक विषय की दृष्टि से गौण बातें हैं। वास्तव में प्रस्तुत रचना बड़े महत्त्व की और विद्वन्मण्डल में समादरणीय है।

●

दूसरी कृति डॉक्टर यदुवंशी की 'शैव मत' है।

शैव मत भारत के प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसने भारतीय मानस को अनादि काल से आज तक प्रभावित किया है। अंग्रेज़ी तथा कतिपय भारतीय भाषाओं में इस विषय पर बहुमूल्य गवेषणात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इस बात की आवश्यकता थी कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी इस प्रकार का ग्रन्थ प्रकाशित हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इस आवश्यकता की सफल पूर्ति करता है।

ग्रन्थकार ने अपने विवेच्य विषय को आठ अध्यायों और छः परिशिष्टों में बाँटा है। प्रथम अध्याय में वैदिक रुद्र के सौम्य तथा उग्र रूप का विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार उग्र रूप के प्रति भय, आशंका और प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। द्वितीय अध्याय में सिन्धुघाटी-सभ्यता के धार्मिक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है और यह स्पष्ट किया गया है कि ये तत्त्व आर्यों के धार्मिक जीवन में आत्मसात् कर लिये गए। तृतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय में ब्राह्मण-उपनिषद्-काल में उत्पन्न भक्ति-धारा से प्रभावित रुद्र के शिव रूप के विकास का विवेचन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में, वैदिकोत्तर शिव ने किस प्रकार विविध आर्येतर तत्त्वों को अपने में ग्रहण किया और इससे अनेक रूप के विविध अंगों की कैसे उत्पत्ति हुई, इस विषय पर विचार किया गया है। पंचम अध्याय में मुख्यतः शिव के पौराणिक स्वरूप और उपासना-विधि पर प्रकाश डाला गया है। साथ-ही-साथ शैव मत के प्रचार, देवालयों तथा प्रतिमाओं का भी वर्णन एवं निरूपण किया गया है। शैव से शाक्त तथा गाणपत्य मतों की कैसे उत्पत्ति हुई, इसका भी उल्लेख हुआ है। षष्ठ अध्याय में परवर्ती विविध औदीच्य तथा दाक्षिणात्य शैव सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव और परस्पर संघर्ष का इतिहास है। सप्तम अध्याय में शैवमत के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण और तुलनात्मक अध्ययन है। अष्टम अध्याय में बाहर के देशों—दक्षिण-पूर्व एशिया—में, शैव धर्म के प्रसार उसके स्मारकों का उल्लेख है। प्रथम चार परिशिष्टों में प्राचीन ग्रन्थों से मूल पाठ दिये गये हैं, शेष दो में भारतीय तथा विदेशी उत्कीर्ण लेखों से शैव मत-सम्बन्धी अवतरण उद्धृत हैं।

ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य शैव मत के धार्मिक पक्ष का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करना है, उसके गहन दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत निरूपण करना नहीं। इस सीमा के भीतर सन्देह नहीं कि लेखक ने बहुत ही सरल शैली एवं प्राञ्जल भाषा में अपने विषय का प्रतिपादन किया है। शैव मत की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अनेक मतवादों का प्रचार हुआ है, विशेषकर इसके वैदिक तथा वैदिकोत्तर और आर्य तथा आर्येतर तत्त्वों को लेकर। परस्पर-विरोधी वादों के बीच पर्याप्त संयम और सन्तुलन से काम लिया गया है। केवल भावना और तर्क का अवलम्बन न करके उपलब्ध तथ्यों के सहारे ही ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले गए हैं। किन्हीं स्थलों में इन निष्कर्षों से मतभेद हो सकता है, परन्तु लेखक की वैज्ञानिक तथा तटस्थ पद्धति से उनका मूल्य विशेष रूप से बढ़ जाता है।

किसी भी मत, वाद अथवा संस्था की उत्पत्ति, और विकास का विवेचन और निर्धारण कठिन है, क्योंकि उसका मूल स्रोत अतीत में छूट जाता है और उसके विकास-क्रम में बहुत-सी प्रासंगिक ग्रन्थियाँ आ जुटती हैं, जिसके कारण सामान्य अध्येता को पूर्वाग्रह से अपने को बचा पाना सरल नहीं। सबसे दुरूह होता है परवर्ती भेदों और कारणों का स्वरूप-निर्धारण। भारतीय दर्शन में भेदों के तीन प्रकार माने गए हैं—(१) स्वगत, (२) सजातीय और (३) विजातीय। स्वगत भेद वह है जो मूल प्रकृत रूप में ही विकास की आवश्यकताओं के कारण अपने-आपमें होता है; इसके लिए बाहरी सम्पर्क अथवा आघात की आवश्यकता नहीं होती। सजातीय भेद वह है जो एक ही मूल के विविध तत्त्वों में प्रासंगिक कारणों से उत्पन्न होता है। विजातीय भेद वह है जो मूलतः बाह्य अथवा विदेशी होता है। इसके कारण सम्पर्क, आघात और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसका परिणाम है या तो पराजय तथा आरोप अथवा आदान-प्रदान तथा समन्वय। भारतीय मतों और वादों के अध्ययन में प्रायः ऐसा हुआ है कि जहाँ भी उनमें भेद दिखाई पड़ा, तुरन्त भौगोलिक, जातीय, धार्मिक अथवा राजनीतिक, भेद की कल्पना कर ली जाती है, जो स्वगत और सजातीय विकास के पक्ष को दबाकर ऊपर आ जाती है और वर्तमान पूर्वाग्रही संघर्षों को प्रोत्सा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हित करती है। अतः तीनों प्रकार के भेदों पर जागरूक और सन्तुलित दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त भेदों के अध्ययन का एक उदाहरण पर्याप्त है। 'ऋग्वेद' में रुद्र की कल्पना और भावना की गई है। पहले उन्मेष में उनके उग्र और भयंकर रूप का वर्णन है। क्रमशः उनके शिव रूप का विकास हुआ। इसी प्रकार उनकी पूजा-पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। शैव परम्परा मूलतः वैदिक अथवा आर्य है या वैदिकेतर अथवा आर्येतर, यह प्रश्न काफी विवादग्रस्त है। विकास वैदिकोत्तर है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु रुद्र का शिव रूप स्वयं मूलतः उनमें निहित है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। प्रासंगिक प्रभाव भी पड़े हैं, इसको भी मानने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु शिव को आर्येतर मानना न तो तार्किक दृष्टि से आवश्यक है और न इनके लिए कोई प्रमाण ही है। दुरूह यज्ञों का परित्याग करके सरल पूजा-पद्धति को अपनाने के लिए भी विजातीय कारण आवश्यक नहीं, इसके लिए स्वानुभव पर आधारित परिवर्तन ही पर्याप्त है। काल-क्रम से शैव मत में परिवर्तन हुआ है और इसने बहुत से सजातीय और विजातीय तत्त्वों को भी आत्मसात् किया है, जिससे विविध स्तर के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। व्रात्यों की उत्पत्ति का प्रश्न भी शैव मत से सम्बद्ध है। 'अथर्ववेद' (मण्डल १५) में व्रात्य की विस्तृत स्तुति तथा वर्णन है। वैदिक संहिता में व्रात्य का यह उच्च स्तर ही उसके आर्य और वैदिक होने का प्रमाण है। सामान्य धारा से भेद होने मात्र से विजातीय अथवा विदेशी उत्पत्ति का मत इस भ्रान्त धारणा पर अवलम्बित है कि वैदिक धर्म एकरूपी अथवा एकरंगी था। वास्तव में वेदों में विविध एवं विभिन्न धाराओं का संकलन हुआ था, अतः उनमें एक-दूसरे के विरोधी और परस्पर विषम तत्त्व भी पाए जाते हैं। व्रात्य और आर्येतरों में अन्तर था। परम्परागत संस्कार या कर्मकाण्ड का पालन न करने से आर्य ही व्रात्य हो जाता था, जो पुनः वैदिक संस्कार व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर वैदिक समाज में प्रविष्ट होता था। आर्येतर जातीय दृष्टि से पृथक् था। किन्तु आर्य होने के लिए उसे प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी, वह क्रमशः सामाजिक समन्वय से आर्य बन जाता था। व्रात्य के अनुचरों में मागध की गणना होने से कुछ लोग व्रात्यों को पौर्वात्य समझते हैं और इस कारण से मूलतः उनको आर्येतर मानते हैं। परन्तु मागध प्रारम्भ में ही मगध में रहते थे अथवा उनके बसने के कारण मगध नाम पड़ा, यह कहना कठिन है। प्रायः 'जन' के बसने से ही मूल जनपदों के नाम पड़े, पीछे जनपदों से जनपद की परम्परा बहुत ही परवर्ती है। इसी प्रकार अन्य विवादग्रस्त समस्याओं के बारे में भी व्यापक तथा जागरूक समीक्षा वांछनीय है।

ग्रन्थकार ने शैव मत के ऐतिहासिक निरूपण में प्रायः उसके सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। मूल ग्रन्थों तथा उत्कीर्ण लेखों से अवतरण तथा बृहत्तर भारत में शैव मत के प्रसार के वर्णन के कारण इस ग्रन्थ का मूल्य और बढ़ जाता है। आशा है कि इस प्रकार के शोध-ग्रन्थों के प्रणयन से ज्ञान की वृद्धि तथा समाज में उनका आदर होगा।[1]

---

१. 'शैव मत', ले० डॉ० यदुवंशी, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
'बौद्ध धर्म-दर्शन'; ले० स्व० आचार्य नरेन्द्र देव; प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परशुराम चतुर्वेदी

सूफ़ीमत एवं सूफ़ी साहित्य का अध्ययन

सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य के अध्ययन का प्रारम्भिक रूप हमें केवल जायसी-सम्बन्धी शोध-मूलक उल्लेखों में उपलब्ध होता है। गार्सां द तासी ने तो, इस कवि की चर्चा करते समय, इसका एक नाम 'जायसीदास' भी दिया है, इसे हिन्दुई में कवित्त और दोहरों की रचना करने वाला कहा है तथा इसकी 'पदमावत' के अतिरिक्त 'सोरठ', 'परमार्थजपजी' और 'घनावत' रचनाओं के भी नाम लिये हैं। उन्होंने 'पदमावत' की कई हस्तलिखित प्रतियों के पते भी अवश्य दिये हैं, किन्तु उस रचना के विषय में कोई आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। न तो उन्होंने उसमें लक्षित होने वाली विशिष्ट बातों की समीक्षा का प्रयत्न किया है और न इस कवि के रचना-कौशल पर ही कोई प्रकाश डाला है। तासी की 'इस्त्वार' का निर्माण ईस्वी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में हुआ था और उसके द्वारा 'हिन्दुई और हिन्दुस्तानी' के ज्ञात कवियों एवं लेखकों तथा उनकी उपलब्ध रचनाओं के केवल परिचय देने का ही, कदाचित्, सर्वप्रथम प्रयास किया गया था जिस कारण उनका ध्यान किसी दूसरी ओर न जा सका। डा० ग्रियर्सन ने भी एक वैसा ही प्रयत्न अपनी पुस्तक 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान' द्वारा, सन् १८८९ ई० में किया। परन्तु उन्होंने, जायसी का प्रसंग आने पर, उसकी 'पदमावत' वाली कथा के ऐतिहासिक आधार का भी प्रश्न छेड़ दिया, उसके भाषा पक्ष पर प्रकाश डाला तथा उसे पूरा साहित्यिक महत्त्व भी प्रदान किया। उनका तो कहना था कि 'पदमावत' हिन्दी-साहित्य का वस्तुतः सबसे अधिक अध्ययन योग्य ग्रन्थ है और उस कृति का मूल्य, एक मौलिक काव्य के रूप में भी, कुछ कम नहीं है। फिर भी डॉ० ग्रियर्सन ने उसकी विशेषताओं पर अधिक विचार नहीं किया और न उन्हें उसके तुलनात्मक अध्ययन की ही कोई आवश्यकता प्रतीत हुई।

जायसी के विषय में विशेष विस्तार के साथ लिखने का प्रयत्न, पहले-पहल बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण का लगभग अन्त होते समय किया गया। स्वर्गीय शुक्ल जी ने, सन् १९२४ ई० में, 'जायसी-ग्रन्थावली' का सम्पादन किया और उसके लिए 'भूमिका' लिखते समय, उन्होंने केवल जायसी के जीवन-वृत्त, 'पदमावत' के शुद्ध पाठ, कथानक, प्रबन्ध-कल्पना, काव्य-सौन्दर्य एवं भाषा आदि पर विशेष रूप में प्रकाश डाला, अपितु इसी प्रसंग में, उन्होंने इस काव्य-ग्रन्थ को, शेख कुतबन-जैसे सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं के साथ एक विशिष्ट वर्ग में स्थान देकर भी, परखने की चेष्टा की। फलतः, इसके अनन्तर, हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में प्रेमाख्यान के विषय को भी क्रमशः अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा और कहीं-कहीं इसके लिए एक नवीन प्रकरण की योजना तक आरम्भ कर दी गई। तदनुसार, नई खोजों के परिणामस्वरूप, इसके व्यापक अध्ययन की ओर भी हमारी प्रवृत्ति जगी और क्रमशः इस बात के स्पष्ट होने में भी देर न लगी कि लगभग एक-जैसी रचनाओं की एक लम्बी-सी परम्परा, जायसी के पूर्व से लेकर उसके पीछे तक भी, बराबर चली आई है तथा उसमें सूफ़ी प्रेमगाथाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी रचनाएँ सम्मिलित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जा सकती हैं जिनके रचयिताओं का सूफ़ी सम्प्रदाय के साथ कदाचित् किसी प्रकार का भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय इधर स्वयं सूफ़ी प्रेमगाथाओं के भी वर्ग की बहुत-सी ऐसी रचनाएँ मिलती जा रही हैं जिनका निर्माण दखिनी हिन्दी में किया गया है तथा जिनकी रचना-शैली में अधिक-से-अधिक फ़ारसी-साहित्य के आदर्श एवं परम्परा का अनुसरण लक्षित होता है।

इसी प्रकार, जायसी की 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तथा बहुत-से अन्य सूफ़ी कवियों की भी फुटकर रचनाओं के प्रकाश में आते जाने के कारण, इधर हमारा ध्यान अनेक ऐसी कृतियों के अध्ययन की ओर भी जाने लगा है जिन्हें प्रेम-गाथा नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिनके अनुशीलन द्वारा हमें सूफ़ियों के प्रेम-तत्त्व-विषयक सिद्धान्त एवं साधना का ज्ञान, प्रचुर मात्रा में, उपलब्ध हो सकता है। फलतः डा० लक्ष्मीधर शास्त्री ने शाहवर्कतउल्लाह की रचना 'प्रेम प्रकाश' का गम्भीर अध्ययन करके उसके आधार पर 'हिन्दी-साहित्य के लिए शाहवर्कतउल्लाह की देन' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया है जिससे इस धारणा को पुष्टि भी मिलती है कि हिन्दी के सूफ़ी-साहित्य का सम्यक् अध्ययन केवल प्रेमगाथाओं पर ही आश्रित नहीं रखा जा सकता। अतएव, जो अध्ययन पहले अकेले जायसी-विषयक परिचयात्मक उल्लेखों से ही आरम्भ हुआ था उसका बहुमुखी विकास हो चुका है तथा उसके वैसे प्रायः प्रत्येक अंग पर पृथक्-पृथक् भी ध्यान दिया जाने लगा है और स्वयं जायसी-सम्बन्धी अनुशीलन में भी कहीं अधिक व्यापकता एवं गम्भीरता आ गई है।

'पदमावत का काव्य-सौन्दर्य' सूफ़ी कवि जायसी की प्रसिद्ध प्रेमगाथात्मक रचना का 'अपने ढंग का पहला विस्तृत अध्ययन' है। 'विषय निर्देशिका' के अनुसार यह क्रमशः 'कथावस्तु का संघटन', 'रूप सौन्दर्य और अप्रस्तुत विधान', 'प्रकृति वर्णन का सौन्दर्य', 'रहस्यवाद का सौन्दर्य', 'पदमावत की सांकेतिकता', 'भाषा-सौन्दर्य', 'छन्द-विधान', 'चरित्र-चित्रण', 'सामाजिक स्थिति' एवं 'प्रेम का आदर्श' नामक शीर्षकों में प्रस्तुत किया गया है। ये शीर्षक उन दस प्रमुख अध्यायों का भी नाम निर्देश करते हैं जिनमें पुस्तक विभाजित की गई है और इनमें से प्रत्येक में एक से अधिक उपशीर्षकों का भी समावेश कर दिया गया है। पुस्तक के ग्यारहवें अथवा अन्तिम अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने 'पदमावत' में पाये जाने वाले कतिपय दोषों का दिग्दर्शन कराया है तथा उसीमें एक 'उपसंहार' देकर, उसके द्वारा उसने अपने वास्तविक वक्तव्य का सारांश दे देने की भी चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने पुस्तक के आरम्भ में एक पाँच पृष्ठों का 'आमुख' भी जोड़ दिया है, जिसमें प्रधानतः 'पदमावत' के विषय में अध्यावधि किये गए अध्ययन की एक रूपरेखा आ जाती है। इसी प्रकार पुस्तक के अन्त में दिया गया 'परिशिष्ट' 'भाषा सौन्दर्य' वाले अध्याय के लिए एक पूरक का काम करता है। पुस्तक वस्तुतः 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की एम० ए० परीक्षा के दो प्रश्न पत्रों के स्थान पर लिखे गए प्रबन्ध का प्रकाशित रूप' है इससे स्पष्ट है कि यह बड़े परिश्रम और मनोयोग पूर्वक लिखी गई है। इसमें 'पदमावत' के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन अनेक दृष्टियों से बड़े विशद रूप में किया गया है और लेखक का प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक का लेखक 'पद्मावत' को कमल 'एक महान् साहित्यिक कृति'-मात्र के ही रूप में देखना चाहता है, जिसमें **"अनेक लौकिक तथा साहित्यिक काव्य-रूढ़ियों के प्रयोगों द्वारा सौंदर्य-वर्धन किया गया है"**; और उसका बिना किसी हिचक के कहना है कि **"उसमें सर्वत्र कवि-कल्पना और सम्भावना का काव्य-सौंदर्य ही दर्शनीय है।"** उसने इसीलिए इस काव्य-ग्रन्थ की कहानी की ऐतिहासिकता पर विचार करने अथवा इसे सूफ़ी धर्म के प्रचार का साधन ठहराने का भी घोर विरोध किया है। उसकी दृष्टि में 'पद्मावत' के सम्बन्ध में इस प्रकार की चेष्टा करना उसके प्रति अन्याय करना कहा जा सकता है। उसने इस बात को कई स्थलों पर दोहराया है—जैसे, **"उसकी ऐतिहासिक चीर-फाड़ बन्द होनी चाहिए"** (पृ० २४)। **"इतिहास का स्वर अब सर्वथा बन्द होना चाहिए और काव्य सौंदर्य का रसास्वादन अत्यावश्यक है"** (पृ० २६)। **"ऐतिहासिकता और भौगोलिकता का यह स्वर बन्द होना चाहिए"** (पृ० ११४)। **'ऐतिहासिक चीर-फाड़ करके इसे अनैतिहासिक घोषित करना इसके प्रति अन्याय होगा"** (पृ० २३२)। तथा इसी प्रकार, **"उसका सम्पूर्ण सौंदर्य काव्यात्मक है, धर्म-प्रचारात्मक नहीं"** (पृ० १२८)। और **"इतिहास, धार्मिक सिद्धान्त या किसी रूपक रूप का आरोप उसके प्रति अन्याय होगा। उसका सम्पूर्ण सौंदर्य काव्य का है"** (पृ० १३१) इत्यादि। लेखक ने इसके लिए एक प्रमुख कारण यह दिया है कि जायसी ने 'सम्पूर्ण पद्मावत में' 'अपने कवि होने का उल्लेख डंके की चोट पर' किया है तथा यह रचना **"कवि मुहम्मद जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।"** (पृ० २५ और १३१) और इसका समर्थन उसने, जायसी द्वारा अपने को कवि कहने से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पंक्तियों को उद्धृत करके किया है।

कहना न होगा कि लेखक ने अपने कथन पर कदाचित् आवश्यकता से अधिक बल दिया है, जिसके कारण उसकी भाषा कहीं-कहीं आदेशात्मक और आवेशपूर्ण भी हो गई है। कोई कवि यदि अपने प्रबन्ध-काव्य के पात्रों को ऐतिहासिक नाम देता है तथा उसके स्थल-विशेष वा घटना विशेष की चर्चा ऐतिहासिक तथ्य के अनुरूप करता दीख पड़ता है तो उसमें ऐतिहासिक बातों की संगति का पता लगाने वाला आलोचक हठात् अपराधी ही नहीं ठहराया जा सकता और न किसी आलोच्य ग्रन्थ में पाई गई अतैतिहासिकता के कारण उसका साहित्यिक मूल्य ही कम कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार 'पद्मावत' को सूफ़ी धर्म के प्रचारार्थ निर्मित की गई रचना कह देने-मात्र से ही उसका महत्त्व, अनिवार्यतः, कम नहीं हो जाता। यह बात प्रायः निर्विवाद रूप में स्वीकार कर ली जाती है कि 'पद्मावत' की रचना, सूफ़ी प्रेम-गाथाओं की उस परम्परा के ही अनुसार की गई है, जो जायसी के पूर्व से आरम्भ होकर, पीछे तक चली आई है। उन रचनाओं के कवियों ने एक विशिष्ट रचना-शैली का प्रयोग किया है तथा कभी-कभी उन्होंने उनकी प्रेम-कहानियों के 'रहस्य' का उद्घाटन तक किया है और यह भी स्पष्ट है कि स्वयं जायसी ने भी 'पद्मावत' के कई स्थलों पर उसकी कहानी पर अलौकिकता का रंग चढ़ाने की चेष्टा की है। ऐसी दशा में क्या इस बात की सम्भावना नहीं कि अपनी इस प्रेम-गाथा की रचना का उद्देश्य जायसी ने धर्म-प्रचार भी रखा होगा। यदि गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' उनके, 'स्वांतःसुखाय' निर्मित होते हुए भी, 'सुरसरि सम सब कँह हित', करने वाला बन सकता है तो 'जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति' वाले 'पद्मावत' के लिए भी हम क्यों नहीं कह सकते कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस सूफी साधक की ओर से दिये गए धार्मिक सन्देशों का वाहक भी होगा। इसके लिए उन्हें 'साम्प्रदायिकता' का प्रचार करने वाला भी ठहराना आवश्यक नहीं और न केवल इसीके कारण हम उनके काव्य-कौशल की उपेक्षा ही कर सकते हैं। यों तो, 'पद्मावत' की कतिपय पंक्तियों के आधार पर उन्हें कट्टर मुसलमान तक कह डालने का प्रयत्न किया जाता है और उनमें से दो निम्न लिखित हैं :

जगत वसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नाँउ ओहि लीन्हे॥
जेइ नहिं लीन्ह जरम सो नाऊँ। ताकहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ॥

लेखक की आवेशपूर्ण कथन-शैली के उदाहरण, इस पुस्तक के अन्तर्गत, कई अन्य स्थलों पर भी मिल सकते हैं। इसमें एक ही बात को अनेक जगहों पर, लगभग एक ही प्रकार के शब्दों में, दोहराया भी गया है; जिसे कदाचित् किसी विषय पर आवश्यकता से अधिक बल देना कहा जायगा, जैसे, पृष्ठ ११ पर 'सिंहलदीप पद्मिनी रानी' आदि 'पद्मावत' की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए, जो-कुछ कहा गया है उसका, उसी प्रकार एक बार फिर उद्धरण देकर, पृष्ठ २३ पर भी कथन किया गया है और इस वर्णन-शैली के अन्य कुछ उदाहरण, पृष्ठ १३८, १५९, १६२ आदि की तुलना करने पर भी, मिल सकेंगे। इसी प्रकार लेखक ने, पृष्ठ १९ और २१ पर, जो अमीर खुसरो की मसनवी 'दिवल रानी-खिज्र खाँ' की कथावस्तु को 'ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण' बतलाया है वह भी बहुत-कुछ भ्रमात्मक है। क्योंकि स्वयं खुसरो के ही अनुसार, **एक दासी ने लिखी हुई कहानी मुझे लाकर दी। मैंने विशेष परिश्रम से यह कहानी लिखी।"** मात्र पता चलता है (दे० 'ख० का० भारत' पृ० १७१)। इसके सिवाय लेखक का पृष्ठ १७७ पर यूसुफ को मजनूँ एवं फरहाद के सदृश, 'साधारण श्रेणी का नायक, बतलाना भी उचित नहीं प्रतीत होता। यूसुफ हजरत याकूब के प्रिय पुत्र थे और पीछे वे भी वन्दनीय नबी लोगों में ही गिने गए थे तथा उनकी कथा 'कुरानशरीफ' के १२वें पारे (सूरे यूसुफ) में पूरे विस्तार के साथ दी गई है। फिर पुस्तक के पृष्ठ १६ पर '१५४०' का '१९४०', पृ० ४५ पर 'साथ' का 'साख', पृ० १८० पर 'उदात्त' का 'उदास' और पृ०२२२ पर 'हिजानी' का 'हिसाबी' हो गया है; जो प्रेस की भूलों के कारण सम्भव है। किंतु जहाँ, 'कडवक' का परिचय देते समय **"अपभ्रंश के कवि अरिल्ल या यज्झटिका छन्द की कई पंक्तियाँ देने के पश्चात् ध्रुवक के रूप में एक द्विपंक्तिबद्ध छन्द दे दिया करते थे। इस पूरे शब्द को कड़वक कहते थे।"** (पृ० १६२)। कहा गया मिलता है वहाँ 'शब्द' शब्द को किसकी जगह छप गया मान लिया जाय, जल्दी स्पष्ट नहीं हो पाता।

फिर भी ऐसी त्रुटियाँ पुस्तक के मुख्य विषय 'पद्मावत' के काव्य-सौंदर्य-प्रदर्शन को सीधी प्रभावित करती नहीं जान पड़तीं। जो-कुछ अभीष्ट और प्रतिपाद्य है उसका वर्णन लेखक ने न केवल विस्तार के साथ, अपितु अच्छे ढंग से भी, किया है और यद्यपि उसके द्वारा सौंदर्य की दृष्टि से उद्धृत किये गए प्रत्येक उदाहरण के औचित्य के विषय में, सभी पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते तो भी इतना कहना सत्य से दूर न होगा कि इसमें उसे बहुत-कुछ सफलता मिली है।

'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य' नामक पुस्तक लखनऊ-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखित निबन्ध का प्रकाशित रूप है। इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय उन सूफी कवियों की रचनाओं का विशेष अध्ययन है, जिन्होंने जायसी के अनंतर, प्रेम-गाथाओं तथा स्फुट काव्यों के रूप में, लिखा था। जैसा इसके पहले कहा जा चुका है सूफियों की प्रेम-गाथा-परम्परा की ओर हमारा ध्यान, सर्वप्रथम, कदाचित् स्व० शुक्लजी ने आकृष्ट किया था और उन्होंने अपनी 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में पीछे ऐसी अनेक रचनाओं का कुछ-न-कुछ परिचय देने का भी प्रयत्न किया था। उन्होंने उस समय तक उपलब्ध सूफी-प्रेमाख्यानों के आधार पर शेख कुतबन की मृगावती (सन् १५०१ ई०) से लेकर शेख उसमान की 'चित्रावली' (सन् १६१३ ई०) तक का परिचय कुछ विस्तार के साथ दिया था और शेख नबी की रचना 'ज्ञान दीप' (सन् १६१९ ई०), कासिम शाह की 'हंसजवाहिर' (सन् १७३६ ई०), नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' (सन १७४४ ई०) और फाजिल शाह की 'प्रेम रतन' की प्रायः चर्चा-मात्र ही कर दी थी तथा उसके साथ ही उन्होंने यह भी कथन कर दिया था कि **"शेख नबी से प्रेम-गाथा-परम्परा समाप्त समझनी चाहिए।"** परन्तु पीछे की गई खोजों के अनुसार जब ऐसी रचनाओं की संख्या में वृद्धि होती चली गई तो पता चला कि यह समय कवि नसीर के प्रेमाख्यान 'प्रेमदर्पण' (सन् १९१७ ई०) तक भी लाया जा सकता है और आलोच्य पुस्तक की लेखिका ने अपना प्रस्तुत निबन्ध, केवल ऐसी ही धारणा के आधार पर, तैयार किया है। इसके सिवाय इस पुस्तक की लेखिका ने इसमें अनेक ऐसी सूफी रचनाओं का भी एक अध्ययन सम्मिलित कर दिया है जिन्हें हम प्रेम-गाथा नाम नहीं दे सकते, किंतु जिन्हें सूफी कवियों की विचार-धारा अथवा मत समझने का हम एक बहुत उपयुक्त साधन ठहरा सकते हैं।

पुस्तक में दी गई 'विषय-सूची' के अनुसार इसमें पन्द्रह अध्याय हैं (यद्यपि मूल ग्रन्थ में भूल से अध्याय '३' की जगह '४' देकर फिर आगे भी उसकी क्रमिक संख्याएँ '१६' तक पहुँचा दी गई हैं) और, इस प्रकार, लेखिका ने वर्ण्य विषय को विविध खण्डों में विभाजित करके लिखा है। 'विषय-सूची' में फिर लगभग प्रत्येक खण्ड को, एक से अधिक विभिन्न प्रकरणों में भी विभाजित करके, दिखलाया गया है; किन्तु मूल ग्रन्थ के 'दशम अध्याय' तक ये सभी फिर नियमित रूप से दिये नहीं गए हैं और कहीं-कहीं पर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसको किस जगह से आरम्भ हुआ समझा जाय। 'षष्ठ अध्याय' में जो छः प्रकरणों के नाम, 'विषय सूची' में, लिखे हैं उनमें से तो कोई भी एक, मूल ग्रन्थ में शीर्षक बनकर, नहीं आ सका है। इसी प्रकार पुस्तक के शीर्षक वाले अंश 'हिन्दी सूफ़ी-कवि और काव्य' से जहाँ पता चलता है कि लेखिका ने उसके अन्तर्गत प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त स्फुट काव्यों की भी चर्चा की होगी वहाँ कतिपय अध्यायों के शीर्षकों से यह भ्रम होने लगता है कि 'सूफ़ी' एवं 'सूफी काव्य' शब्दों से कहीं उसका अभिप्राय केवल क्रमशः प्रेमाख्यानों के ही कवि एवं काव्य से न रहा हो। उदाहरण के लिए 'पंचम', 'षष्ठ', 'एकादश', 'द्वादश' एवं 'चतुर्दश' अध्यायों में वस्तुतः प्रेमाख्यान-साहित्य की ही चर्चा आई है, किन्तु उनके शीर्षकों के नाम अधिक व्यापक अर्थ वाले जान पड़ते हैं। इसके सिवाय 'त्रयोदश अध्याय' में जहाँ सूफ़ियों के स्फुट साहित्य का वर्णन किया गया है वहाँ वस्तुतः 'चतुर्थ अध्याय' के चौथे प्रकरण को ही अधिक विस्तार दे दिया गया जान पड़ता है और वह भी आलोचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक बनकर ही रह गया है। लेखिका को चाहिए था कि वह, सूफ़ी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों की उपलब्ध मुक्तक-रचनाओं के आधार पर भी, उनकी कवित्व-शक्ति के मूल्यांकन का प्रयत्न करती अथवा कम-से-कम उनकी विशेषताओं की ही समीक्षा करती ।

पुस्तक की रचना के उद्देश्य, उसके विषय-क्षेत्र की सीमा तथा उसमें दिये गए प्रकरणों की एक संक्षिप्त चर्चा पहले 'प्राक्कथन' में ही कर दी गई है। उससे पता चलता है कि लेखिका ने 'सूफ़ी-साहित्य की परम्परा के अध्ययन' को अपने निबन्ध का विषय बनाया है। इस प्रकार 'सूफी-काव्य' एवं 'सूफी-साहित्य' समानार्थक-से बन गए हैं, और कदाचित् इसी-लिए लेखिका ने पुस्तक के 'त्रयोदश अध्याय' का नामकरण भी 'सूफ़ियों का स्फुट साहित्य' रूप में किया है तथा उसमें सभी प्रकार के ग्रन्थों की चर्चा कर दी है। किन्तु यह भी, सम्भव है, कि लेखिका ने सूफ़ियों के स्फुट साहित्य में काव्यत्व का कोई उदाहरण ही न पाया हो। पुस्तक के 'पञ्चदश अध्याय' में, प्रत्यक्षतः, केवल सूफ़ी-प्रेम-गाथाओं का ही 'विशिष्ट अध्ययन' किया गया जान पड़ता है, किन्तु उसका शीर्षक 'प्रमुख कवि और काव्य' है। यहाँ पर भी लेखिका का प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत शाह वजफ़ अली सलोनी की रचना 'प्रेम चिनगारी' की चर्चा करना वैसा उपयुक्त नहीं जँचता। यदि लेखिका ने इसके अन्तर्गत मौलाना रूमी की दो मसनवियों के आ जाने के ही कारण इसे प्रेमाख्यान मान लिया हो तो उस दशा में या तो 'मसनवी' और 'प्रेमाख्यान' दोनों शब्द समानार्थक कहे जा सकते हैं अथवा 'प्रेमा-ख्यान' की ही कोई ऐसी व्यापक परिभाषा देनी पड़ सकती है जिसमें प्रेम-सम्बन्धी कोई भी प्रसंग सम्मिलित कर लिया जा सके। इसके सिवाय इस अध्याय के अन्तर्गत कतिपय ऐसे प्रेमाख्यानों की भी चर्चा आ गई है जिन्हें एक साथ ही 'सूफ़ी प्रेमाख्यान' भी कहना ठीक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'मोहिनी' (पृ० ३९९), 'नल दमयन्ती' (पृ० ४००-१), 'लैला मजनूँ' (पृ० ४०१-२), 'कलावती' (पृ० ४०२-३) आदि, जिनके विषय में स्वयं लेखिका ने भी यथास्थल संकेत कर दिया है। 'अज्ञात' कवि की 'कामरूप की कथा' की भी कम-से-कम यह एक विशेषता दीख पड़ती है कि उसमें दखिनी हिन्दी वाली ऐसी रचनाओं की भाँति फ़ारसी बहरों का प्रयोग किया गया है।

फिर भी जहाँ तक उपलब्ध सामग्री के अध्ययन तथा उसके आधार पर निबन्ध के प्रस्तुत करने का प्रश्न है लेखिका ने उसे बड़ी योग्यता के साथ पूरा किया है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में सूफ़ी मत के आविर्भाव एवं विकास का वर्णन करके, उसके द्वितीय अध्याय से, प्रायः सभी उल्लेखनीय बातों के समर्थन में, भरसक उद्धरण दिये गए हैं; जो प्रचुर मात्रा में हैं और जिनकी एक विशेषता यह है कि वे अधिकतर हिन्दी के सूफ़ी-कवियों की रचनाओं से ही लिये गए हैं। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में क्रमशः 'सूफी दर्शन' एवं 'सूफी-साधना' का परिचय केवल बाहरी ग्रन्थों के आधार पर भी दिया जा सकता था, किन्तु लेखिका ने उसके लिए प्रायः सभी प्रमाण अपने अध्ययन वाले प्रेमाख्यानों से ही, उद्धृत किये हैं। यदि यहाँ हिन्दी-सूफ़ी कवियों के फुटकर काव्य-ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया होता तो और भी उत्तम कहा जाता और वह कदाचित् अधिक उपयुक्त भी होता। लेखिका ने पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में प्रमुख सूफ़ी-कवियों की प्रबन्ध-रचनाओं का अध्ययन विशेष विस्तार के साथ उपस्थित किया है। वहाँ पर उसके प्रत्येक ऐसे कवि का, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ-न-कुछ परिचय दिया है, उसकी रचना में आई हुई कहानी का सारांश दे दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा फिर आगे, उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए, उन पर अपना एक आलोचनात्मक वक्तव्य भी जोड़ दिया है जिससे वर्ण्य विषय के मूल्यांकन में अच्छी सहायता मिल सकती है। पुस्तक का यह अध्याय स्वभावतः सबसे बड़ा हो गया है और इसके लिखने में विशेष परिश्रम भी किया गया दीख पड़ता है। जिस प्रकार यहाँ प्रबन्धात्मक रचनाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उस ढंग से यदि 'त्रयोदश अध्याय' के स्फुट साहित्य पर भी आलोचनात्मक विचार होता तो और भी अच्छा होता।

पुस्तक में, एकाध स्थलों पर, कुछ भ्रमात्मक बातें भी छप गई जान पड़ती हैं, जिनका संशोधन अपेक्षित है। उदाहरण के लिए पृ० १३५ पर शेख इब्राहीम फ़रीद को **'पन्द्रहवीं शताब्दी'** का **"सर्व प्रथमपंजाबी में लिखना आरम्भ'** करने वाला कहा गया है, पृ० १४१ पर उसका मृत्यु-संवत् "६१०" लिखा है तथा पृष्ठ ३०२ पर उसीके विषय में कहा गया है **"डॉ० मेकालिफ़ ने.....इनकी मृत्यु २१वीं रज्जब हिजरी १५६० अर्थात् सन् १५३ में निश्चित की है।"** परन्तु वास्तव में मेकालिफ़ ने अपनी पुस्तक 'दि सिखरिलिजन' (भा० ६) के पृ० ३५७-८ पर शेख फ़रीद की चर्चा करते समय, उसकी मृत्यु का, हिजरी सन् ९६० में होना कहा है, जो सन् १५५२-३ ई० अथवा सं० १६०९ में पड़ सकता है और पंजाबी साहित्य का इतिहास लिखने वालों में से कुछ ने बाबा फ़रीद शकरगंज (सन् ११७३-१२६५ ई०) के लिए (शेख इब्राहीम के लिए नहीं) कहा है कि वे **"लहन्दी में की गई कविता के सर्व प्रथम योग्य कवि वा लहन्दी-काव्य के पिता"** तक थे। इसी प्रकार पृ० ३५१ पर शेख उसमान की 'चित्रावली' का रचना-काल सन् १०२२ ई० और पृ० ४३१ पर कासिमशाह की रचना 'हंस जवाहिर' का निर्माण-काल 'सन् १७९३' मुद्रित हैं, जिन्हें क्रमशः 'सन् १०२२ हिजरी' तथा 'संवत् १७९३' होना चाहिए था। यह अशुद्धि कदाचित् प्रेस की भूल के कारण भी हो गई होगी।

'सूफ़ी मत : साधना और साहित्य' किसी परीक्षा के लिए लिखित निबन्ध वा थीसिस न होकर, एक स्वतन्त्र रूप से लिखा गया अध्ययन-ग्रन्थ है, जिसके विषय में उसके लेखक का कथन है कि उसने इसमें **"सहानुभूति और श्रद्धा लेकर" "सूफ़ियों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की है।"** जायसी-साहित्य को समझने के लिए लेखक ने **"सन् १९४९ ई० के प्रारम्भ में"** सूफ़ी मत का अध्ययन शुरू किया था और यह पुस्तक उसके उसी पठन-पाठन एवं चिन्तन का परिणाम-स्वरूप है। लेखक ने इसे १७ अध्यायों में समाप्त किया है, जिनमें से प्रथम पाँच द्वारा उसने इस्लाम एवं रहस्यवाद तथा संन्यास के साथ उसके सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन करके उसके अनन्तर अरब एवं ईरान की सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डाला है और फिर इस्लाम के विभिन्न सम्प्रदायों की भी चर्चा कर दी है, प्रकृत विषय इसके आगे वाले अध्यायों में आता है, जहाँ क्रमशः सूफ़ी-मत के आविर्भाव, उसके क्रमिक विकास तथा प्रारम्भिक सूफ़ी-साधकों का परिचय दिया गया मिलता है और तत्पश्चात् सूफ़ी-सिद्धान्त, सूफ़ियों के चरम लक्ष्य एवं साधक और साधना का वर्णन भी पाया जाता है। लेखक ने फिर यहीं पर, एक अध्याय में, सूफ़ी मत का अन्य धर्मों एवं मतों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया है और इसके आगे के चार अध्यायों में भारतवर्ष में सूफ़ी मत के प्रचार तथा यहाँ के विविध सूफ़ी सम्प्रदायों का विवरण देकर फिर अन्तिम अध्याय के अन्तगत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफ़ी-साहित्य की विशेषताओं की चर्चा करते हुए, कतिपय प्रसिद्ध सूफ़ी-कवियों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख भी कर दिया गया है।

इस प्रकार इस पुस्तक के अन्तर्गत प्रायः वे सभी बातें आ जाती हैं जिन पर प्रकाश डालना इसके लेखक का अभीष्ट था और उनसे भली भाँति अवगत कराने के उद्देश्य से, उसने, भूमिका रूप में, उन कतिपय विषयों की भी अवतारणा कर दी है जिनका पूर्व ज्ञान इसके लिए आवश्यक था। लेखक के अनुसार यह गलत होगा कि सूफ़ियों को किसी इस्लाम से पृथक् संगठित सम्प्रदाय विशेष का अंग माना जाय। वे मुस्लिम समाज के अन्तर्गत थे और इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों से अलग जाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे अपने सिद्धान्तों और क्रियाओं को 'कुरान' और 'हदीस' की दृष्टि से सदा परखा भी करते थे। किन्तु वे इन मान्य ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर उतना नहीं जाते जितना उनकी आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्याख्या का आधार ग्रहण करते थे। सूफ़ियों के सिद्धान्त बहुत-कुछ व्यक्तिगत आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित हैं जिस कारण उनके विभिन्न मत-मातान्तर तक हो गए हैं। यह अवश्य है कि, सूफ़ी मत के क्रमिक विकास की एक स्थिति विशेष में, बहुत-से सूफ़ी इस्लाम से पृथक् होकर सोचते भी जान पड़ते थे, किन्तु सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ने फिर उसे भली भाँति सँभाल लिया। सूफ़ीमत का प्रचार संसार के अनेक देशों में हुआ है और सूफ़ियों को विभिन्न मतवाद वालों के सम्पर्क में आने का अवसर भी मिलता रहा है। इस कारण अपने क्रमिक विकास की दशा में उसका दूसरों द्वारा किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होना भी अनिवार्य सा रहा है। लेखक ने इस सम्बन्ध में किये गए विभिन्न विद्वानों के अनुमानों का सप्रमाण उल्लेख किया है, और उनमें से प्रायः प्रत्येक की समीक्षा करते हुए भी, उनसे अपने को तटस्थ रखा है।

जहाँ तक सूफ़ी मत के प्रमुख सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने का प्रश्न है इस पुस्तक के लेखक ने, इस सम्बन्ध में भी, अच्छी सफलता पाई है। उसने प्रत्येक बात को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और इसके लिए न केवल उसने अवतरण दिये हैं, अपितु कहीं-कहीं आवश्यक प्रसंगों का भी उल्लेख कर दिया है। सूफ़ी-साधना के विविध अंगों को समझाने के लिए सूफ़ी साधकों के जीवन की प्रमुख घटनाओं का भी प्रासंगिक उल्लेख करते चलना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सूफ़ीमत की बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण पुस्तक के बारहवें अध्याय में भी किया गया है जहाँ इसे अन्य मतों से, विभिन्न दृष्टियों के अनुसार भिन्न ठहराते हुए भी, उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित हुआ भी बतलाया गया है तथा जहाँ पर संयोगवश हमें उनके दूसरे विविध रूपों का भी ज्ञान हो जाना सम्भव है। इस प्रकार लेखक के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है और इसका परिणाम भी गम्भीर एवं ज्ञानप्रद हो सकता है। परन्तु यहाँ पर हमारा ध्यान एक अभाव की ओर भी चला जाता है। लेखक को चाहिए था कि सूफ़ी-मत के सिद्धान्तों और साधना-सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन करते समय, कहीं-न-कहीं हमें उन विशेषताओं से भी अवगत कराता जो मूल सूफ़ीमत एवं उसके भारतीय विकसित रूप की तुलना करने पर निर्दिष्ट की जा सकती हैं तथा जो लेखक के वर्तमान अध्ययन की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण भी कही जा सकती हैं। पुस्तक के तेरहवें अध्याय में, 'भारतवर्ष में सूफ़ी मत का प्रवेश तथा भारतीय परिपार्श्व में सूफ़ी मत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा शीर्षक देकर भी, जितना ध्यान इस विषय के ऐतिहासिक परिचय की ओर दिया गया है उतना उसके सैद्धान्तिक प्रतिपादन अथवा उसकी विशेषताओं के स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया । लेखक का ध्यान इस ओर न जा सकने के ही कारण, कदाचित्, पुस्तक के अन्तिम अर्थात् सूफ़ी-साहित्य वाले अध्याय को भी बहुत-कुछ अधूरा ही रह जाना पड़ गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने यहाँ पर केवल फ़ारसी-काव्य की ही चर्चा की है और हिन्दी के प्रेमाख्यान अथवा ऐसे किसी अन्य साहित्य का नाम-मात्र तक नहीं लिया है। फिर भी उसे चाहिए था कि फ़ारसी सूफ़ी-साहित्य के नाते, कम-से-कम अमीर खुसरो-जैसे भारतीय कवियों तथा उनकी रचनाओं का भी कुछ अध्ययन प्रस्तुत कर देता।

पुस्तक के अन्त में दी गई 'सहायक ग्रन्थों की सूची' से पता चलता है कि उसने अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से सहायता ली है और यह बात इसके भीतर दिये गए विविध उपयुक्त उद्धरणों द्वारा भी प्रमाणित होती है, जिसके लिए लेखक का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। लेखक ने, उपलब्ध सामग्री के आधार पर, जो परिणाम निकाले हैं उन्हें उसने अधिकतर नपे-तुले शब्दों में ही व्यक्त किया है और वह उनके द्वारा अपने को कहीं पूर्ण प्रभावित सिद्ध करता भी नहीं जान पड़ता। उसकी भाषा बहुत स्पष्ट और संयत है तथा उसकी कथन-शैली में पर्याप्त सरलता के साथ रोचकता भी लक्षित होती है।

तीनों आलोच्य पुस्तकें सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन के पृथक्-पृथक् अंगों को उदाहृत करती हैं और ये, अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन करके मनोयोग पूर्वक लिखी गईं तथा अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसार पूर्ण और पठनीय भी कही जा सकती हैं। इनकी त्रुटियाँ अधिकतर साधारण प्रकार की हैं और वे या तो बाहरी, प्रासंगिक अथवा प्रेस की भूलों के रूप में हैं, जिनके कारण इनके वास्तविक मूल्य में वैसी कमी नहीं आ सकती। इनके द्वारा सूफ़ी मत एवं सूफ़ी साहित्य के अध्ययन में निस्सन्देह श्री वृद्धि हुई है, जिस कारण इनके लेखक बधाई के पात्र हैं।[1]

शिव सहाय पाठक : 'पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य,' प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई।

डॉ० सरला शुक्ल : 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी-कवि और काव्य' प्रकाशक, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रामपूजन तिवारी : 'सूफ़ीमत : साधना और साहित्य' प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

जयवर्धन

: १ :

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार एक नवीन चेतना के प्रतीक हैं। इस नवीन चेतना में नए मूल्यों की शोध प्रबल है; और समग्र जीवन-चिन्ता को अग्रसर करना ही जैसे उपन्यास का धर्म बन गया है। जैनेन्द्र से पहले प्रेमचन्द तक का उपन्यास बहुत-कुछ वर्णनात्मक था और उसमें समाधान प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। प्रेमचन्द ने जहाँ कहानियों में वहाँ उपन्यासों में भी मध्यवर्ग, ग्राम और बदलते 'मानो' की नई समस्याओं को स्पर्श किया है, परन्तु उनकी साहित्य-चेतना संवेदनात्मक और कार्मिक थी, तात्विक नहीं। जैनेन्द्र मूलतः विचारक हैं। उन्हें विचारक-उपन्यासकार भी कहा जा सकता है। फलस्वरूप, उनके उपन्यासों में युग-चिन्तन का उत्कर्ष है, प्रश्न-ही-प्रश्न हैं, समाधान नहीं। वे जिज्ञासा को उभारते हैं और प्रश्न को खुला छोड़ देते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के अनुरूप ही उन्होंने अपने लिए नई उपन्यास-कला का भी निर्माण किया है। 'परख' से इस 'जयवर्द्धन' तक उनकी औपन्यासिक गतिविधि के लगभग तीन दशक हो जाते हैं। पिछले खेवे के उपन्यासकार जीवन-चित्रण में सक्षम थे और उनकी उपपत्तियाँ उपन्यास के अन्त में आती थीं और अधिकतः नीतिमूलक रहा करती थीं। जैनेन्द्र ने उलटी दिशा से आरम्भ किया; अर्थात् वे उपपत्तियों से जीवन-चित्रण की ओर बढ़े। कहा जा सकता है कि इससे उनके चरित्र दुर्बोध और रहस्यमय बन गए हैं और उन्हें किन्हीं अर्थों में प्राणवान नहीं कहा जा सकता। जैनेन्द्र ने उन्हें जितना व्यक्तित्व देना चाहा है, उतना ही व्यक्तित्व उन्हें मिला है। अपने बल पर वे नहीं खड़े हैं। वे 'बहुत बेचारे' हैं। यही हाल घटना-चक्र का है। जो घटता है वह स्वाभाविक नहीं, अघटित है, उदाहरण-मात्र है; क्योंकि वह सिद्धान्त के भीतर से आता है, जीवन के भीतर से नहीं। इस प्रकार वस्तु-संघटन और चरित्र-चित्रण के योगायोग को तिलांजलि देकर जैनेन्द्र ने उपन्यास को जीवन-चक्र से मुक्ति दे दी है। इससे उसे तरलता भले ही मिली हो, और नई परम्परा का निर्माण वह भले ही कर सका हो, उसकी नई सीमाएँ भी स्थापित हुई हैं। जैनेन्द्र के लिए उपन्यास जीवन-प्रयोग नहीं, विचार-योग है। उसमें मन के दाव-पेंच हैं, न-पकड़ में आने वाले 'कुछ' को पकड़ में लाने का असफल प्रयत्न है, परन्तु स्वतन्त्र और प्राणवान जीवन-चेतना के अभाव में जीवन और कला का रस उनमें भरपूर नहीं मिलता। जैसे-जैसे जैनेन्द्र उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में आगे बढ़ते गए हैं, उनकी रूक्षता बढ़ती गई है, विचार हावी होते गए हैं और मनोविश्लेषण-शास्त्र की कुञ्जियाँ ही प्रधान हो गई हैं। अप्रत्याशित और अबूझ पर स्वस्थ कला का निर्माण असंभव प्रयत्न है। उपन्यास रस का मूल उत्स है मनुष्य का मानव-भाव, उसका संवेदनात्मक 'साहज्य'। यह सहज-रस जैनेन्द्र की परवर्ती रचनाओं में क्षीण होता गया है और 'सूत्र' प्रधानता पा गए हैं। 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की यह सक्षमता-अक्षमता साफ उभर आई है।

४४० पृष्ठों के इस बृहत्-काय उपन्यास में जैनेन्द्र ने हमें क्या दिया है? क्या कथा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या चरित्र ? क्या घात-प्रतिघात ? क्या मनुष्य की सहज-स्वाभाविक भाव-भूमि ? क्या विचार ? वह कौन-सी नवीनता है जिसे लेकर जैनेन्द्र 'जयवर्द्धन' को सार्थक कर सके हैं ? जयवर्द्धन की तरह ही क्या वे भी बद्ध नहीं हैं ? इस उपन्यास में उनका कलाचेता मन क्या खुला है और कहाँ खुला है ? ये कुछ प्रश्न हैं जो 'जयवर्द्धन' समाप्त करने पर मन में उठते हैं। स्वयं जैनेन्द्र को पृष्ठभूमि में रखकर ही इन प्रश्नों का समाधान सम्भव है।

'जयवर्द्धन' की कथा को पहले लें। कथा दो स्तरों पर चलती है जिसमें एक राजनैतिक अथवा समष्टिगत है, दूसरा नितान्त व्यक्तिगत। एक का सम्बन्ध जयवर्द्धन के मन्त्री-पद-त्याग की समस्या से है और उन विचारों से है जो 'राज' को विकास का अन्तिम चरण नहीं मानते, भले ही वह लोक-तन्त्र हो, या कल्याण-राज, या राम-राज्य। यह द्वन्द्व विचार-क्षेत्र का द्वन्द्व है, जिसमें बाहर के कर्म-जगत् के राजनैतिक द्वन्द्व भी मिल गए हैं। राष्ट्रीय राजनीति की भूमि पर अनेक स्वार्थों एवं दलों के बीच जयवर्द्धन की स्थिति उलझती गई है और अन्त में उसे लगा है कि वह 'अपना' होना चाहता है तो उसे राज का त्याग आवश्यक है। फलस्वरूप वह मन्त्री-पद से अलग हो जाता है। एक प्रकार से यह उपन्यास जैनेन्द्र का दूसरा 'त्याग-पत्र' है और पहले 'त्याग-पत्र' की भाँति यहाँ भी नायक त्याग-पत्र देकर अपनी दुर्बलता को बहलाना ही चाहता है। जो हो, 'जयवर्द्धन' का आरम्भ दलीय स्वार्थों के संघर्ष से हुआ है और अन्त में जयवर्द्धन ने घोर विरोध से श्रान्त होकर पलायन का अहिंसक मार्ग ग्रहण किया है। समाधान है कि 'जयवर्द्धन' भारत की राजनीति में से निकल गए हैं। विरोधी दलों के नेता हैं आचार्य, स्वामी चिदानन्द, नाथ और लिज़ा तथा इन्द्रमोहन। आचार्य गांधीवादी हैं, स्वामी चिदानन्द भारतीयतावादी या प्रतिक्रियावादी, नाथ और लिज़ा चिदानन्द के विरोधी और अग्रगामी, इन्द्रमोहन हिंसाकर्मी व्यक्तिवादी। इस प्रकार जयवर्द्धन किसी भी दल में न बँधकर सबके लिए संकट बन गया है और उसे घेरकर पक्ष-विपक्ष स्थापित हो गए हैं। आचार्य जयवर्द्धन के प्रति विश्वस्त हैं, अतः उन्होंने ढील दे रखी है, परन्तु स्वामी चिदानन्द उन्हें अनैतिक समझते हैं और भारत के शीर्ष-पुरुष को वे अधर्मी के रूप में देखना नहीं चाहते। नाथ और लिज़ा इस प्रतिक्रियावाद के विरोधी हैं, परन्तु शासन-तन्त्र के क्षेत्र में वे लोकवाद से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं। इन्द्रमोहन आतंकवादी है, परन्तु जयवर्द्धन को वह दूर तक सहन कर सकता है। इस प्रकार राजनीति में कूट-चक्र की स्थापना हो जाती है, जो जयवर्द्धन को झकझोरकर उसे त्याग के लिए मजबूर करती है।

कथा की दूसरी भूमि व्यक्तिगत है जो जयवर्द्धन-इला के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता-अवैधता को लेकर चलती है। वास्तव में राजनैतिक द्वन्द्वों के साथ-साथ और मूल में प्रेम-चक्र ही हैं और सम्भवतः काममूलक निरोध ही राजनीति का द्वन्द्व बन गया है। इला आचार्य की कन्या है, जो माता के अभाव में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में पली है। बीस-बाईस वर्ष पहले स्वामी जी के आश्रम में ही पहली बार जयवर्द्धन का इला से परिचय हुआ था और उसकी स्मृतियाँ उसमें अब भी उसी तीव्रता से सजग हैं। स्वामी चिदानन्द के इला-सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्व से हम परिचित नहीं हैं, परन्तु उनका अतिनैतिक मन कदाचित् निरोधमूलक ही है। वे अपने से न लड़कर जयवर्द्धन पर रुष्ट हैं कि इला अविवाहित होकर भी उसके साथ रहती है। वे समझते हैं कि इला या जय को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त नहीं है, अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कि इला उनसे भागेगी नहीं। परन्तु अब अन्त में जयवर्द्धन और इला को आचार्य का अनुमोदन प्राप्त हो जाता है और स्वयं जयवर्द्धन उनके अन्तर्मन को उनके सामने खोलकर रख देता है तो वे तरल हो जाते हैं और आशीर्वादात्मक बन जाते हैं।

रहे नाथ और लिज़ा। इनमें सूत्र-संचालन लिज़ा का ही है। वह भारत की राष्ट्रीयता को अपनाकर देश-सेविका बन जाती है और स्वामी चिदानन्द के विरोध में 'जय'-पक्षी दल की नेत्री है, परन्तु धीरे-धीरे वह श्रीनाथ से दूर भी होती जाती है और जय के पास आती जाती है। राज्य-सत्ता के प्रति उसमें तीव्र आकर्षण है और व्यक्ति जय नहीं, मन्त्री जय उसका लक्ष्य है। जय के मन में उसे लेकर संघर्ष उठा है, परन्तु वह स्वयं इला के बन्धन में बँधा है। आकर्षण और विकर्षक का यह द्वन्द्व लिज़ा के द्वैधपूर्ण, मुखर और तेजस्वी चरित्र को इला की अपेक्षा अधिक आकर्षक बना देता है। इला सतवन्ती है, सीता है, परन्तु कदाचित् इसीसे उसमें मानवीय तत्त्वों की कमी हो गई है। वह त्याग, तपस्या, औदार्य, प्रेम और बलिदान की प्रतिमूर्त्ति है। उसका प्रेयसी-रूप उसके मातृत्व-रूप के नीचे दब गया है। वह जय को सम्पूर्ण रूप से अपने ऊपर ओढ़ लेना चाहती है। यही जैसे उसके नारी-जीवन की सार्थकता हो। उसे लिज़ा से द्वेष नहीं है। वह जयवर्द्धन को व्यक्ति-रूप में पाना चाहती है, राजपति-रूप में नहीं। जयवर्द्धन का विश्वास वह प्राप्त कर सकी है, जो अन्त तक बना रहता है। यही उसका सम्बल है। उपन्यास के अन्त में जयवर्द्धन उसे भी छोड़कर चला जाता है, परन्तु इससे जयवर्द्धन ही छोटा होता है, इला का तप और भी चमक उठता है।

इन्द्रमोहन का भी इला के प्रति आकर्षण है और कदाचित् इला के ही नाते जयवर्द्धन उसे प्रिय रहा है। परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में निश्चित सूत्र उद्घटित नहीं करता। जो हो, यह स्पष्ट है कि उपन्यास का केन्द्र जयवर्द्धन में नहीं है, इला में है; क्योंकि उसीको लेकर सभी प्रमुख पात्रों में मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि हुई है और उनके मोचन पर ही कथा को परिणति प्राप्त हो सकी है। आचार्य पिता हैं, इसीसे जयवर्द्धन के प्रति उनका राजनैतिक अथवा दलीय विरोध कठिन होता हुआ भी गल गया है। ऊपर से भले ही उनके लिए इला त्याज्या हो, परन्तु उनका कारावास इला और जय से उन्हें बचाने वाला कवच ही सिद्ध होता है। स्वयं जय इस बात को जानता है और इसीसे बन्दी आचार्य उसके लिए सह्य ही नहीं, वरेण्य भी हैं। समानान्तर सन्दर्भ में यही स्थिति स्वामी जी की भी है। अन्तर यह है कि वे पिता नहीं हैं, प्रेमी हैं और अपने को वरेण्य समझते हैं। फलतः उनका आक्रोश इला पर कम है, जयवर्द्धन पर वे फूट पड़े हैं। इस प्रकार त्रिकोण नहीं, षट्कोण की सृष्टि हुई है और सुलझाव यदि कोई दिखलाई देता है तो यही कि जयवर्द्धन पद से हट जाय और इला से विवाह कर ले। इससे उसके लिए निजत्व-लाभ सम्भव हो सकेगा। परन्तु इन्द्रमोहन उग्र है और इतनी दूर तक जाने के लिए वह तैयार नहीं है; क्योंकि पद-च्युत जय उसकी माप से छोटा हो जाता है। वह जय को इला के त्याग पर तैयार करता है, जिससे वह बलिदानी हो और उसका बड़प्पन बचा रहे।

समस्त ग्रन्थ में कथा और विचार के ताने-बाने इन दो भूमियों को छूते हुए उलझे-उलझे चलते हैं; क्योंकि कोई भी पात्र अपने अन्तर्मन को स्वीकार करना नहीं चाहता। फल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि विचार रोचक होते हुए भी बोझिल हैं और कथा के सूत्र अन्त तक जुड़ नहीं पाते। जैनेन्द्र सर्वज्ञ कथाकार नहीं बनना चाहते। इसीसे कथा स्वयं जितना खोलती है उतना ही वे मान लेते हैं। यह उनकी औपन्यासिक मुद्रा है। इस मुद्रा में आधुनिकता अवश्य है और मनोविश्लेषण-शास्त्र की नई मान्यताओं का समर्थन भी है, परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे हिन्दी-उपन्यास कोई महती शक्ति बन सका है। निस्सन्देह नए उपन्यास में रस की हानि ही हुई है। उसमें शिल्प, मनोविज्ञान एवं जीवन की नई गति-विधियाँ अवश्य हैं, परन्तु ये सब मिलकर भी न जीवन की समग्रता का स्थान ले सकती हैं, न औपन्यासिक रस, चरित्रों एवं घटनाओं के योगायोग की पूर्त्ति कर सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जयवर्द्धन का विचार-पक्ष प्रबल है, उसमें राजनैतिक भविष्य-चिन्तन है, या कहिये मनःकल्प (युटोपिया)। ५०-६० वर्षों बाद लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था भी अपूर्ण सिद्ध होगी और राज्य विकेन्द्रित तथा लोकधर्मी बनकर समाप्त हो जाना चाहेंगे। जयवर्द्धन का राजनैतिक व्यक्तित्व और राष्ट्रगत चिन्तन इसी नई स्वप्न-भूमि का उन्मोचन है। इस प्रकार उपन्यास की राजनैतिक समस्या निबन्धनीय है, उसे औपन्यासिक बनाना कहाँ तक उचित रहा है, यह कहना कठिन है। राजनैतिक 'थीसिस' को उपन्यास की रस-भूमि कैसे मिल सकती? फलतः चरित्र-भूमियाँ अस्पष्ट और बायवी हैं तथा कथा दीर्घसूत्री एवं जटिल है। वह कर्तृत्व में नहीं है, तर्क में है। तर्क ऊपर-ऊपर तिरता है, प्राणों को नहीं छूता। इसीसे 'जयवर्द्धन' यदि संवेदनीय नहीं है तो उसके लिए हम जैनेन्द्र को दोषी नहीं ठहरा सकते। उनकी औपन्यासिक गति-विधि इसी परिणति की सूचक है। एक तरह से वे अपनी विचारणा की बन्द गलियों में पहुँच गए हैं। जीवन के प्रति तारुण्यमयी, कुतूहली लालसा उनमें नहीं रही है। वे ताने-बाने उलझाते हैं कि सुलझाने पर वे अपूर्व लगें, परन्तु पाठकों के पल्ले गाँठें ही अधिक पड़ती हैं; क्योंकि जहाँ उलझन-चमत्कार है, वहाँ खुले मन का सौन्दर्य और रस कहाँ मिलेगा। ये सीमाएँ हैं, जो जैनेन्द्र को अपूर्व बनाती हुई भी उनकी जीवन-दृष्टि और कला-चेतना को बद्ध, रुग्ण और दांभिक बनाती हैं। यह अवश्य है कि इस पर भी वे अपने पात्रों की तरह ही निजी, आत्मिक और संग्रहणीय बन सके हैं। इसीमें उनकी ऐतिहासिकता भी है।

: २ :

'जयवर्द्धन' के आरम्भ में लेखक की कुछ पंक्तियों की जो फोटोस्टेट प्रतिलिपि छपी है, उसमें उन्होंने यह शंका प्रकट की है कि 'कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा।' उपन्यास द्रष्टा पात्र की डायरी के रूप में है, परन्तु लेखक यह मानता है कि रचना को 'विधिवत् उपन्यास' का रूप नहीं मिल सका है। इस कमी को वह प्रार्थनीय नहीं समझता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'जयवर्द्धन' को लेकर यह शंका बराबर मन में उठती रहेगी कि उसमें श्रेणीगत क्या है,—जीवनी, आत्म-कथा, उपन्यास, निबंध; इनमें वह क्या है जो 'जयवर्द्धन' नाम पा गया है। गद्य-साहित्य में ये अलग-अलग श्रेणियाँ हैं, कोटियाँ हैं, परन्तु इनकी सीमारेखाएँ निश्चित नहीं हो सकी हैं। जिसको 'विधिवत् उपन्यास' कहा जा सकता है, उसके पीछे निबंधों की प्रेरणा रही है और प्रारम्भिक उपन्यास समाज-व्यवहार-सम्बन्धी रोचक निबन्ध ही कहे जा सकते हैं। बाद में उपन्यास ने आत्मकथा की शैली भी अपनाई और अंततः चरित्र तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना-प्रवाह के वस्तुमत्तात्मक योगायोग को उपन्यास कहा गया। यह योगायोग भी किसी एक 'सूत्र' में बद्ध नहीं हो सका; क्योंकि न घटनाओं की अथ-इति है, न चरित्रों की। एक ओर एक हजार पृष्ठों का टाल्स्टाय का 'वार एण्ड पीस' उपन्यास है, दूसरी ओर ऐन्द्रे जीद की छोटी-सी रचना 'स्ट्रेट इज द गेट'। फलतः सुबद्ध और निर्बन्ध उपन्यास का विभाजन सामने आया और धीरे-धीरे उपन्यास को व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की जीवनी मान लिया गया। प्रेमचन्द ने यह घोषित किया कि भविष्य का उपन्यास 'जीवनी' होगा और जीवनी भी सामान्य नर-नारी की रहेगी। इस प्रकार उपन्यास विशृंखल एवं भिन्न-सूत्री तत्त्वों से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक एक निश्चित व्यक्तित्व की उपलब्धि कर सका और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों के समाप्त होते-होते उसका स्वरूप पर्याप्त निखर गया। परन्तु इसी समय के लगभग मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश किया और उपन्यास समग्र जीवन का चितेरा न रहकर अन्तर्मन का अन्वेषक बन गया। नए शिल्प-विधानों की आवश्यकता हुई और अंतर्मन को उद्घाटित करने के लिए पत्र, डायरी, वक्तव्य, अनेकपात्री संवेदनाओं या एक ही पात्र की अनेकसूत्री संवेदनाओं का सहारा लिया गया है। ये विधियाँ जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में अपनाई हैं और इन्हींके द्वारा उनकी रचनाएँ अंतरंगी और विचारगर्भित बन सकी हैं। जहाँ तक 'जयवर्द्धन' के शिल्प-पक्ष का प्रश्न है, वह जैनेन्द्र के मंतव्य के अनुरूप ही है। अमेरिकन पत्रकार श्री विलवर हूस्टन की २१ फरवरी २००७ संवत् से १० अप्रैल २००७ संवत् तक की डायरी के पृष्ठों का विस्तार ही उपन्यास परिकल्पित है। आलेख तथ्यगत है, परन्तु सत्य को उभारने के लिए कहीं-कहीं उसे कल्पना की मांसलता भी दी गई है, यद्यपि ऐसे प्रसंग कम आए हैं और वे उपन्यास की नीरसता को कम नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप डायरी का आलेख हिसाबी अधिक हो गया है और उसमें जीवन की दीर्घसूत्रता और व्यर्थता इतनी व्यापी है कि औपन्यासिक रस परिपक्वता नहीं पा सका है। 'जयवर्द्धन' विवरणात्मक उपन्यास है, यद्यपि विवरण मन का है, अंतरंगी है, तार्किक है। उसके पात्र आयु और कर्म दोनों में तारुण्य का अतिक्रमण कर चुके हैं। अतः उनके व्यवहार, चिन्तन और आदान-प्रदान संवेदनीय नहीं हैं। वे जैसे अपना जीवन जी चुके हैं या भीतर से चुक चुके हैं। ऐसे निःशेष पात्रों को लेकर क्या जीवन के साथ न्याय किया जा सकता है, या किया जा सका है? माना कि जगत् व्यावहारिक है, औपन्यासिक नहीं है; उसमें वह भी है जो निःशेष है और बैसाखी के बल पर चलता है, परन्तु उपन्यास में हम जीवन की यथातथ्यता नहीं चाहते, अनुरूपता चाहते हैं। यह अनुरूपता भी साहित्य-कोटि की हो, संवेदनमयी हो और संवेदनीय हो। यही 'जयवर्द्धन' की न्यूनता है। उपन्यास के पृष्ठों पर उतरने से पहले ही उसके पात्र जीवन जी चुकते हैं और अब उनके संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व पुरातन स्मृतियों तथा संकल्प-विकल्पों पर चलते हैं। वे एक महान् राष्ट्र की उत्तुंग ऊँचाइयों पर टिके रहते हैं, परन्तु उनके सुख-दुःख राष्ट्र के सुख-दुःख नहीं बन पाते। इसका फल यह होता है कि पात्रों की अंतरंगी और बहिरंगी दुनियाएँ दूर पड़ जाती हैं और उनके किसी भी प्रकार का गठबंधन संभव नहीं। पाठक के लिए यह ऊँचाई अबूझी है। वह चमत्कृति दे सकती है, रस-विभोर नहीं कर सकती। इस ऊँचाई पर न पात्रों में चरित्र का वेग रह सकता है, न घटना की तीव्रता ही अक्षुण्ण रह सकती है। सब-कुछ किताबी बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। जीवन छूट जाता है, 'मुद्रा' हाथ लगती है। 'जयवर्द्धन' में यही हुआ है।

परन्तु क्या हम इसके लिए जैनेन्द्र से शिकायत करें ? उनकी औपन्यासिक गतिविधि जानते हुए और उपन्यास के विकास की व्यापक प्रगति से परिचित होते हुए यह कहा जा सकता है कि 'जयवर्द्धन' जैनेन्द्र के अनुरूप ही हुआ है। उसमें जैनेन्द्र की तार्किकता है, सूक्ष्म आलेखन है, भाषा-वैदग्ध्य है, इन्द्रजाली वैचारिकता है, परन्तु न कथा की सरसता है, न कला की रंगीनी। बीते दिनों की स्मृति में इला द्वारा कुछ अश्रु-गीली रेखाएँ अवश्य भरी गई हैं और हूस्टन के प्रति लिजा के अप्रत्यागत, अप्रतिरोधित विस्मरण-प्रसंग में जैनेन्द्रीय भाव-स्फिोट की सरस पुनरुक्ति भी हुई है, परन्तु तर्क के मरु में ये भावुक क्षण न जाने कहाँ खो जाते हैं और कथा के टूटे धागे जोड़े नहीं जुड़ते। जैनेन्द्र अल्पसूत्री कथा को मनःविश्लेषणात्मक ऊहापोह के द्वारा अकल्पित दीर्घता दे देते हैं और धुँधली चरित्रभूमियों पर त्याग और बलिदान की तीव्र अनुभूति देना चाहते हैं। इसीसे जो स्वल्प मिलता है वह हृदय को तुष्ट नहीं कर पाता। उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में यह अतिवाद की सीमा तक नहीं पहुँचा था, क्योंकि कथा सरस हो और चरित्र विशिष्ट हों, इस पर उनकी आँख बराबर थी। परन्तु 'जयवर्द्धन' में एक-मात्र 'तथ्य' देने का आग्रह होने के कारण जीवन का 'सत्य' उनके हाथ से छन गया है, क्योंकि सत्य तथ्य को सरस और अनुभूतिपरक बनाकर ही सार्थक है। मात्र तथ्य-मात्र सत्य उपन्यासकार का उपजीव्य नहीं है, वह सुन्दरं हो, शिवं हो। 'जयवर्द्धन' में सुन्दरं कहाँ है, शिवं कहाँ है ? जैनेन्द्र कहेंगे कि सुन्दर और शिव सत्य में ही लीन हो गए हैं और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कलाकार को क्यों चिन्ता हो। परन्तु फिर विचारक और कलाकार में अंतर कहाँ रह गया ? या जो निबंधनीय है, उसे 'उपन्यास' में क्यों बाँधा गया।

जो हो, यह स्पष्ट है कि इस रचना में जैनेन्द्र जहाँ तार्किकता और विचार-गुम्फन में अद्वितीय सिद्ध हुए हैं, वहाँ घटनाओं और पात्रों में उन्होंने जगह-जगह इतनी रिक्तता छोड़ी है कि वह पाठकों की ओर से भरी ही नहीं जा सकती। यह निश्चय ही कलाकार की पराजय है। इसमें व्यंजना की अस्वीकृति नहीं है, परन्तु श्रेष्ठ कला का व्यंग्य कलाकार की प्राणवान कल्पना के द्वारा रिक्त भरता चलता है। 'जयवर्द्धन' में बड़ी-बड़ी दरारें हैं जो भरी नहीं जा सकी हैं और जिनके पीछे से नैपथ्य का स्वाँग दुर्ग्राह्य बन गया है। परन्तु लिखा जाकर 'जयवर्द्धन आज इतिहास है और वह जहाँ हिन्दी-उपन्यास के आगे प्रश्नचिह्न लगा रहा है, वहाँ उपन्यास के पाठकों के लिए एक बड़ी चुनौती भी है। पता नहीं कि स्वयं जैनेन्द्र को यह विषम स्थिति वांछनीय होगी या नहीं; क्योंकि अस्वीकार पर किसी महान् साहित्य की रचना आज भी असंभव है और भविष्यत् युगों में भी असम्भव रहेगी।

: ३ :

आधुनिक पश्चिमी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र ने जीवन के नैरंतरिक प्रवाह को उपन्यास की चहारदीवारी के भीतर बाँधना चाहा है। यह प्रवाह तरल और सतत परिवर्तनशील है, 'फ्लक्स' है; अतः उसे घटनाओं, चरित्रों और शब्दों में बाँधना कठिन है। बाँधकर जीवन से बड़ी कोई सार्थकता उसे उपन्यासकार दे सकेगा, इसमें भी लेखक का विश्वास नहीं है। उसे जीवन ही चाहिए, कोरा जीवन; अप्रतिरोधित-अप्रत्याशित जीवन; जो बहुत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ अन्तर्मन में सीमित है और रेत की तरह उँगलियों में से छन जाता है। 'जयवर्द्धन' में दैनन्दिनी वाली शिल्प-विधि को ग्रहण करके लेखक ने जीवन का उतना ही देना चाहा है जितना विलवर हूस्टन के पल्ले पड़ सका है और कोई अपने को हूस्टन पर कितना खोलता ? जय, इला, आचार्य, स्वामी, इन्द्रमोहन, नाथ और लिज़ा सभी 'बद्ध' हैं, आत्मतुष्ट हैं, संकोची हैं। हूस्टन को जितना भी मिलता है, उतना वह दे देता है, अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि और तर्क-शक्ति से अपनी उपलब्धियों की भी सींवन उधेड़कर देखता है। परन्तु जब इतने से भी काम नहीं चलता तो उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में सर्वज्ञ उपन्यासकार का कर्तृत्व उसे स्वीकार करना पड़ता है। वह सिनेमा-शिल्प अथवा चक्र-मंच की विधि का उपयोग करता है और एक ही क्षण अथवा अनेक व्यक्तियों की एक ही प्रश्न-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को देने के लिए कल्पना का उपयोग करता है। यह वह जानता है कि इसमें तटस्थ, निर्विशेष कलाकार की अक्षमता है, परन्तु सत्य की तथ्यगत एवं आन्तरिक उपलब्धि की भी अपनी सीमाएँ हैं। अन्त में लेखक का कहना है : **"ये चित्र मैंने अपनी कल्पना से लिये हैं। फिर भी कल्पना निराधार नहीं है, संग्रहीत जानकारी के बल पर बढ़ती है। और उपाय उस व्यूह और वेग को पकड़ने का है नहीं जिसमें से घटनाएँ विस्फोट की ओर बढ़ती चली गईं। किसी प्रकार रुक ही नहीं सकीं।।"** (पृ० ४१८) परन्तु जीवन की बहिर्गति(घटनाओं) के प्रति अविश्वास बीच में आ जाता है और जो घटा वह अबूझा ही बना रहता है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता पाठक को घटनाओं से उबारती नहीं, उसे त्रस्त कर देती है। वे कहते हैं : **"इस स्तब्ध अथाह के बीच घटनाएँ क्या हैं·····विचित्र लगता है, किन्तु उन्हीं में हम व्यस्त हैं।····· क्या उपलब्धि अपने भीतर इस अथाह और निस्तब्ध की अनुभूति ही है, महाशून्य में अपनी परमशून्यता की उपलब्धि। स्यात् वही है। वही, और मैं न सोचूँगा, केवल सोऊँगा।"** इस विचारणा में जीवन के प्रति उपन्यासकार की ज़िम्मेदारी का निर्वाह नहीं हो पाता और आलाप-संगति के स्थान पर झाले की निरर्थक कटुता ही पल्ले पड़ती है। सच तो यह है कि अस्तित्ववादी उपन्यासकारों की भाँति जैनेन्द्र भी अपनी मान्यताओं में चक्कर लगाते थक गए हैं और अपने उपन्यासों पर सिद्धान्त की दाम-परची लगाकर उन्होंने अपने जीवन-बोध के प्रति अन्याय ही किया है; क्योंकि जीवन सिद्धान्त से बड़ा है और परे है। बालज़ाक, दोस्तोवस्की, टाल्स्टाय और प्रेमचन्द नैतिक और सामाजिक ध्येयों को लेकर कथा लिखते हैं, परन्तु ये सूक्ष्म ध्येय उनकी कथा से निष्कर्षित किये जा सकते हैं और उन्हें पीछे डालकर कथा और चरित्र-चित्रण का रसास्वादन भी किया जा सकता है। परन्तु जैनेन्द्र दार्शनिक धारणाओं को अपनी रचनाओं का अनिवार्य तत्त्व बना लेते हैं और विचारक कथाकार पर हावी रहता है। यह स्थिति शोचनीय रहती है और इसीसे 'जयवर्द्धन' को सुरूपता के स्थान पर विद्रूपता मिली है। पुराने उपन्यास में तर्कबद्धता और एकान्विति का आग्रह था और पहले कुछ पृष्ठों में ही नायक के चरित्र और मनस्तत्त्व से हम सुपरिचित हो जाते हैं। उसकी मूल-बद्ध वासना का हमें पता चल जाता है। यह वासना प्रच्छन्न भी हो सकती है और अतिरिक्त भी बन सकती है। नये परिवेश एवं नये पात्रों के घात-प्रतिघात से नायक का अभिध्येय प्रभावित अवश्य होता है, परन्तु उपन्यासकार इस परिवर्तन की कुञ्जी हमारे हाथ में धर देता है। 'जयवर्द्धन' में पात्रों की चरित्रगत ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए जैनेन्द्र को यह परम्परित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया अपनानी पड़ी है, परन्तु वे इतनी दूर तक असूत्र बढ़ते जाते हैं कि पाठक आशंकित हो जाता है और सब-कुछ आकस्मिक लगने लगता है। एक सीमा तक अस्तित्ववादी उपन्यास में भी यह कठिनाई सामने आती है, परन्तु जहाँ अस्तित्ववादी नायक अप्रत्याशित है, क्योंकि वह शून्य पट से आरम्भ करता है और कर्म में स्वतन्त्र है, वहाँ जैनेन्द्रीय नायक इतना सिद्धान्तबद्ध है कि उसकी कर्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है और वह विस्फोटित ही हो सकता है। उसके इस विस्फोट को समझने के लिए कई भूमियों पर निरन्तर 'फ्लैश-बैक' की योजना रहती है, और जब अन्य पात्रों में भी इसी कोटि की अप्रत्याशिता और इसी प्रकार का समाधान रहता है तो एक इन्द्रजाल ही बुन जाता है। 'जयवर्द्धन' में काम-ग्रन्थियाँ राजनैतिक ग्रन्थियों में परिणत हो गई हैं और इसीलिए राजनैतिक समस्या का हल व्यक्तिगत भूमि पर होता है। अर्थात् जयवर्द्धन की च्युति ही पात्रों को उबारती है। फलतः जयवर्द्धन का त्याग महोद्देशीय बलिदान नहीं बनता, वह मन का दुर्बल समझौता-मात्र रहता है। इला से भागकर क्या जयवर्द्धन स्वयं अपने से नहीं भाग रहा है? इसमें सन्देह नहीं कि 'जयवर्द्धन' में मानस-शास्त्र का सम्पूर्ण उपयोग हुआ है और पात्रों के कार्य-कलाप अतःप्रेरित हैं, परन्तु इससे पात्रों को वही होना पड़ा है जो जैनेन्द्र ने उन्हें होने दिया है। उन्होंने भाव-जगत् की एकता को तिलाञ्जलि दे दी है और भौतिक जगत् की यथार्थता का आभास देने के लिए विभिन्न घटनाओं अथवा एक ही घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को एक ही अध्याय सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। इससे विवेच्य में नयापन अवश्य आया है, वह कुछ आकर्षक भी बन सका है, परन्तु उपन्यासकार की शताब्दि-अर्जित सुबद्धता और परिपूर्णता पर आघात हुआ है। प्रेमचन्द तक कथा में मानव-मन की अन्तर्विधियों की खोज चली है और उपन्यासकार ने यथार्थ जगत् की विविधता में भाव-जगत् की एकरूपता का सर्जन किया है और फलस्वरूप मानवीय आचरण के नियमों का उद्घाटन हुआ है। परन्तु नया उपन्यास (जिसके प्रतिनिधि जैनेन्द्र हैं) प्रज्ञा के प्रति अनास्थी है और जीवन की दुर्बोधता तथा उलझन को उसने उभारा ही है, कम नहीं किया है। इसे हम उपलब्धि समझें या क्या? माना! जीवन अबूझ है, परन्तु अबूझता में रस कहाँ है और उपन्यासकार अबूझ देना चाहेगा तो रसोपलब्धि का क्या होगा? नये उपन्यास में जिस निर्वैयक्तिकता का आग्रह है, वह भाषा की एकतानता, सामान्यता तथा वर्णनों के अभाव में परिलक्षित है; क्योंकि मर्मभेद में वर्णन कहाँ सहायक हो सकेंगे। इसीसे नया उपन्यास कैफे, होटल या घर के सामान्य कक्ष तक सिमट गया है; जिसमें परिवेश की विचित्रता अनिवार्य नहीं रह जाती। फल यह हुआ है कि जीवन की विकृति, खण्डता और विच्छिन्नता ही नये उपन्यासकार का धर्म बन गई है और उसने कला को कैमरा बना दिया है। परन्तु कैमरा भी यथार्थ की समग्रता नहीं दे सकता। उसके लिए भी सीमा-निर्धारण और दृष्टिकोण आवश्यक है तथा प्रत्येक दृष्टिकोण के पीछे 'मूल्य' की समस्या है। जैनेन्द्र के चरित्र उनके मूल्यों में बँधकर ही सामने आते हैं और उनकी कथा उनके जीवन-दर्शन की विकृति-मात्र बन जाती है; 'जयवर्द्धन' इसका प्रमाण है।

079556

पीछे हमने कहा है कि 'जयवर्द्धन' निबन्धनीय था, उपन्यासकीय नहीं। वास्तव में इस में उपन्यासकीय तत्त्व क्षीण हैं; और जैनेन्द्र के पूर्ववर्ती उपन्यासों की पुनरावृत्ति ही उनमें हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक जीवन की वैचारिक भूमि इतनी त्वरापूर्ण और जटिल है, उसका उत्तर इतना व्युत्पन्न और समीपी होना चाहिए कि उपन्यास को सूर्यनमस्कार करना पड़ रहा है और इस प्रक्रिया में उसका कलेवर क्षीण और निस्तेज होता जा रहा है। इससे उसका स्वास्थ्य बढ़ा है यह अभी नहीं कहा जा सकता। पश्चिम में सार्त्र, कमस, मारिया और आइमे-जैसे उपन्यासकार उपन्यास को छोड़कर नाटक, निबन्ध, लेख और वार्ता की ओर झुके हैं। यह कदाचित् इस अणु-युग की दुर्निवार्यता है कि उत्तर तुरन्त मिले और कला प्रयोगी, प्रगतिशील तथा ससंभ्रम हो, परन्तु नूतन और उत्तेजन के प्रति यह आग्रह क्या नये उपन्यास के बस की बात है, या इस क्षेत्र में उसकी अग्रगामिता सदैव बनी रहेगी? 'जयवर्द्धन' ऐसे ही अनेक प्रश्न उठाता है जो पश्चिमी साहित्य-जगत् में बराबर पूछे जा रहे हैं और अभी अनुत्तरित हैं।[1]

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार पुस्तकालय

१. जयवर्द्धन; लेखक—जैनेन्द्रकुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण-भारत के प्रथम हिन्दी उपन्यासकार
श्री 'आरिगपूडि'
की अनुपम मूल हिन्दी रचना

खरे-खोटे मू० ५)

दक्षिण-भारत के ग्राम्य-जीवन का अनुपम एवं सजीव
चित्रण अत्यन्त ही सरल व रोचक भाषा में।

हिन्दी-जगत् के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार
श्री गुरुदत्त की नवीन अन्यतम रचना

पन्नलता मू० ७)

सातवीं शताब्दी के भारत-खण्ड
के इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर।

*

भारती साहित्य सदन

३०/९०, कनाट सरकस, नई दिल्ली–१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079556

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

COMPILED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar